ब्रह्मविद्या विज्ञान
ईशावास्योपनिषद् : एक मौलिक चिन्तन
भाग-१
ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

ब्रह्मविद्या विज्ञान

भाग—प्रथम

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

संकलिता
विश्व भारती परिव्राजिका एम.ए.

संपादन
ब्रह्मऋता परिव्राजिका

दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मविद्या योग शोध संस्थान
सैक्टर १९-ए, चण्डीगढ़

प्रकाशक	दिव्यालोक प्रकाशन, सैक्टर १९-ए, चण्डीगढ़
मूल्य	100/-
सम्पादन	ब्रह्मऋता परिव्राजिका
द्वितीय संस्करण	बुद्ध पूर्णिमा-१९९३
प्रतियाँ	२२००
आवरण	जे० मार्टिन
मुद्रक	शकुन प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

आशीर्वचन

प्रिय विश्व भारती !

सप्रेम नित्य की शुभाशीष।

तुम्हारे परिश्रम का परिणाम तुम्हारी अभिलाषा अनुसार "ब्रह्मविद्या विज्ञान" के रूप में साकार होने जा रहा है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। इस अवसर पर मेरी अनन्त शुभ कामनाओं युक्त तुम्हें अखण्ड आशीर्वाद के साथ करुणा-निधान भगवान् से मेरी प्रतिपल की प्रार्थना है कि इसी प्रकार से तुम्हें योग्यता तथा सामर्थ्य प्रदान कर लोकहितकारी सद्साहित्य की वृद्धि में निरत रखें। मैं भी बहुत दिनों से चाहता था कि ईशोपनिषद् के माध्यम से शाश्वत सनातन धर्म के मूल सिद्धान्त जन-मानस तक पहुँचें किन्तु प्रभु के मंगलमय विधानानुसार प्रत्येक कार्य का समय निश्चित् होता है और वह तदनुसार ही पूर्ण हो पाता है। तुमने जो इन विचारों, व्याख्यानों के संकलन और लेखन में दिन-रात अथक परिश्रम किया है, उसके लिए करुणा-निधान भगवान् से प्रार्थना है कि वे अपनी करुणा से अभिसिंचित कर तुम्हें नई शक्ति, स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य प्रदान करें।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रिय ब्रह्मऋता दक्षता से तुम्हारी इस श्रमसाध्य सामग्री को सुन्दर और आकर्षक रूप में प्रकाशित कर जन-मानस तक पहुँचाने का कार्य सम्पन्न करेगी और यह ब्रह्मविद्या विज्ञान मानव-समाज में सात्त्विक सद्विचारों और संस्कारों की अभिवृद्धि में सहयोगी होगा। इसके लेखन, सम्पादन, प्रकाशन आदि कार्यों में जिन-जिन लोगों ने जिस किसी प्रकार से भी सहयोग और श्रम किया है, उन सभी के लिए मेरी अनन्त शुभकामनायुक्त अखण्ड शुभाशीष। अनन्त प्यार एवं आशीर्वाद युक्त—

तुम्हारा अपना,

विश्वात्मा बावरा

निवेदन

वैदिक विज्ञान में विचार ही संकल्प और क्रिया का मूल आधार है। जिस प्रकार का व्यक्ति विचार करता है वैसे ही उसके संकल्प और कर्म होते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि व्यक्ति वा समाज के दूषित कर्म और दूषित संकल्प उसके दूषित विचार के ही परिणाम होते हैं। यदि किसी व्यक्ति, समाज वा राष्ट्र को सुन्दर, सुव्यवस्थित तथा समुन्नत बनाना हो तो सर्वप्रथम उसके विचारों में ही समूल परिवर्तन करना होगा। सद्साहित्य ही सद्विचारों का स्रोत हुआ करता है। सद्पुरुषों की सूक्ष्मतम अनुभूति ही सद्साहित्य का कोष हुआ करती है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही विशुद्धचेत्ता महर्षियों के अन्तःकरण में आविर्भूत हुई ज्ञान-विज्ञानमयी ब्रह्मविद्या ही वैदिक साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हुई क्योंकि वह ब्रह्मविद्या दिव्यनाद के माध्यम से श्रवण की गई थी, इसलिए उसका एक नाम श्रुति भी पड़ा। बाद में उन तत्त्वद्रष्टा महर्षियों ने अपने सुने हुए ज्ञान-विज्ञान को प्रवचन के माध्यम से शिष्य-प्रशिष्यों को प्रदान किया। वह परम्परा अक्षुण्ण रूप से आज तक भी चली आ रही है। वैदिक साहित्य सद्विचारों का अनुपम कोष है। ऋषियों ने श्रुति भगवती को कामधेनु बताया है। जीवन की पूर्णता एवं अभीष्ट सिद्धि के लिए युग-युग में मननशील मनीषियों ने उस कामधेनु की उपासना कर उससे ज्ञान-विज्ञान रूपी अमृतमय दुग्ध का दोहन किया है। आज भी यदि कोई शुद्ध, सात्त्विक अन्तःकरण से श्रुति भगवती की आराधना करे तो वह भी उससे अमृतमय दुग्ध को प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

हमारा इतिहास यह बताता है कि युगों से वैदिक साहित्य ही हमारी सभ्यता, संस्कृति, धर्म और जीवन संचालन के समस्त क्षेत्रों को सद्विचारों द्वारा अनुप्राणित एवं संवर्द्धित करता आ रहा है। मानव समाज की समस्त समस्याओं तथा तद्जन्य कुण्ठाओं का समूल निराकरण करने का यदि कोई युक्तियुक्त, तर्क संगत, वैज्ञानिक, सुन्दर समाधान प्रस्तुत कर सकता है तो केवल एक वैदिक ब्रह्मविद्या विज्ञान ही।

वर्तमान की विघटनकारी, विनाशशील, भेदात्मक भावनाओं के निराकरण में ब्रह्मविद्या विज्ञान का अद्वैत सिद्धान्त ही सक्षम हो सकता है, इसके सिवा और कोई समुचित उपाय दिखाई नहीं दे रहा है। भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों ने मानव समाज को सुविधा के साधन तो प्रदान किए हैं किन्तु उसके आत्मीयता और प्रियता के सूक्ष्मतम तन्तुओं को विखण्डित करके रख दिया है। आज मानव मानव से भयभीत है। वह एक-दूसरे को सदैव सन्देह की दृष्टि से ही देखता है। खुदगर्ज़ इतना हो गया है कि वह सभी आदर्शों को ताक पर रखकर अपने माता-पिता, गुरुजन, भाई, बन्धु, सुहृदय आदि के प्रति भी सेवा, सद्भाव, सहयोगयुक्त कर्तव्य दृष्टि नहीं रखता। इन समस्त दोषों का परिहार केवल मानव समाज में आत्मीयता और प्रियता के सृजन द्वारा ही किया जा सकता है और उसके लिए सूक्ष्मतम सद्विचार, शुद्ध सात्त्विक भाव और सही दिशा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मविद्या विज्ञान की शरण लेने के सिवा

और कोई दूसरा रास्ता नहीं।

ज्ञान कभी पुराना नहीं होता, वह सदैव नित्य नवीन रहता है। उसकी उपयोगिता सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। आवश्यकता है परिस्थिति के अनुसार उसे जानने, समझने और प्रयोग करने की। इसीलिए हमारे यहाँ वैदिक विज्ञान को शाश्वत सनातन कहा जाता है, क्योंकि वह युग धर्मानुसार मानव चेतना को समुचित दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है, आवश्यकता होती है उसके अनुशीलन की। यद्यपि वर्तमान में ऐसे विशुद्धचेत्ता मनीषियों की बहुतायत नहीं है, फिर भी भारत माँ की पुनीत गोद कभी भी इस प्रकार के अनुसन्धानकर्ता महर्षियों से खाली नहीं होती। अपने तप, त्याग, संयम और साधना से चेतना की उच्चतम अवस्था में पहुँचकर उन तत्त्वद्रष्टा परमर्षियों की अनुभूत ब्रह्मविद्या के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण कर वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में मानव समाज को सद्विचारों से वे आज भी अनुप्राणित कर रहे हैं। यह "ब्रह्मविद्या विज्ञान" नामक पुस्तक ऐसे ही एक अनुसन्धान-रत तत्त्वद्रष्टा मनीषी के विचारों का संकलन है।

भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक, मनीषी, विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में शाश्वत सनातन धर्म के अद्वितीय व्याख्याता मेरे परम पूज्य आचार्यश्री १९७९ में यूरोप और अमेरिका के तत्त्व-जिज्ञासु भक्त समुदाय को अपने ज्ञान-विज्ञान द्वारा परितृप्त करते हुए कैनेडा पहुँचे। वहाँ के ब्रह्मर्षि मिशन के कार्यकर्ताओं ने वाटरलू, किचनर, सिटी ओन्टोरियो में दो मास के प्रवचन का कार्यक्रम रखा। उसके लिए मिशन की ओर से एक एपार्टमेण्ट में आचार्यश्री के आवास एवं प्रवचन की व्यवस्था की गई। चिन्तनशील जिज्ञासु साधकों की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने "ब्रह्मविद्या विज्ञान" के मूल स्रोत ईशोपनिषद् पर प्रवचन देना स्वीकार कर लिया। इस उपनिषद् के १८ मन्त्रों पर आचार्यश्री के ३० व्याख्यान हुए। इसमें समय-समय पर बहुत से वहाँ के मूल निवासी कैनेडियन भी भाग लेते रहे, जिनके कारण व्याख्यान में अंग्रेजी का अधिक प्रयोग होता रहा। आचार्यश्री के वे सभी व्याख्यान उनके प्रिय शिष्य डॉ० शिवदत्त तालवार तथा डॉ० विजय सोलंकी ने टेपरिकॉर्ड कर लिए थे। १९८० में जब मैं कैनेडा गई तो मुझे उन समस्त टेपों को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। विचार में आया कि इस अनुपम ज्ञान शक्ति को जन-मानस तक पहुँचाने के लिए पुस्तक का रूप देना चाहिए। इस अभिलाषा से प्रेरित हो मैंने उन समस्त टेपों को उतारने का काम प्रारम्भ कर दिया। काम कठिन और श्रम-साध्य था किन्तु मेरे लिए वह अत्यन्त प्रिय और रुचिकर रहा। उन दिनों में मैं आचार्यश्री के प्रिय शिष्य महेश जी नन्दा के यहाँ रह रही थी। उनकी श्रीमती मनोरमा देवी ने मेरे इस काम की पूर्ति के लिए शान्त एवं सुविधायुक्त वातावरण प्रदान किया तथा वह बड़ी श्रद्धा से मेरी हर प्रकार की सम्भाल करती रहीं। आचार्यश्री के कृपा प्रसाद से एक महीने के निरन्तर प्रयास से उनके इन विचारों को संकलित करने में मैं सफल हो पाई। व्याख्यान लम्बे थे इसलिए ईशोपनिषद् के १८ मन्त्रों पर दिए हुए विचारों का संकलन लगभग ६०० पृष्ठों में पूरा हुआ, इसलिए इसे दो भागों में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। प्रथम पन्द्रह व्याख्यानों को सुव्यवस्थित कर "ब्रह्मविद्या विज्ञान" के नाम से प्रकाशनार्थ पुनः पाण्डुलिपि तैयार की और उसे प्रिय ब्रह्मऋता को प्रकाशनार्थ सौंप दी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह अपनी कुशलता से इस सामग्री को सुचारु रूप से सम्पादित कर पुस्तक रूप से सुधीजनों तक पहुँचाएगी। इस कार्य में जिन लोगों ने, जिस किसी प्रकार से भी सहयोग दिया है, उनकी मैं

हृदय से आभारी हूँ।

पूज्य आचार्यश्री के विचार जन-मानस के लिए कितने उपयोगी हैं, वैदिक ब्रह्मविद्या विज्ञान को उन्होंने किस दृष्टि से देखा, समझा और जाना है, वर्तमान के कुण्ठाग्रस्त मानव समाज को वे किस प्रकार से विविध युक्तियों, उदाहरणों और प्रमाणों द्वारा ब्रह्मविद्या के निगूढ़ रहस्यों को कितने सरल, सरस और रोचक रूप में प्रस्तुत किया है, इसका अनुभव तो सुधी पाठकगण ही कर सकेंगे। इस विषय में मेरा कुछ भी कहना असंगत एवं अनुपयोगी ही होगा। मुझे विश्वास है कि "ब्रह्मविद्या विज्ञान" मानव मस्तिष्क को सोचने, समझने की एक नई दिशा प्रदान करेगी। पाठकगण इसके दिव्य विचार से प्रेरित हो अपने जीवन को सुपथ पर ले चलने में सक्षम होंगे। शाश्वत सनातन धर्म के सूक्ष्मतम सिद्धान्तों को सुगमता से समझने में यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी होगी, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

अन्त में मैं अपने परम पूज्य आचार्यश्री को हृदय से कोटि-कोटि धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर सम्पूर्ण सामग्री के संशोधित, परिमार्जित और सुव्यवस्थित करने में मार्गदर्शन किया। उन्हीं के कृपा प्रसाद से प्राप्त सामग्री को संकलित कर उन्हीं के चरणों में निवेदन करते हुए हृदय से बार-बार प्रार्थना करती हूँ कि इस प्रकार के कार्य सम्पादन की क्षमता प्रदान करें जिससे लोकहितकारी कार्यों में निरत रहते हुए उनका नित्य-सान्निध्य प्राप्त कर सकूँ। इसी प्रार्थना के साथ सभी की शुभेच्छु—

विश्वभारती
ब्रह्मर्षि आश्रम् ११४ हेमेंड रोड,
साऊथाल, लन्दन, यू० के०

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी संवत् २०४१
श्रीकृष्ण संवत् ५२१०

दिवंगत प्रिय अजय ढोडी (टोनी) की पुण्य स्मृति में
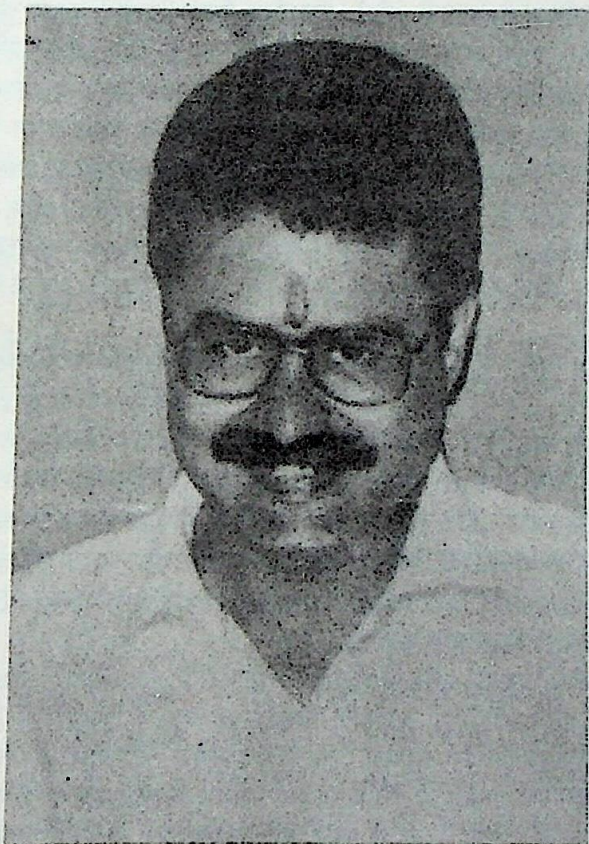
हमारे अतीव प्रिय अजय ढोडी (टोनी) (दिल्ली निवासी) का नवम्बर १९९१ में सड़क-दुर्घटना में अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। उसकी पुण्य-स्मृति में उसकी धर्म-परायणा माँ ने दिव्यालोक प्रकाशन को इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ सम्पूर्ण धन-राशि प्रदान कर सद्विचारों के प्रचार और प्रसार में जो सहयोग दिया है, उसके लिए वह हमारे साधुवाद और आशीर्वाद के पात्र हैं।

प्रभु से प्रार्थना है कि वह दिवंगत आत्मा को सद्गति तथा सम्पूर्ण परिवार को इस असह्य वेदना को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

ब्रह्मविद्या विज्ञान भाग प्रथम का द्वितीय संस्करण अपने पाठकों के हाथ में समर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। 'ब्रह्मविद्या विज्ञान' ईशोपनिषद् के गुह्यतम रहस्यों को प्रकाशित करने वाला, आज के कुण्ठाग्रस्त मानव समाज को दिशा प्रदान करने वाला तथा मानव की अविद्योपहित चेतना को ज्ञानोन्मुख करने वाला सरल, सरस एवं सारगर्भित ग्रन्थ है। परमपूज्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज जो कि आज के युग के मनीषी ही नहीं अपितु युगधर्म द्रष्टा एवं तत्त्व द्रष्टा भी हैं, उनकी तत्त्व अन्वेषणी प्रज्ञा के द्वारा वेद के जिन रहस्यों का इस ग्रन्थ में उद्घाटन हुआ है, वे सर्वथा नवीन, मौलिक तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं से परे हटकर एक ऐसी तर्कसम्मत, वैज्ञानिक विचारधारा का प्रस्तुतिकरण है जिसे पढ़कर आज का पठित समाज अवश्य ही सुन्दर और सुव्यवस्थित जीवन जीने की कला को प्राप्त कर सकेगा।

ब्रह्मविद्या विज्ञान का प्रथम संस्करण १९८४ में प्रकाशित हुआ था। इसकी छपाई का कार्यभार पूज्य श्री के प्रिय शिष्य यू० के० निवासी श्री सीताराम जी रत्न ने ले इसे जनमानस तक प्रचारित और प्रसारित करने का प्रशंसनीय कार्य किया। इसके विक्रय से प्राप्त धन-राशि से पू० श्री के अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। गत वर्ष से ब्रह्मविद्या-विज्ञान भाग प्रथम दिव्यालोक कार्यालय में समाप्त हो चुका था। पाठकों की निरन्तर माँग के फलस्वरूप इसका द्वितीय संस्करण पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम संस्करण में जो त्रुटियाँ रह गई थीं, उन्हें पुनः पढ़कर व्यवस्थित किया गया है। विश्वास है जिज्ञासु साधक इससे प्रेरणा ग्रहण कर सन्मार्ग पर चलने की दिशा प्राप्त करेंगे।

मेरे विशेष साधुवाद और आशीर्वाद के पात्र हैं दिल्ली निवासी मेरे अतीव प्रिय स्वर्गीय अजय ढोडी (टोनी) की दुःखी माँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपने अथक परिश्रम की कमाई से आर्थिक सहयोग देकर मेरी आन्तरिक अभिलाषा को साकार किया। ब्रह्मर्षि मिशन धर्मनिष्ठ दम्पत्ति को इस ज्ञानयज्ञ में सहयोग प्रदानार्थ अनन्त शुभकामनाएँ देता है तथा पुत्र शोक की असह्य वेदना को सहन करने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है। उनके धर्मप्राण स्वर्गीय प्रिय सुपुत्र 'टोनी' की आत्मा की शान्ति के लिए हम प्रभु से बार-बार प्रार्थना करते हैं। वह दिव्यात्मा जहाँ भी कहीं हो प्रभु अपने चरणों में स्थान दें, यही प्रार्थना है।

इस पुस्तक के ईक्ष्य-वाचन (प्रूफ संशोधन) में सहयोग के लिए मैं प्रिय भक्तिप्रभा की विशेष रूप से आभारी हूँ। इस पुस्तक के द्वारा अध्यात्म विद्या के आराधक यदि कुछ भी प्रेरणा एवं लाभ प्राप्त कर सकें तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगी। सभी के प्रति मंगल कामनाओं सहित—

—ब्रह्मऋता परिव्राजिका
प्रचारिका (ब्रह्मर्षि मिशन)
विराट नगर, पिंजौर
हरियाणा

ॐ

ब्रह्मविद्या विज्ञान

१

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणा-निधान भगवान् की असीम अनुकम्पा जब जीव पर होती है तो वह उनके मंगलमय विधान के अनुसार मनुष्य-शरीर को प्राप्त करता है। मनुष्य-शरीर सृष्टि का पूर्ण विकसित स्वरूप है। इसके लिए भगवान् वेदव्यास ने कहा है—**''न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्''** इस सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठ और कोई तत्त्व नहीं है। मनुष्य की श्रेष्ठता उसमें विवेक-शक्ति होने के कारण से है। पंच महाभूतों से बने हुए शरीर तो सृष्टि के समस्त जीवों के हैं। लता, गुल्म, ओषधि से लेकर कीट, पतंग, पक्षी, पशु आदि सभी के शरीर पंचभूतों के ही परिणाम हैं, किन्तु इनमें विवेक-शक्ति का अभाव है इसलिए पशु-पक्षी, कीटपतंगादि योनियों में रहने वाले जीव जीवन के कारण, जीवन के स्वरूप और जीवन के प्रयोजन को नहीं जान पाते। इन समस्त योनियों से होते हुए पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त हुआ जो जीव जिस मनुष्य-शरीर में जन्म लेता है उसमें ईश्वरीय दिव्य विधान से पूर्ण प्रज्ञा प्राप्त करने की सामर्थ्य निहित होती है और वह सौभाग्य से यदि सद्‌गुरु तथा सत्‌शास्त्र का आश्रय ले तो जीवन के स्वरूप, उसके कारण तथा उसके लक्ष्य को जानकर स्वयं को पूर्णत्व में प्रतिष्ठित कर सकता है जो इस सृष्टि-प्रवाह का सही प्रयोजन है। मैं समझता हूँ कि आप सभी बड़े भाग्यशाली और प्रभु के कृपापात्र हैं जो कि उस अनन्त की प्रेरणा से आपमें जीवन-तत्त्व को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। प्रभु के मंगलमय विधान से यह संयोग प्राप्त हुआ है कि मैं कुछ दिनों तक आप लोगों को ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित कुछ बातें बताऊँ जिससे आप लोगों के आन्तरिक जीवन का विकास होगा और बाह्य जीवन को भी सुव्यवस्थित कर पाएँगे।

सृष्टि के सम्पूर्ण मानव-इतिहास में ज्ञान का उदय सूर्य-उदय के समान ही पूर्व दिशा से हुआ है। यह बिल्कुल तर्कसंगत युक्तियुक्त तथ्य है कि सूर्य की प्रथम किरणें पृथ्वी के जिस भाग पर पड़ीं वहीं सर्वप्रथम जीवन का आविर्भाव हुआ और वहीं पर जीव क्रमशः विकसित होता हुआ सर्वप्रथम मानवीय शरीर को प्राप्त कर सका। यह सौभाग्य भूमि के जिस भाग को प्राप्त हुआ वह भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे

मानवता के सूर्य की प्रथम किरण उस पवित्र भारत-भूमि पर प्रकाशित हुई, ठीक उसी प्रकार से मानवता की सार्थकता को सिद्ध करने वाले दिव्य ज्ञानराशि वेद का आविर्भाव भी उसी पावन धराधाम पर हुआ। आज भी विश्व के समस्त पुस्तकालयों में प्राचीनतम साहित्य के रूप में वैदिक वाङ्मय की ही प्रतिष्ठा है और वेद से अधिक प्राचीन ग्रन्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमारे विश्वासानुसार, वेदविद्या सृष्टि के आदि में परम ब्रह्म परमात्मा द्वारा विशुद्धचेता, अग्रजन्मा ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकाशित की गई। वेदविद्या का प्रकाश जिन ऋषियों के अन्तःकरण में हुआ वे तत्त्वद्रष्टा कहलाए और तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने ही इस ज्ञानराशि को आने वाली मानव-जाति के लिए प्रदान किया इसीलिए इसे अपौरुषेय कहते हैं।

वेद किसी के द्वारा रचित ग्रन्थ नहीं है और न ही वेद के मन्त्र का कोई रचयिता है, ऐसा वैदिक साहित्य से जानने को मिलता है। वेद अपौरुषेय है, यह हमारी धारणा आज से नहीं, अनादि काल से चली आ रही है और इसमें मूलतः हमारा विश्वास यह कहता है कि जैसे जगत् का नियन्ता, सृष्टि का आधार परमात्मा सृष्टि की रचना करके जीवों के विकास की प्रक्रिया में मनुष्यता को जन्म देता है उसी प्रकार उसके विकसित हो पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए अथवा जीवन के विकासार्थ सुव्यवस्था की प्रक्रिया को प्रतिष्ठित करने के लिए पूर्ण ज्ञान का उपदेश भी देता है। वह ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान ही वेद के नाम से अभिहित है। वह वेद-विज्ञान ऋषियों की समाधि-अवस्था में उदय हुआ तथा दिव्यनाद के रूप में उपलब्ध हुआ अनुभूत ज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं। मैं अपने अनुभव की बात बता रहा हूँ कि जब भी कभी किसी दार्शनिक तत्त्व का अनुसन्धान करते हुए संशयात्मक बुद्धि हो जाती है वा किसी बात को समझने में बुद्धि असमर्थ हो जाती है तो उस विषय में चिन्तन बन्द करके अपने को ध्यान की उस अवस्था में ले जाता हूँ जिस अवस्था में हमारे चित्त की ग्राहिका शक्ति ऋषियों के द्वारा कथित-वर्णित ज्ञान को, जो इस आकाश-मण्डल में व्याप्त है, स्पर्श कर सके। उस अवस्था में पहुँचने पर वह तत्त्व, जिसके विषय में हमारी बुद्धि कुण्ठित-सी हुई होती है, सजग होकर उसका पूर्ण विश्लेषण प्राप्त कर लेती है। यह वर्तमान अवस्था की बात मैं आप लोगों को बता रहा हूँ। इसी प्रकार से अनादि विज्ञान इस वायु-मण्डल में, आकाश-मंडल में परिव्याप्त है, आवश्यकता है अपने चित्त को ध्यानयोग के द्वारा उस स्तर पर ले जाकर उसे ग्रहण करने की। जिस प्रकार अनेक स्टेशनों से आते हुए शब्दों को रेडियो के द्वारा या टेलीविज़न के द्वारा आप घर बैठे यन्त्र विशेष से ग्रहण कर लेते हैं और यन्त्रविशेष के द्वारा उसी स्टेशन के शब्दों को आप ग्रहण कर पाते हैं जिस स्टेशन पर आप अपने रेडियो की सुई को स्थिर करते हैं, क्योंकि उसमें संकेत-सूचक (इण्डीकेटर) लगे हुए हैं जो बताते हैं कि इस गति से आने वाले, इतने मील से आने वाले, इतने नम्बर पर यदि आप अपनी सुई स्थिर करेंगे तो अमुक

स्टेशन से शब्दों को आप ग्रहण कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार से ध्यान की अवस्था विशेष में भी यह स्थिति आती है, जिस स्तर पर जाकर उन ऋषियों के प्रज्ञा-प्रसूत ज्ञान को आप प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार मैंने आपसे बताया कि तत्त्व-विज्ञान से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने के लिए एक अवस्थाविशेष में चित्त को ले जाकर उसका अनुभव कर सकते हैं, उसको सुन सकते हैं, समझ सकते हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि के प्रारम्भ में उन तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने अपने-आपको समाधि की अवस्था में ले जाकर उस अवस्था में ईश्वरीय दिव्य ज्ञान को सुना, दिव्य नाद को ग्रहण किया और उसी को अपने शिष्यों को, पुत्रों को प्रदान किया। इसी दिव्य ज्ञान को वेद वा श्रुति कहते हैं। इसका कोई निर्माता नहीं, रचयिता नहीं।

एक बात और आप लोग समझ लें, वेद शब्द का अर्थ होता है ज्ञान और ज्ञान का कोई रचयिता नहीं हुआ, ज्ञान किसी के द्वारा रचा नहीं गया, ज्ञान किसी के द्वारा निर्मित नहीं है, ज्ञान का अनुसन्धान भी ज्ञान के द्वारा ही होता है। ज्ञान ही वह तत्त्व है जो ज्ञान और अज्ञान दोनों को प्रकाशित करता है। दुनिया में अज्ञानी से कोई ज्ञानी नहीं बना। जहाँ ज्ञानाभाव है वहाँ ज्ञान का उदय नहीं हो सकता; और यदि हम यह मान लें कि किसी में ज्ञान नहीं था लेकिन ज्ञान उदय हो गया तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह ज्ञान आदि वाला है और जो आदि वाला है उसका अन्त भी हो जाएगा। जो आदि-अन्त से युक्त है वह सीमित है, वह नाशवान् है। जो नाशवान् है वह सावयव होगा, वह निरवयव नहीं हो सकता; लेकिन दुनिया में आज दिन तक किसी ने ज्ञान को सावयव नहीं बताया; ज्ञान निरवयव है, ज्ञान नॉन-कम्पोनैंट है; वह कम्पोनैंट नहीं है इसीलिए वह अविनाशी है। जिस समय कोई व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है तो वह ज्ञान के द्वारा ही करता है। ज्ञान ही स्वयं में अपना कारण है, इसलिए ज्ञान को ईश्वरीय कहा है। ज्ञान अपौरुषेय कहा जाता है क्योंकि वह किसी के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं है और उसी दिव्य ज्ञान को, नित्य ज्ञान को वेद कहते हैं। ज्ञान की जो विभिन्नताएँ हम स्वीकार करते हैं कि यह पदार्थ-ज्ञान है, यह तत्त्व-ज्ञान है, यह रसायन-ज्ञान है, यह वस्तु-ज्ञान है आदि, ये भेद ज्ञान में नहीं हैं, ज्ञान के विषय में हैं। एक ही ज्ञान विभिन्न प्रकार के विषयों से सम्बन्धित होने पर विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। ज्ञान अनेक नहीं है। वस्तु से सम्बन्धित जो ज्ञान है वही तत्त्व से सम्बन्धित विज्ञान है, वही आत्म-तत्त्व से सम्बन्धित प्रज्ञान है। ज्ञान में देश-भेद, काल-भेद, परिस्थिति-भेद नहीं है। जिसमें देश-भेद नहीं, काल-भेद नहीं, परिस्थिति-भेद नहीं है, जो देश-काल-परिस्थिति से परे है वह ज्ञान नित्य है, अनन्त है, अखण्ड है। इसीलिए वेद को अनन्त कहते हैं **''अनन्ता वै वेदाः।''** ज्ञान किसी के द्वारा रचा हुआ नहीं है इसलिए ज्ञान को, वेद को अपौरुषेय कहते हैं। अपौरुषेय अर्थात् जो पुरुष के द्वारा न रचा गया हो। ज्ञान की महिमा स्वयं ज्ञान के द्वारा ही ज्ञात है इसलिए

ज्ञान ही ज्ञाता है, ज्ञान ही ज्ञेय है और ज्ञान ही ज्ञान है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी नहीं है। वहाँ पर जो ज्ञाता है वह भी ज्ञान है और जो ज्ञेय है वह भी ज्ञान है, ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है।

ज्ञान चेतन का धर्म है, यदि ऐसा हम कहें तो वह भी व्यवहार मात्र के लिए ही यथार्थ कहा जा सकता है। मेरे विचार से 'ज्ञान ही चेतन है' ऐसा कहना अधिक उपयोगी है। जैसे प्रकाश विद्युत् का धर्म नहीं प्रकाश ही विद्युत् है, जैसे मिठास गुड़ का धर्म नहीं मिठास ही गुड़ है, जैसे खारापन लवण का धर्म नहीं खारेपन को ही लवण कहते हैं, इसी प्रकार से ज्ञान चेतन का धर्म नहीं, चेतन ही ज्ञान है। चेतन और ज्ञान दोनों एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। जैसे चेतन अखण्ड, अनन्त, देश-काल-परिस्थिति से परे है, उसी प्रकार ज्ञान भी अखण्ड, अनन्त, देश-काल-परिस्थिति से परे है। ज्ञान में भूत ज्ञान, वर्तमान ज्ञान और भविष्य ज्ञान की कल्पना भी यथार्थ नहीं है, यह स्वीकृति-मात्र है क्योंकि ज्ञान को विभाजित नहीं किया जा सकता। विभाजन सदा उसी का होता है जो सावयव हो, कम्पोनैंट हो; किन्तु ज्ञान सावयव नहीं वह निरवयव है; वह कम्पोनैण्ट नहीं, नॉन-कम्पोनैण्ट है इसलिए उसमें काल-भेद की कल्पना व्यर्थ है। गम्भीरता से विचार करने पर यह भी बात समझ में आएगी कि काल भी स्वयं में काल्पनिक है और उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य की कल्पना भी केवल व्यावहारिक है, यथार्थ नहीं।

यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि काल सापेक्ष है; किसी पदार्थ विशेष के नाते ही उसमें भूत और भविष्य की कल्पना की जाती है। ज्ञान कोई ऐसा पदार्थ नहीं जोकि कल नहीं था, आज है और कल नहीं होगा। वह निरवयव होने से चेतन की भाँति ही शाश्वत तथा नित्य है, अतः वह काल की सीमा से परे है, अनन्त और अखण्ड होने से देश की सीमा से परे है और सदा एकरस रहने से परिस्थिति की सीमा से भी परे है। जब हम ज्ञान को किसी देश-काल-परिस्थिति से सम्बन्धित पाते हैं तो यथार्थतः वह ज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान से सम्बन्धित विषय वा पदार्थ ही देश-काल-परिस्थिति से सम्बन्धित होता है जिसको भ्रमवश हम ज्ञान में आरोपित करते हैं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जो भी देश, काल, परिस्थिति से सम्बन्धित पदार्थ है, वह सीमित है, परिवर्तनशील है, नाशवान् है इसलिए तत्त्वतः वह कोई नित्य तत्त्व नहीं है बल्कि किसी तत्त्व का परिणाम है। दूसरे शब्दों में वह मूल कारण नहीं, बल्कि कार्य है। कार्य होने के नाते ही उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य की कल्पना होती है, देश विशेष और परिस्थति विशेष की भी कल्पना होती है; किन्तु ज्ञान किसी का कार्य नहीं, वह चेतन का सहज स्वरूप है, वह शाश्वत सत्य है, इसीलिए अनन्त ज्ञानराशि वेद को हम सनातन मानते हैं। सनातन शब्द का अर्थ बहुत प्राचीन नहीं होता; इसका अर्थ होता है नित्य नवीन। अथर्ववेद का एक मन्त्र है जिसमें

सनातन शब्द की व्याख्या की गई है—

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः।।

(अथर्व० १०।४।८।२३)

जो नित्य नवीन है उसे सनातन कहते हैं। जिस प्रकार से प्रत्येक प्रभात स्वयं में नया होता है उसे सनातन कहते हैं, उसी प्रकार से नित्य नवीन तत्त्व को सनातन कहा जाता है। सनातन पुरुष का सनातन प्रकाश होने से वेद-विज्ञान को सनातन तथा अपौरुषेय कहते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का प्रवाह सनातन है—ऐसा वेद का कथन है।

दुनिया में जो कुछ दृश्य दिखाई दे रहा है वह सब सनातन है; तत्त्वतः इसका कभी अभाव नहीं होता, इसका तिरोभाव होता है। इस तिरोभाव को ही नाश अथवा लोप होना कहते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में सांख्य का एक सूत्र है **''आविर्तिरोभावात्''** जिसका अर्थ होता है कि यह सृष्टि आविर्भूत होकर पुनः तिरोभूत हो जाती है। ऋग्वेद का एक मन्त्र है जिसमें बताया गया है **''यथापूर्वमकल्पयत्''** अर्थात् जिस प्रकार से पूर्वकल्प में यह सृष्टि थी उसी प्रकार से परमात्मा ने इसे पुनः अभिव्यक्त किया। हमारे यहाँ सृष्ट तत्त्व के लिए दो शब्दों का प्रयोग होता है—जन्म और नाश। जन्म शब्द 'जनु' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रादुर्भाव—**''जनी प्रादुर्भावे''** अभिप्राय यह कि जो अब तक तिरोभूत था, अव्यक्त था, अदृश्य था, अप्रकट था वही अब प्रादुर्भूत हो गया, व्यक्त हो गया, प्रकट हो गया। इसी प्रकार से नाश शब्द 'नश्' धातु से बना है जिसका अर्थ अदर्शन है—**''नश् अदर्शने''** अभिप्राय यह कि जो वस्तु अभी दर्शन में थी, दिख रही थी, प्रकट थी वह अब अदृश्य, अप्रकट हो गई, नहीं दिखाई देती। सांख्यदर्शन में नाश शब्द का अर्थ 'कार्य का कारण में लय हो जाना', ऐसा बताया गया है **''नाशो कारणलयः''**। पाणिनि ने भी अदर्शन को लोप कहा है **''अदर्शनं लोपः''**। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि इस सृष्टि-प्रवाह में कुछ भी ऐसा नहीं है जो इससे पहले न रहा हो, और कुछ भी ऐसा नहीं है जो बाद में नहीं रहेगा। यही बात गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने समझाई है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। (गीता २।२८)

यह सम्पूर्ण भूतसमुदाय पहले अव्यक्त अवस्था में था, उसीसे अभिव्यक्त हुआ है और पुनः कालान्तर में उसी अव्यक्तावस्था को प्राप्त हो जाएगा, इसलिए इसके विषय में चिन्ता करनी व्यर्थ है।

इससे आप लोग समझ गए होंगे कि यह सृष्टि प्रवाह-रूप से सनातन है। इसमें कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जिसका कभी भी किसी भी अवस्था में अत्यन्ताभाव होता हो। हाँ, जो वस्तु हमारी दृष्टि में आ जाती है 'वह है' ऐसा हमें बोध होता है, और

जब हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है तो हम कह देते हैं कि अब वह नहीं रही। उत्पत्ति और प्रलय, जन्म और मृत्यु आदि इसी आविर्भाव और तिरोभाव के ही नाम हैं। आप लोग स्वयं मनन कर सकते हैं और इस तथ्य को अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं। जिन तत्त्वों के संघात से हमारे शरीर का निर्माण हुआ है उनमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसका किसी भी अवस्था में अत्यन्ताभाव होता हो। इन तत्त्वों के संघात से दृश्य रूप में शरीर दिखाई दे रहा है, किन्तु जब ये तत्त्व बिखर जाएँगे, डिस्पर्स हो जाएँगे तो शरीर की आकृति नहीं दीखेगी,यही सृष्टि का रहस्य है। तत्त्वतः सृष्टि के मूल पदार्थ शाश्वत एवं अविनाशी हैं। वैदिक विज्ञान की दृष्टि से शाश्वत सनातन पुरुष की सनातन अभिव्यक्ति ही सनातन सृष्टि है और इस सनातन पुरुष के आविर्तिरोभाव की क्रीड़ा सदैव चलती रहती है। समष्टि-रूप में इसकी अभिव्यक्ति को विराट् व अधिदैव कहते हैं और जब वह व्यष्टि-रूप में अभिव्यक्त होता है तो उसे ही जीव वा अध्यात्म कहा जाता है। विराट् तथा जीव जिस परम तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं वही शाश्वत सनातन ब्रह्म है। ऋग्वेद का कथन है **"तस्मात् विराट् अजायत विराजो अधिपूरुषः"** उससे यह विराट् प्रकट हुआ और वह परम पुरुष इससे परे विराजित है। गीता के आठवें अध्याय में भगवान् स्वयं इस सृष्टि-चक्र की नित्यता का वर्णन करते हुए बताते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। (गीता ८। १९)

अर्थात् यह सृष्टि उस परम अव्यक्त सनातन ब्रह्म से प्रकट होकर पुनः उसी में लीन होती रहती है। अतः हमारी दृष्टि से जगत् सनातन है, जीव सनातन है, जगदीश सनातन है और यह जगत्, जीव, जगदीश जिस परब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, उस सनातन सत्य को जानने की जो विद्या है वह भी सनातन है, क्योंकि उस सनातन तत्त्व से ही इस सनातन विद्या का भी प्रकाश हुआ है। उस सनातन विद्या को प्राप्त करने की विधि भी सनातन है। तो अब मैं आप लोगों को उस शाश्वत सनातन ब्रह्म-तत्त्व की अवबोधिका जो विद्या है उस ब्रह्मविद्या की व्याख्या ईशोपनिषद् के माध्यम से क्रमशः सुनाऊँगा।

इससे पूर्व कि आप लोगों को ईशोपनिषद् की व्याख्या सुनाई जाए, यह जान लेना आवश्यक है कि उपनिषद् क्या है और उसकी व्याख्या सुनने, श्रवण करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, हमारे वर्तमान जीवन के लिए उसकी कोई उपयोगिता भी है या नहीं, यदि है तो क्या और किस प्रकार से है। उपनिषद् को समझने के लिए उसके अधिष्ठान-रूप वेद को समझना अत्यावश्यक है; अतः संक्षेप से आप लोगों को प्रथम वैदिक साहित्य का परिचय करा दूँ।

मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग भेद से वैदिक साहित्य का दो भागों में विस्तार हुआ

है। मन्त्रभाग को संहिताभाग भी कहते हैं; उसकी बड़ी महिमा है। शाश्वत सनातन धर्म में उसे साक्षात् भगवान् की वाणी के रूप में स्वीकार किया गया है। मन्त्रभाग के ऊपर जो चिन्तनशील तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के भाष्य हैं उसे ही ब्राह्मण भाग कहा जाता है। ब्राह्मण भाग का ही एक अंश आरण्यक है। ब्राह्मण और आरण्यक में अन्तर यह है कि वैदिक मन्त्रों का यज्ञ में प्रयोग और उसके लिए विधि की व्यवस्था आदि देना ब्राह्मण भाग का प्रयोजन है, और वैदिक मन्त्रों तथा यज्ञ-विज्ञान का आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन, विश्लेषण तथा प्रतिपादन आरण्यक का विषय है। सरल शब्दों में वैदिक मन्त्रों का आधिभौतिक दृष्टि से कर्मकाण्ड में प्रयोग का विधान करना ब्राह्मणभाग का, और मन्त्रगत रहस्यमय तत्त्व का चिन्तन और उसका उद्घाटन करना आरण्यक का विषय है। इसलिए गृहस्थाश्रमी तथा विविध प्रकार की कामनाओं से प्रेरित जन-समुदाय के लिए ब्राह्मणग्रन्थों की उपयोगिता है और गृहत्यागी अरण्यवासी ऋषियों के द्वारा मन्त्रगत आधिदैविक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के चिन्तन और उद्घाटन का रहस्यमय विवेचन आरण्यक का प्रयोजन है। इस वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग 'उपनिषद्' शब्द से अभिहित किया गया है। मन्त्र में निहित अर्थ का चिन्तन करते हुए ऋषियों ने परम तत्त्व के रहस्य को समझने और उसे उद्घाटित करने वाली विद्या को ही उपनिषद् कहा है। अतः उपनिषद् मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक इन तीनों के सार-तत्त्व का संकलन है।

पौराणिक इतिहास के अनुसार इस मन्वन्तर में वेद की ११८० शाखाएँ प्रकट हुई हैं। वेद की प्रत्येक शाखा का अपना ब्राह्मणग्रन्थ है और अपना आरण्यक और उपनिषद् है। इससे यह ज्ञात होता है कि वेद की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित कुल मिलाकर ११८० उपनिषदें थीं, किन्तु वर्तमान में लगभग २२२ उपनिषदें ही प्राप्त हैं। उनमें से मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार १०८ उपनिषदें मुख्य हैं। इन उपनिषदों में कुछ मन्त्र भाग की हैं, कुछ ब्राह्मण भाग की और कुछ आरण्यक भाग की हैं। मन्त्र भाग की उपनिषदों में उपलब्ध उपनिषदें केवल दो हैं—ईशोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद्। ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय है और श्वेताश्वतर उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा का बचा हुआ भाग है। वेद की विलुप्त हुई विभिन्न शाखाओं के समान ही श्वेताश्वतर शाखा भी उपलब्ध नहीं है। उसके केवल अन्तिम भाग के छः अध्याय ही उपलब्ध हैं, जो श्वेताश्वतर उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदें विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग की ही हैं। यद्यपि सभी उपनिषदें उस परम तत्त्व ब्रह्म का अनुसंधान करते हुए उसके तत्त्वात्मक तथा विज्ञानात्मक स्वरूप का विवेचन करने में ही निरत हैं किन्तु उपनिषदों में भी उन उपनिषदों की अधिक महिमा स्वीकार की गई है जो मन्त्रभाग वा संहिताभाग से सम्बन्धित हैं। जैसा कि मैंने पहले बताया है कि ईशोपनिषद्

यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय है। यजुर्वेद के ३९ अध्याय कर्मकाण्ड, देवोपासना तथा यज्ञादि के विधि-विधान से सम्बन्धित हैं; उनमें भी तत्त्व-विज्ञान है किन्तु वह कर्म तथा देवोपासना से सम्बन्धित है। ४०वाँ अध्याय परमतत्त्व के विवेचन में प्रयुक्त होने से ब्रह्म-विद्या वा अध्यात्म-विद्या के रूप में उपनिषद् शब्द से अभिहित किया गया है। शब्द-विज्ञान की दृष्टि से उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' इन दोनों उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न होता है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण, गति तथा अवसादन। विशरण का अर्थ है विनाश, गति का अर्थ है ज्ञान और प्राप्ति, तथा अवसादन का अर्थ होता है शिथलीकरण। इस प्रकार समस्त पद 'उपनिषद्' का अर्थ है—सम्पूर्ण अनर्थों को उत्पन्न करने वाली संसार की कारणभूता अविद्या को शिथिल करने वाली संसृति का नाश करने वाले और ज्ञान के प्रकाश में परम तत्त्व ब्रह्म का अवबोधन कर उसकी प्राप्ति कराने वाली परा विद्या वा ब्रह्मविद्या।

उपनिषद् शब्द रहस्यात्मक विद्या के अर्थ में भी शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। इसकी निरुक्ति एक दूसरे प्रकार से भी की जाती है—**''उप समीपे निषीदति प्राप्नोति वा इति उपनिषद्''** अर्थात् जिसके द्वारा परमतत्त्व का बोध प्राप्त कर उसके समीप पहुँचा जाए वह उपनिषद् है, अथवा जिसके द्वारा परम समीपभूत ब्रह्म की प्राप्ति हो वह उपनिषद् है। अमर-कोषकार उपनिषद् का अर्थ **''धर्मे रहस्य्युपनिषत् स्यात्''** बताते हैं अर्थात् धर्म के गूढ़ रहस्य को उपनिषद् कहते हैं। विशेष रूप से यहाँ पर हम जिस तत्त्व की मीमांसा करने जा रहे हैं वह गुह्यतम तत्त्व है। उपनिषद् उसी तत्त्व का विवेचन करती है। वह गुह्य तत्त्व है जगत्, जीव और जगदीश रूप में विराजित परब्रह्म परमात्मा। वह परब्रह्म परमात्मा ही उपनिषदों का मुख्य विषय है। उपनिषदों में उस परब्रह्म का ही अनुसंधान, चिन्तन और विवेचन किया गया है। प्रत्यक्ष दीखने वाला जगत् और मैं के रूप में अनुभव होने वाला जीव और इन दोनों के कारणरूप में स्थित जगदीश, जिसको देखा नहीं गया और अनुभव नहीं किया गया किन्तु जगत् और जीव को देखते हुए उनके कारण के रूप में जिसका अनुमान किया जाता है, उस अनुमित तत्त्व जगदीश से सम्बन्धित जो प्रश्न अपने-आप में उठते हैं उनका जिस प्रक्रिया द्वारा सही समाधान प्राप्त किया जाता है वही उपनिषद्-ज्ञान वा उपनिषद्-विद्या है, उसी को ब्रह्मविद्या कहते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ब्रह्मवादी ऋषियों ने आपस में विचार करते हुए जगत्, जीव तथा उसके कारण के विषय में विविध प्रकार के प्रश्न उठाए हैं—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।

(श्वेता० १।१)

वे कहते हैं, ''हे वेदज्ञ विद्वानो! इस जगत् का मुख्य कारण ब्रह्म कौन है? हम लोग किससे उत्पन्न हुए हैं? किससे जी रहे हैं और किसमें हमारी सम्यक् प्रकार से स्थिति है, प्रतिष्ठा है? किसके अधीन रहकर हम लोग सुख-दुःखों में निश्चित व्यवस्था के अनुसार बरत रहे हैं? कहने का अभिप्राय हमारे जीवन का आधार, हमारा मूल कारण, हमारा आश्रय, हमारी व्यवस्था करने वाला अधिष्ठाता कौन है? जिसकी व्यवस्था में, जिसके अनुशासन में, जिसके बनाए हुए नियमों में सुख-दुःख भोगते हुए हम जी रहे हैं, वह व्यवस्थापक, संचालक, नियन्ता, स्वामी कौन है? जीवन, जगत् तथा इनके कारण के सम्बन्ध में जो प्रश्न आज के मानव-मस्तिष्क में उदय हो सकते हैं, उन सभी प्रश्नों को उठाकर उन प्राचीन ऋषियों ने उनके समाधान के लिए विविध प्रकार की सम्भावनाएँ की हैं और अनेक प्रकार से ऊहापोह करते हुए उन पर विचार किया है। उसके अगले मन्त्र में ही—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥

(श्वेता० १।२)

जीवन और जगत् के कारण के सम्बन्ध में जितनी भी सम्भावनाएँ हो सकती हैं उन मनीषियों ने सभी पर विचार किया है। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, आकस्मिक घटना, पंच महाभूत, जीवात्मा और इन सभी का समुदाय क्या जगत् और जीवन का कारण हो सकते हैं? युक्ति और तर्क का प्रयोग करते हुए वे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि काल से लेकर पंच-महाभूतों तक सभी अचेतन तत्व हैं। इनके द्वारा जीव एवं जगत् का नियमन वा अनुशासन सम्भव नहीं और चेतन जीवात्मा स्वयं ही सुख-दुःख के अधीन है, सुख-दुःख का भोक्ता है, अतः वह भी कारण नहीं हो सकता।

जिन युक्तियों से तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने समस्त सम्भावित कारणों का निराकरण किया है, वे युक्तियाँ आज भी विवेकशील मानव के लिए अपनी यथार्थता सिद्ध करती हैं। तो क्या वे ऋषि निराश होकर बैठ गए या उन्होंने किसी काल्पनिक तत्त्व को कारण स्वीकार कर अपने को सन्तुष्ट कर लिया? नहीं, उन ऋषियों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने दृढ़प्रतिज्ञ हो, बाह्य साधनों को अपने समाधान में अनुपयोगी समझकर, स्वयं को उससे विरत करके जीवन और जगत् के कारण का अनुसंधान करने के लिए एक उत्तम विधि का अवलम्बन लिया। तीसरे मन्त्र में इस विषय में आगे श्रुति कहती है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(श्वेता १।३)

उन मनीषियों ने ध्यानयोग का आश्रय लेकर समाधिस्थ हो स्वयं के गुणों से ही आवृत्त हुई उस परमदेव की स्वरूपभूता पराशक्ति का दर्शन किया, जो परमात्मा अकेले ही काल से लेकर जीवात्मा तक सभी तत्त्वों पर शासन करता है। इस प्रकार से आप लोग समझ गए होंगे कि उपनिषद् ज्ञान का स्रोत क्या है? उसकी इतनी महत्ता क्यों है? उपनिषद्-प्रतिपादित ज्ञान दृश्य और श्रुत ज्ञान नहीं है; वह अनुभूत ज्ञान है। उपनिषदों में ही उस परम रहस्यमय तत्त्व को जानने, समझने और अनुभव करने के लिए उत्तम विधि का बोध कराया गया है। तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने ध्यानयोग में स्थित होकर ही उस परम सत्य का तथा उसकी रहस्यमयी शक्ति का साक्षात्कार किया था। यदि हम जीवन और जगत् से सम्बन्धित प्रश्नों का समुचित समाधान चाहते हैं तो हमें भी वही मार्ग अपनाना होगा।

एक बात याद रखें—हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, हमारे जितने भी ज्ञान के साधन हैं उन सब का प्रवाह बाह्यमुखी है। कठोपनिषद् में यह बात समझाई गई है कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।

(कठ० २।४।१)

हमारी इन्द्रियों की रचना परमात्मा ने बहिर्मुख की है, इसलिए वे बाहर की वस्तुएँ ही देखती हैं, उनके अन्दर क्या है इसको देखने में वे असमर्थ हैं। हमारी आँखें करोड़ों मील दूर में स्थित तारागणों को देखती हैं। हम सूर्य को देखते हैं, सूर्य से परे नीहारिकाएँ हैं, उनको देखते हैं, सूक्ष्मवेषण यन्त्र का आश्रय लेकर हम सूक्ष्मतम आकाश-गंगा को भी देखते हैं, जो यहाँ से अरबों मील की दूरी पर है। हम आकाश में स्थित उन पदार्थों को भी यन्त्र की सहायता से देख लेते हैं, जिसकी दूरी का नाप-तोल हमारी कल्पना से भी परे है। बाहर की वस्तुओं को देखने में हमारी आँखें इतनी सक्षम हैं लेकिन वही आँखें अपने अन्दर की वस्तु को देखने में इतनी असमर्थ हैं कि अपने निकट लगे हुए मल तक को नहीं देख पातीं, उनके पीछे क्या है उनको देखने की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे सम्पूर्ण ज्ञान के साधन बहिर्मुखी हैं। जब तक वे इस स्थिति में रहेंगे तब तक हमें अन्तर्तम में स्थित कारणतत्त्व का यथार्थ बोध नहीं हो सकता। तो यह यथार्थ बोध कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् की श्रुति उसी मन्त्र के अगले चरण में बताती है—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

(कठ० २।१।१)

कोई धीर पुरुष अमरत्व को प्राप्त करने की इच्छा से वा परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा करके आवृत्तचक्षु आदि समस्त ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर, रोककर, अन्तर्मुखी हो **''प्रत्यक् आत्मनम् ऐक्षत्''** अन्तर्तम में निहित

परमतत्त्व परमात्मा को देखता है। अभिप्राय यह है कि जब तक हम अपने मन-सहित समस्त ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य जगत् से विरत नहीं करते, उन्हें अन्तर्मुखी वा ऊर्ध्वमुखी नहीं करते, तब तक उपनिषद्-प्रतिपादित उस परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकते। बहिर्मुखी इन्द्रियों और मन को समेटकर ही जगत् और जीवन के कारण को देखने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है कि ऋषियों ने ध्यानयोग के द्वारा ही आत्मानुसंधान किया, उस परम सत्य को समझा, जाना और अनुभव किया, फिर उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हुआ। आप लोगों को भी यदि समुचित समाधान प्राप्त करना है तो उपनिषद्-प्रतिपादित उस दिव्य साधन का ही अवलम्बन लेना होगा, यही उपनिषद् का संदेश है।

बाहर जगत् की तलाश मत करो, विविध प्रकार की कल्पनाओं में मत भटको, जहाँ तुम हो वहीं से अपने-आप को अन्तर्मुख करो—"बाहर के पट बन्द कर अन्दर के पट खोल" सन्तप्रवर कबीर का यह कथन इसी भाव को अभिव्यक्त करता है। उपनिषद्-विद्या की यह महत्ता है कि उसकी खोज की सारी प्रक्रिया, उसके अनुसन्धान की सारी विधि बाह्य जगत् से नहीं, अन्तर्जगत् से ही सम्बन्धित है।

उपनिषद्-विद्या का एक मुख्य सन्देश है "**सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषः**" अर्थात् पुरुष परमात्मा की ही प्रतिमूर्ति है। इसी को सरल शब्दों में कहा जाता है "**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**" जो कुछ तत्त्व इस पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। ब्रह्माण्ड परमात्मा का स्वरूप है और पिण्ड जीवात्मा का। ब्रह्माण्ड मैक्रोकोज़्म है और पिण्ड माइक्रोकोज़्म। जैसे माइक्रोकोज़्म मैक्रोकोज़्म का ही प्रतिरूप् होता है, ठीक उसी प्रकार हमारा शरीर मस्तक से लेकर पाँव तक ब्रह्माण्ड का ही एक नमूना है अथवा उसका ही प्रतिरूप है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है यदि उसको जानना चाहते हैं तो उसे हमें इस पिण्ड में ही खोजना होगा, हमें इसमें वह सभी कुछ मिल जाएगा जो कुछ ब्रह्माण्ड में है।

जैसे एक वैज्ञानिक जब किसी तत्त्व का अनुसन्धान करना चाहता है तो वह उस तत्त्व के एक खण्ड को ले लेता है, उसको माध्यम बनाकर उस तत्त्व का अनुसन्धान करता है और खण्डगत अनुभूत सत्य को ही वह उस तत्त्व के समग्र रूप का सत्य घोषित करता है। इसी प्रकार से हमारा यह शरीर, हमारा यह जीवन ब्रह्माण्ड का एक अंश है। पिण्डगत सत्य का अनुसन्धान कर यदि हम उसका अनुभव करते हैं तो वही ब्रह्माण्डगत सत्य है—इसकी घोषणा हम बड़ी दृढ़ता से कर सकते हैं; यही उपनिषद्-विद्या की प्रक्रिया है। ब्रह्माण्डगत सत्य को समझने के लिए हमें पिण्डगत सत्य का अनुसन्धान करना होगा। उपनिषदों में इसके अनुसन्धान की विधि का सरल तथा सुन्दर ढंग से बोध कराया गया है।

मैं आप लोगों को ईशोपनिषद् की व्याख्या सुनाने जा रहा हूँ। इस उपनिषद् में

भी उस विधि का विवेचन किया गया है। इसके प्रथम मन्त्र में विशेष रूप से हमें भावात्मक जीवन जीने की सीख दी गई है। सर्वप्रथम जब हम किसी अनुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहते हैं तो उसके लिए कुछ तैयारी करनी पड़ती है। पूर्णरूप से तैयार हुए बिना यदि हम किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो उसमें सफलता प्राप्त करने में विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में प्रायः हम असफलता का ही भाजन बनते हैं। इसलिए उस परम तत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त होने से पूर्व हमें स्वयं को उसके लिए तैयार करना होगा, सजग करना होगा और साधन में जो भी आवश्यक गुण हैं उनका संग्रह करना होगा। इस सम्बन्ध में तैयारी के लिए हमें दो बातों पर विशेष ध्यान देना होगा—पहला, हमारा आन्तरिक जीवन वा व्यक्तिगत जीवन और दूसरा हमारा व्यावहारिक जीवन। हम दो प्रकार का जीवन जीते हैं— एक अपने आप में और दूसरा समाज में। यह बात याद रखें, हर एक व्यक्ति का दोहरा व्यक्तित्व होता है—एक उसका व्यक्तिगत और दूसरा समाज से सम्बन्धित। व्यक्तिगत जीवन जीते समय वह जो कुछ भी ग्रहण करता है, सृजन करता है, उसी को वह सामाजिक जीवन में अभिव्यक्त करता है, देता है। व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करने की क्रिया को शास्त्रों में 'नियम' शब्द से अभिहित किया गया है और सामाजिक जीवन जीने की प्रक्रिया को 'यम' शब्द से। परम तत्त्व के अनुसन्धान की साधना में यम और नियम का प्रमुख स्थान है। नियम से अभिप्राय है अपने-आपको संयमित कर परम तत्त्व के अनुसन्धान के योग्य बनाना और यम का अभिप्राय है संयमित तथा सधे हुए जीवन को लोक-कल्याण की भावना से समाज में प्रयोग करना। यम और नियम अध्यात्म-मार्ग की साधना के मूल आधार हैं। यम-नियम की नींव पर ही योग-प्रासाद का निर्माण होता है।

किसी भी प्रकार की साधना में प्रवृत्त होने से पूर्व इस समस्त विश्व-प्रपंच के मूल में स्थित उस परम तत्त्व को स्वीकार कर उसका स्मरण, चिन्तन और उस तक पहुँचकर उसकी अनुभूति के लिए उसी का आश्रय ग्रहण करना प्रत्येक साधक के लिए परमावश्यक है। इसलिए ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में साधक को ईश्वरीय भावना से भावित हो समग्र जीवन जीने की सीख दी गई है।

ब्रह्मविद्या का विवेचन करने से पूर्व आचार्य सदैव विश्व की मंगल कामना करते हुए पूर्ण ब्रह्म का चिन्तन एवं स्मरण करता है। ईशोपनिषद् में भी सर्वप्रथम मंगलाचरण मन्त्र है—

> **ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।**
> **पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।**
> **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।** (ईश० १)

मेरे विचार से वेद के तात्पर्य को, वेद के अर्थ को, वेद के भाव को, वेद के

रहस्य को अभिव्यक्त करने में यह एक ही मन्त्र पर्याप्त है। यदि इस मन्त्र का ही भाव समझ में आ जाए तो मैं समझता हूँ पूर्ण वेदान्त का भाव समझ में आ जाएगा, पूर्ण ब्रह्मविद्या समझ में आ जाएगी। कार्य-कारण सम्बन्ध से पूर्ण सृष्टि के रहस्यात्मक स्वरूप को समझाने में ही इस मन्त्र का प्रयोग है। ''**पूर्णमदः पूर्णमिदं**''—'अदः' पूर्ण, 'इदं' पूर्ण अर्थात् वह पूर्ण है और यह पूर्ण है। यहाँ पर 'अदः' शब्द का अभिप्राय इस सृष्ट जगत् के कारणरूप में अवस्थित परब्रह्म परमात्मा से है और 'इदं' शब्द का प्रयोग इस अनन्त अचिन्त्य रूप में अभिव्यक्त जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण सृष्टि-प्रपंच से है। वह परमात्मा जिसके विषय में वेद कहता है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।

यह जो विराट् विश्व दिखाई दे रहा है, केवल उसकी महिमामात्र है। वह पुरुष इससे परे, इससे महान् है। वह परमात्मा पूर्ण है और उस पूर्ण से ही उत्पन्न होने से यह विश्व-प्रपंच भी पूर्ण है। ''**पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते**''—पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न हुआ है, क्योंकि पूर्ण से कभी अपूर्ण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ज्ञान से अज्ञान की, सत् से असत् की, अमृत से मृत्यु की, प्रकाश से अन्धकार की, अविनाशी से नाशवान् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह सिद्धान्त है; क्योंकि जो कारणरूप में है वही कार्यरूप में परिणत होता है। जो कारण में नहीं है वह कार्य में कभी नहीं हो सकता। अविनाशी का कार्य नाशवान्, सत् का कार्य असत्, नित्य का कार्य अनित्य, पूर्ण का कार्य अपूर्ण नहीं हो सकता। कारण सदैव कार्य में निहित होता है, यह सत्य समझ लेने पर 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' के अभिप्राय को आसानी से समझा जा सकता है।

''**पूर्णस्य पूर्णम् आदाय**'' पूर्ण का पूर्ण निकाल लेने पर ''**पूर्णम् एव अवशिष्यते**'' पूर्ण ही अवशेष रह जाता है। अभिप्राय यह है कि यदि पूर्ण से पूर्ण को निकाल लिया जाए तो जो शेष बचेगा वह भी पूर्ण ही होगा। सुनने में यह बात अटपटी लग रही होगी, किन्तु इसे एक उदाहरण के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। जैसे शून्य से शून्य को निकाल लेने पर वहाँ शून्य ही शेष रह जाता है, ठीक उसी प्रकार से अनन्त से अनन्त को निकाल लेने पर अनन्त ही शेष रह जाता है। अनन्त में न्यूनता नहीं आती। न्यूनता तब आती है जब मूल तत्त्व सान्त वा सीमित हो। जो सीमित है उसका क्षय होता है; उसमें से कुछ निकल जाए तो वह कम हो जाएगा; लेकिन जो अनन्त है, इनफ़िनिट है, पूर्ण है, उसमें से कुछ भी निकालते रहें वह सदैव पूर्ण ही रहेगा। और मज़े की बात तो यह है कि जो उससे निकलेगा वह भी पूर्ण ही होगा, क्योंकि अनन्त में अनन्त के सिवा और कुछ नहीं है। जितनी विविधता की कल्पनाएँ हैं वे यथार्थ नहीं, भ्रान्ति मात्र हैं—यही वेदान्त का सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त के द्वारा यदि आप लोग यह अनुभव कर लें कि आप परमात्मा

से हैं, परमात्मा में हैं, परमात्मा की महिमा को प्रकट करने के लिए ही आपका आविर्भाव हुआ है, परमात्मा से अलग आपका कोई अस्तित्व नहीं, कोई सत्ता नहीं, तो परमात्मा के साथ एकत्व की अनुभूति कर आप कृतकृत्य हो सकते हैं।

यह तो आप सभी जानते हैं कि आप स्वयं के रचयिता नहीं हैं और न ही आपके माता-पिता आपके रचयिता हैं। तो फिर, वर्तमान में आपका जो यह अस्तित्व है, व्यक्तित्व है उसका मूल स्रोत, मूल कारण तो कोई होगा ही! वह परमात्मा के सिवा और कौन हो सकता है! परमात्मा पूर्ण, नित्य, अखण्ड, अनन्त सत्य है और उससे प्रकट हुई यह सृष्टि भी पूर्ण, नित्य, अनन्त और अखण्ड है; इसीलिए श्रुति कहती है वह पूर्ण है और उसी का अंश होने के नाते यह भी पूर्ण है।

जैसा कि मैंने पहले बताया है कि पूर्ण से अपूर्ण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस दृष्टि से उस पूर्ण की ही अभिव्यक्ति होने के नाते आप भी स्वयं में पूर्ण हैं। अपूर्णता की स्वीकृति अज्ञानता का ही परिणाम है, यथार्थतः नहीं। इस बात को एक उदाहरण से आप समझ सकते हैं।

कागज़ के ऊपर एक बिन्दु बनाइए और उस बिन्दु को गति दीजिए, उससे रेखा का निर्माण हो जाएगा, और जहाँ से उस रेखा का प्रारम्भ हुआ है यदि उस रेखा को लाकर वहाँ उसी बिन्दु से मिला दीजिए तो एक बड़े गोले का निर्माण हो जाएगा। उस बड़े गोले की बगल में एक छोटा-सा बिन्दु लगाकर छोड़ दें और फिर किसी से पूछें कि उन दोनों में से तत्त्वतः बड़ा कौन है और छोटा कौन है? तो गणित का प्रत्येक विद्वान् यह बताएगा कि आकृति में बिन्दु की अपेक्षा वह गोला भले ही बड़ा दिखाई दे रहा हो किन्तु तत्त्वतः उन दोनों में कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से बिन्दु का भी वही स्थान है जो कि उस गोले का। गोले से उस बिन्दु की महत्ता कम नहीं है, देखने में भले ही वह छोटा दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार से आपको एक और उदाहरण के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाएगी। जैसे प्रज्वलित अग्नि का ढेर है। उस अग्नि की प्रचण्डता का अनुमान कीजिए और उसके साथ ही एक माचिस की तीली को जलाइए और उस तीली की आग को भी देखिए। यदि कोई आपसे पूछे कि तीली की आग में और उस ढेर की आग में कितना अन्तर है, कितनी भिन्नता है तो आप क्या उत्तर देंगे? क्या आप कह सकते हैं कि तीली की आग छोटी है और ढेर की आग बड़ी? मेरे विचार से आप ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आग कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे मापा जा सके। तत्त्वतः वह एक सत्तात्मक पदार्थ है, उसका विभाजन नहीं हो सकता, उसमें छोटे-बड़े की कल्पना नहीं हो सकती, उसके प्रकाश में, उसके दाह में तत्त्वतः न्यूनाधिकता की बात नहीं है। माध्यम की न्यूनाधिकता ही उसकी अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता में कारण बनता है। ठीक उसी प्रकार से इस अनन्त ब्रह्माण्ड की आत्मा के रूप में अभिव्यक्त हुए परमेश्वर, ब्रह्माण्ड की आत्मा

के रूप में प्रकट हुए ईश्वर, और पिण्ड की आत्मा के रूप में अभिव्यक्त हुए जीव में तत्त्वतः कोई न्यूनाधिकता नहीं है क्योंकि यह परमेश्वर, ईश्वर और जीव आदि रूपों में वही एक परम सत्य अवतरित हुआ है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उसी की अभिव्यक्ति है। इसीलिए श्रुति कहती है **''पूंर्णम् अदः पूर्णम् इदम्''** वह परम तत्त्व भी पूर्ण है और उससे अभिव्यक्त हुआ यह जीव भी पूर्ण है।

वह अनन्त स्वयं को अनन्त रूपों में प्रकट करता है और उसका प्रत्येक रूप स्वयं में पूर्ण है, क्योंकि वह पूर्ण है। इसलिए यदि आप स्वयं में अनुभव कर लें कि आपके रूप में प्रकट हुई सच्चिदानन्दमयी आत्मसत्ता स्वयं में पूर्ण है तो आपको अपने में कितना गौरव होगा! आत्मविश्वास को प्राप्त करने के लिए इससे उत्तम बात और क्या कही जा सकती है!

आप उस परमात्मा की अभिव्यक्ति हैं इसमें कोई संदेह नहीं। हो सकता है माध्यम में दोष आ जाने से आप इस सत्य को न समझ पाएँ, किन्तु इससे सत्य में कोई अन्तर नहीं आने का। जैसे कि अभी आपको अग्नि के उदाहरण से समझाया गया है कि एक प्रचण्ड अग्नि के ढेर में तत्त्वतः जो कुछ है वही एक तीली की आग में भी है। माध्यम की कमी-बेशी से, उसके छोटे-बड़े होने से तत्त्वतः अग्नि में कोई भेद नहीं, कोई कमी-बेशी नहीं है। ठीक इसी प्रकार से उस अनन्त ज्योति से प्रकट हुआ यह आपका जीवन उस तीली में प्रकट हुई अग्नि के समान है और इस विराट् रूप में प्रकट हुआ आत्म-तत्त्व सूर्य-मण्डल में स्थित अग्नि के समान है। इनकी आकृति में भले ही न्यूनाधिकता हो, किन्तु तत्त्वतः कोई भेद नहीं। इसीलिए श्रुति कहती है—**''अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि'**—'यह आत्मा ब्रह्म है, तू वही है, मैं वह हूँ—इन सभी महावाक्यों का अभिप्राय 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' में निहित है। पूर्ण से जो प्रकट होता है वह पूर्ण ही होता है। इस सत्य को समझ लेने के पश्चात् यदि 'अदः' तत्त्व के अनुसंधान में प्रवृत्त हुआ जाए तो बड़ी सुगमता से ही उसकी अनुभूति की जा सकती है। यदि आपको अपनी पूर्णता में कोई आशंका है तो आप स्वयं में यह प्रश्न उठाइए कि वेद की घोषणा है 'पूर्ण से पूर्ण का ही आविर्भाव होता है' तो मेरे में यह अपूर्णता की अनुभूति क्यों? इस प्रश्न को साथ लेकर यदि आप यथार्थ का पता लगाने के लिए प्रवृत्त होंगे तो एक दिन अवश्य ही शाश्वत धर्म-प्रतिपादित उस परब्रह्म के साथ अद्वैत की अनुभूति प्राप्त कर लेंगे, किन्तु इसके लिए आपको ब्रह्मविद्या की शरण लेनी होगी। ब्रह्मविद्या के ज्ञाता, अनुभवी ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु की शरण लेनी होगी।

उपनिषद् ही ब्रह्मविद्या है और उपनिषद्-तत्त्व का ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ ही सद्‌गुरु है। गुरु-कृपा से ब्रह्मविद्या की उपासना के द्वारा ही इस रहस्य का बोध हो सकेगा कि वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण से ही प्रकट हुआ है और **''पूर्णस्य**

पूर्णम् आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते'' पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है। अभिप्राय यह कि वह परब्रह्म परमात्मा सभी अवस्थाओं में पूर्ण ही रहता है। इस मन्त्र में तत्त्व-द्रष्टा मनीषियों ने प्रत्येक प्राणी को स्वयं में पूर्ण घोषित किया है। तुम स्वयं में पूर्ण हो; अपूर्णता का भान केवल अज्ञानजन्य भ्रान्ति है। यह अज्ञान तुममें कहाँ से आया, कैसे आया, इसकी तुम खोज करो। यदि तुम सजगता के साथ अज्ञान और उसके कारण की खोज करने लगोगे तो तुम्हें वह अवस्था प्राप्त होगी जिसमें यह ज्ञात होगा कि न तो यथार्थतः तुम्हारे में अज्ञान है और न उससे उत्पन्न हुई अपूर्णता ही। उस अवस्था में यह बात समझ में आएगी कि अज्ञान और अपूर्णता एक भूल थी जिसे तुमने असावधानी के कारण स्वीकार कर रखा था। भूल के कारण ही शरीर से लेकर बुद्धि तक के समस्त साधनों को अपना स्वरूप स्वीकार कर लिया था, इसी भूल के नाते अपने-आप को अपूर्ण मानते, समझते रहे। तत्त्वतः तुम पूर्ण से अभिव्यक्त हुए पूर्ण हो, इसमें संदेह नहीं। इस पूर्णता के अनुसंधान और अनुभूति के लिए ही ब्रह्मविद्या का अवतरण हुआ है।

मंगलाचरण के पश्चात् ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में मानवमात्र के हित के लिए एक अनुपम आदेश प्राप्त होता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।

जैसा कि पहले बताया गया है, वेद के अन्तिम भाग को ही वेदान्त कहते हैं क्योंकि वह वेद-प्रतिपादित परब्रह्म परमात्मा के समग्र रूप का अवबोधन कराता है, या यूँ समझ लीजिए कि वेद के सार-तत्त्व का उद्घाटन करता है इसलिए उसे वेदान्त कहते हैं। वेदान्त शब्द ईशोपनिषद् के सम्बन्ध में ही सार्थक है क्योंकि यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। इसके प्रथम मन्त्र में परमेश्वर के स्वरूप एवं उसकी महिमा का वर्णन है। इसका सरल अर्थ है—**''जगत्यां यत्किञ्च जगत् इदम् सर्वं ईशावास्यम्''** इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतनात्मक जगत् है, यह समस्त ईश्वर से परिव्याप्त है—**''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः''** उस परमात्मा का स्मरण करते हुए प्राप्त भोगों को उसको समर्पित करते हुए भोगते रहो। **''मा गृधः धनम् कस्य स्वित्''** आसक्त मत होवो, धन अर्थात् भोग्य पदार्थ किसका है? इस मन्त्र में सर्वरूप में ईश्वर की व्यापकता, उसकी स्मृति के साथ प्राप्त पदार्थों का ईश्वरीय प्रसाद समझ कर भोग और भोग्य पदार्थ के स्वरूप, उसके निर्माता तथा उसके स्वामी के विषय में सजगता, मूलतः ये तीन बातें समझाई गई हैं। इस उपनिषद् का प्रारम्भ ईश शब्द से हुआ है, इसलिए इसे ईशोपनिषद् कहते हैं। इसमें सर्वप्रथम ईश्वर की सर्वव्यापकता का सन्देश है। इस विश्व में जो कुछ भी जड़-चेतनात्मक गतिशील सृष्टि है वह ईश्वर से परिपूर्ण है। यह वेदान्त शास्त्र की मुख्य घोषणा है।

जगत् शब्द का अर्थ होता है गतिशील, गतिमान **'गच्छति इति जगत्'** जो प्रति-पल गमन करता है वा जिसमें प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है वह जगत् है। परिवर्तन वा गति जगत् का स्वभाव है। परिवर्तनशील जगत् ईश्वर से परिपूर्ण है, इसका कोई भी ऐसा अंश नहीं जहाँ पर ईश्वर विद्यमान न हो। जैसे शर्करा मिठास से, नमक खारेपन से, जल रस से और अग्नि प्रकाश से परिपूर्ण है उसी प्रकार यह सारा विश्व ईश्वर से परिपूर्ण है। अभिप्राय यह है कि जैसे मिठास के सिवा शर्करा कुछ नहीं, खारेपन के सिवा नमक कुछ नहीं, रस के सिवा जल कुछ नहीं, प्रकाश के सिवा अग्नि कुछ नहीं, ठीक उसी प्रकार ईश्वर के सिवा जगत् कुछ नहीं है। जैसे रस ही घनीभूत होकर जल-रूप से परिणत होता है, जैसे मिठास ही घनीभूत होकर शर्करा के रूप में परिणत होती है, क्षार ही घनीभूत होकर लवण-रूप धारण करता है, ठीक उसी प्रकार से वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही घनीभूत होकर जगत-रूप में प्रकट हुआ है; यदि ऐसा कहें तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी। इसी सत्य को प्रकट करते हुए वेदान्त घोषित करता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

आगे कहा है—**'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।'** इसका अभिप्राय है उस परमात्मा को स्मरण करते हुए, उसके दिए हुए का भोग करो। **'तेन त्यक्तेन प्रदत्तेन भुञ्जीथाः'** उस परमात्मा के द्वारा दिए हुए का भोग करना ही मनुष्य के लिए अभीष्ट है। सर्वव्यापी परमात्मा सर्वज्ञ होने से हमारी यथार्थ स्थिति को जानता है। जो कुछ हमारे लिए कल्याणप्रद है, हितप्रद है, उपयोगी है, वही कुछ उसने हमें दिया है, इसलिए उसके द्वारा प्रदत्त पदार्थ के प्रयोग में ही हमारा हित निहित है। यदि उससे अधिक हम चाहते हैं वा अधिक की कामना करते हैं तो वह हमारे लिए सुखद नहीं, दुःखद ही होगा। इसलिए वेद का कथन है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।

''गृधः मा'' आसक्त मत होवो, लालची मत बनो। **''कस्य स्विद् धनम्''** विचार करो कि यह धन किसका है?

इस एक मन्त्र में ही विशेष रूप से मानव के लिए यम और नियम यानि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन जीने की सीख दे दी गई है। साथ ही ब्रह्मविज्ञान के प्रयोजन को पूर्णतया अभिव्यक्त कर दिया गया है।

महात्मा गाँधी ने अपने एक लेख में लिखा है कि यदि हमारे सारे धर्मग्रन्थ लुप्त हो जाएँ वा नष्ट कर दिए जाएँ, केवल एक यही मन्त्र बचा रहे तो इस एक मन्त्र के आधार पर ही दुनिया में हिन्दू धर्म को, हिन्दू दर्शन को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकता है, इतना महत्त्वपूर्ण है यह मन्त्र! इसे यदि वेदान्त-शास्त्र का सार कहा जाए तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज संक्षेप में ही इस मन्त्र के अर्थ का संकेत किया गया है, इसकी विस्तृत व्याख्या कल की जाएगी। □□

२

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोगों को वेद के शिरोभाग उपनिषद् और उपनिषदों में प्रधान उपनिषद् ईशोपनिषद् पर विचार दिया जा रहा है। उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं जिसका अर्थ होता है वेद का शिरोभाग या अन्तिम भाग। दूसरे शब्दों में इसे वेद का सार, रहस्य भी कहा जा सकता है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इन चार वेदों की ११८० शाखाएँ हैं, जिनमें ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०९, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ५० शाखाएँ हैं। सभी शाखाओं की अपनी उपनिषदें हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषदों की संख्या ११८० है, जिनमें से प्रधान उपनिषदें १०८ हैं। इन उपनिषदों में से भी एकादश उपनिषदों की अधिक महिमा है जिनके नाम हैं ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर। इनमें ईशोपनिषद् का प्रथम स्थान है। वर्तमान में उपलब्ध उपनिषदों से ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रह्मविद्या का प्रारम्भ ही ईशोपनिषद् से हुआ है, क्योंकि यह शुक्ल यजुर्वेद के संहिता-भाग से सम्बन्धित है इसलिए यह उपनिषदों में प्रधान उपनिषद् है। गीता की विज्ञानत्रयी, जिसे ब्रह्म-विज्ञान, जीवन- विज्ञान तथा कर्म-विज्ञान कहते हैं, का स्रोत ईशोपनिषद् ही है।

यजुर्वेद दो रूपों में उपलब्ध है—कृष्ण-यजुर्वेद और शुक्ल-यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद की भी अनेकों उपनिषदें हैं किन्तु उसके मन्त्रभाग की उपनिषद् है श्वेताश्वतर और शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं, यह उपनिषद् दोनों शाखाओं में ही पाई जाती है। ईशोपनिषद् का कलेवर बहुत छोटा है, इसमें केवल १८ मन्त्र हैं। इन १८ मन्त्रों में सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान वा तत्त्वज्ञान निहित है। इतना व्यापक ज्ञान इतने थोड़े अक्षरों में, वाक्यों में ईश्वरीय विधान से ही निहित हो सकता है। किसी मानवीय कृति को इतनी महत्ता नहीं मिल सकती। उपनिषद्-विद्या के विषय में मैं आप लोगों को इसलिए समझा रहा हूँ क्योंकि इस समय जो प्रचलित हिन्दू सनातन धर्म है उसका मूल आधार उपनिषद्-विद्या ही है। वेद का जो कर्मकाण्ड है वह उतनी महिमा नहीं रखता। वर्तमान समय में जो धर्म सनातन धर्म के नाम से प्रचारित हो रहा है उसमें कर्मकाण्ड की महत्ता नहीं है। प्राचीन काल में वैदिक कर्मकाण्ड की बड़ी महिमा थी। इसके अनुयायी प्रेय को प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार के यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान किया करते

थे। प्रेय अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक सुखभोग। वे लोग स्वर्गादि की प्राप्ति को ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझते थे। मृत्यु के बाद स्वर्ग मिल जाए और पुण्य भोग के बाद पुनः पुनः मृत्युलोक में आकर यज्ञादि के द्वारा पुण्य संचय करें, उसके परिणाम में पुनः स्वर्गादि के सुख प्राप्त हों, इस प्रकार की कामनाओं से प्रेरित होकर लोग यज्ञादि का अनुष्ठान किया करते थे।

मृत्युलोक के जो समस्त भोग हैं वे थोड़ी मात्रा में उपलब्ध होते हैं, साथ ही वे नाशवान् भी हैं, किन्तु स्वर्ग में वे ही भोग इच्छानुसार प्राप्त होते हैं और अक्षय होते हैं। यहाँ का शरीर बूढ़ा हो जाता है, स्त्रियाँ और पुरुष बूढ़े हो जाते हैं, किन्तु स्वर्ग में वृद्धावस्था का भय नहीं है इसलिए स्वर्ग में जाने पर अधिक भोग का अवसर प्राप्त होगा। यहाँ की गन्ध सीमित है, यहाँ का रस, यहाँ का रूप, यहाँ का स्पर्श, यहाँ का शब्द आदि सभी सीमित हैं और उनका अनुभव करने वाली इन्द्रियाँ भी निर्बल और सीमित शक्ति वाली हैं, लेकिन स्वर्ग में यह सब-कुछ हमें असीम रूप में प्राप्त होगा, ऐसी कामना करके वे लोग यज्ञादि कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे और वेदविद्या के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त कर पुण्य के प्रभाव से वहाँ के दिव्य भोगों को भोगते थे और पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में आ जाते थे। यह वैदिक कर्मकाण्ड इस आवागमन के चक्र को समाप्त करने का साधन नहीं है।

जो कर्म हम करते हैं वह कुछ साधनों से करते हैं। साधन सदैव सीमित होते हैं इसलिए उनके द्वारा होने वाली क्रिया तथा उस कर्म का फल भी सीमित ही होता है। कर्म का कर्ता जो अहं है वह भी सीमित है। सीमित कर्ता के सीमित कर्म का परिणाम वा फल कभी असीम नहीं हो सकता। इसीलिए यज्ञानुष्ठानादि के द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्गादि के सुख भी सीमित काल के लिए ही प्राप्त होते हैं और भगवान् के शब्दों में **''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति''** पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक को ही प्राप्त होते हैं। भोग की आकांक्षा रखने वाले साधकों की यह गति होती है। तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने इसे प्रेय मार्ग कहकर उपेक्षणीय बताया है, क्योंकि हमारे जीवन की आन्तरिक माँग स्वर्गादि की प्राप्ति ही नहीं, हम नित्यानन्द को चाहते हैं। हमारा प्राप्तव्य स्वर्गीय सुख-भोग नहीं, सच्चिदानन्द है।

मनुष्य तीन बातों से सदैव भयभीत रहता है—मृत्यु से, अज्ञान से और दुःख से। वह जो कुछ भी कर्म करता है इन तीनों में से किसी एक से मुक्त होने के लिए ही करता है। आप स्वयं अनुमान करें, जो कुछ भी आप काम करते हैं सुबह से शाम तक, उनमें से कुछ कर्म ऐसे हैं जो आप दुःख से बचने के लिए करते हैं, कुछ कर्म ऐसे हैं जो मृत्यु से बचने के लिए करते हैं और कुछ कर्म ऐसे हैं जो अज्ञानता से बचने के लिए करते हैं। आपके प्रत्येक क्रियाकलाप का प्रयोजन इनमें से किसी एक से छुटकारा पाने के लिए ही होता है। दूसरे शब्दों में आपके प्रयत्न का प्रयोजन है मृत्यु से बचकर

अमरत्व की प्राप्ति, अज्ञान से बचकर ज्ञान की प्राप्ति, दुःख से बचकर आनन्द की प्राप्ति; इसको ही सच्चिदानन्द कहते हैं। अमरत्व सत्त्वात्मक है, ज्ञान चिदात्मक और आनन्द आनन्द है ही। यही जीव के जीवन का लक्ष्य है। हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए ही होती है, किन्तु अबोधता, अज्ञानता के नाते हम इस रहस्य को समझ नहीं पाते। जो कुछ भी हम करते हैं वह मृत्यु, अज्ञान और दुःख से बचकर अमरत्व, ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति के लिए ही करते हैं—इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसके लिए जो हम साधन अपनाते हैं वह बिल्कुल हमारी आकांक्षा के विपरीत परिणाम देने वाला है। इसलिए रातों-दिन प्रयत्न करने पर भी हमें अपनें अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो रही और इस प्रकार के साधनों से कभी भी किसी भी काल में उसका प्राप्त होना सम्भव नहीं। हमने ऐसा मान रखा है कि दुनिया के वैभव से, दुनिया की सम्पत्ति से, दुनिया के पद-पदार्थ से हम मृत्यु, अज्ञान और दुःख से मुक्त हो जाएँगे, किन्तु यह सर्वथा असम्भव है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में हमें एक कहानी पढ़ने को मिलती है जिसमें महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति मैत्रेयी तथा कात्यायनी अपनी दोनों स्त्रियों को बाँट कर देते हैं और स्वयं परिव्रज्या ग्रहण करने के लिए प्रस्थान करने लगते हैं। उनकी परम साध्वी पत्नी मैत्रेयी उनसे पूछती है, ''यह धन जो आप मुझे दे रहे हैं इससे क्या मैं अमर हो जाऊँगी?'' याज्ञवल्क्य ने कहा—''नहीं, इससे अमरत्व तो नहीं, तुम्हें केवल वह सुविधा प्राप्त होगी जो कि एक सम्पत्तिशाली को प्राप्त होती है। महर्षि के उत्तर को सुनकर मैत्रेयी ने यह कहते हुए कि—**''येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्?''** ''जिसके द्वारा मुझे अमरत्व नहीं प्राप्त हो सकता उसको लेकर मैं क्या करूँगी'', सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्याग कर दिया। उसकी जिज्ञासा को देखकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने उसे मृत्यु का अतिक्रमण करने वाले तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। इस कहानी से यह रहस्य उद्घाटित होता है कि यदि जीवन के साथ मृत्यु, अज्ञान और दुःख का भय लगा हुआ है तो दुनिया का सारा वैभव किस काम का? सन्त तुलसीदासजी ने एक दोहे में लिखा है—

अरब खरब लौ द्रव्य हो, उदय अस्त लौ राज ।
तुलसी जौ निज मरन है, तो आवै केहि काज ।।

विश्व-भर का वैभव, विश्व-भर का आधिपत्य, विश्व-भर के भोग के साधन उपलब्ध हों किन्तु यदि मृत्यु सन्निकट हो तो समस्त सुख के साधन और वैभव किस काम के? इस सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर कहानी है—

एक बार एक राजा कुछ राजपुरुषों को साथ लेकर जंगल में शिकार खेलते हुए, विचरण करता हुआ एक महात्मा की कुटी पर पहुँच गया। महात्मा तपस्वी, आत्मनिष्ठ थे, बाह्य सुख-सुविधा के नाम पर उनके पास केवल एक कोपीन के सिवा

और कुछ नहीं था। राजा ने तपस्वी को देखकर प्रणाम किया और उनके सन्निकट बैठ गया। राजमद से उन्मत्त राजा महात्मा से प्रश्न करते हुए बोला—महात्मन्! आप ज्ञानी हैं और यह समझते हैं कि यह सृष्टि परमात्मा की बनाई हुई है और मनुष्य इस सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है। सृष्टि का सम्पूर्ण वैभव मनुष्य के उपभोग के लिए ही बना है। जो व्यक्ति इस वैभव का उपभोग नहीं करता वह परमात्मा की कृति का निरादर करता है, क्या आप ऐसा नहीं मानते? देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर को पाकर परमात्मा के दिए हुए संसार के समस्त सुख-साधनों को त्यागकर आप यहाँ एकान्त जंगल में क्यों रहते हैं? कठोर तपस्या से अपने मनुष्य-शरीर को क्यों तपा रहे हैं? महात्मा ने कहा—यह तुम्हारा प्रश्न गम्भीर है। इसका उत्तर इस समय देना सम्भव नहीं। इसके उत्तर के लिए न तो मेरे पास ही समय है न तुम्हारे पास ही। राजा ने कहा—महात्मन्! ऐसी क्या बात है? आप उत्तर दीजिए, मेरे पास पर्याप्त समय है। महात्मा ने कहा—राजन्! तुम्हें मेरे सुख की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मेरे इस कठोर जीवन के विषय में सोचना व्यर्थ है। तुम्हारे पास समय बहुत थोड़ा है। इस विश्व के वैभव को भोगने के लिए तुम्हारे पास केवल सात दिन शेष रह गए हैं, अतः तुम शीघ्र राज्य में जाकर जितना अधिक-से-अधिक हो सके अपने राजसी सुख-साधनों का उपभोग करो, सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। महात्मा की बात सुनकर राजा भय से काँप गया। मृत्यु की कल्पना ने उसके राजमद को चूर-चूर कर दिया। काँपते हुए स्वर में अधीर हो महात्मा के चरणों में गिरकर प्रार्थना करते हुए बोला—भगवन्! मेरी रक्षा कीजिए, मृत्यु से बचने का कोई उपाय बताइए! महात्मा ने उत्तर दिया—राजन्! मृत्युलोक में रहने वाले प्राणी की मृत्यु अनिवार्य है। अब तुम अपने महल में जाओ और शेष जीवन का आनन्द लो।

मृत्यु से भयभीत और जीवन से निराश हुआ राजा वहाँ से लौट पड़ा। महल में आया तो दास-दासियों के साथ उसकी पटरानियाँ उसके स्वागत के लिए सर्वभाँति श्रृङ्गार से सुसज्जित होकर खड़ी थीं। सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति रानियों ने मुस्कराते हुए उसका स्वागत किया। उन सुन्दरियों को देखकर राजा के अन्तःताप की सीमा न रही। निकट मृत्यु की सम्भावना ने उसकी हँसी-खुशी, आमोद-प्रमोद सब-कुछ छीन लिया था। राजमहल में कहीं भी कुछ उसे सुखकर प्रतीत नहीं होता था। समस्त सुख के साधन अब उसके लिए दुःखप्रद हो गए थे। राजा को उदास देख सुन्दरियाँ उसे प्रसन्न करने के लिए तथा उसकी उदासी के कारण को समझने के लिए, उसे दूर करने के लिए विविध प्रकार के प्रयत्न करती रहीं, किन्तु उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ रहा क्योंकि राजा के अन्तर् में मृत्यु का भय अपना आधिपत्य जमा चुका था। वह मौन हो जीवन की घड़ियों को गिनने लगा। राजमहल का सारा वैभव, समस्त सुन्दरियाँ, सारे सुख के साधन अब उसके लिए अर्थहीन हो चुके थे। राजा की इस दशा से राज्य भर में

उदासी छा गई। मृत्यु की प्रतीक्षा में एकाकी बैठा हुआ राजा सदैव यही सोचता रहता—मेरे बाद इस राज्य का क्या होगा? इस वैभव का क्या होगा? सौन्दर्य की साकार मूर्ति इन रानियों का क्या होगा? इस प्रकार की चिन्ता ने उसके सम्पूर्ण स्वर्गीय साधनों को नारकीय यातना एवं सन्ताप-रूप में परिवर्तित कर दिया था। इस प्रकार से छः दिन बीत गये।

जिस दिन उसे मृत्यु की सम्भावना थी, प्रातःकाल वह सोचने लगा—आज मेरे जीवन का आखिरी दिन है। यदि मृत्यु ने आकर मेरा अन्त कर दिया तो इनमें आसक्त होने के कारण मेरा अन्तिम परिणाम भी दुःखद ही होगा। मेरे लिए कल्याण का मार्ग यही है कि इस राज-प्रासाद (महल) का त्याग कर मैं उन महात्मा के ही चरणों में जाऊँ और उनकी छत्रछाया में ही इस शरीर का विसर्जन करूँ। ऐसा निश्चय कर वह अकेला ही राजमहल से बाहर आ, घोड़े पर सवार हो, जंगल में महात्मा के पास चल दिया। वहाँ पहुँचकर महात्मा के चरणों में प्रणाम किया और दीन-भाव से वहीं बैठ गया। थोड़े दिनों में ही राजा का शरीर कृश हो गया था। उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, सारा शरीर निर्बल हो गया था। उसकी इस दीन-हीन दशा को देखकर महात्मा ने पूछा—राजन्! क्या बात है? आज तुम इतने उदास क्यों हो? तुम्हारे शरीर की आभा, तुम्हारी राजकीय साज-सज्जा, तुम्हारा स्वास्थ्य, पुष्ट शरीर यह सब-कुछ कहाँ गया? महात्मा की बात सुनकर राजा ने कहा—भगवन्! मैं आपकी शरण में हूँ। मृत्यु के भय ने मेरा सर्वस्व छीन लिया है। महात्मन्! मेरी रक्षा कीजिए। महात्मा ने कहा—राजन्! इतने दिनों में तुम्हें संसार का यह भोग-विलास कैसा लगा? क्या तुम यह भूल गए कि ये सम्पूर्ण भोग के साधन परमात्मा ने मनुष्य के भोगने के लिए बनाए हैं? फिर तूने इन दिनों में इनका उपभोग क्यों नहीं किया? राजा ने कहा—महात्मन्! भला जिसकी मृत्यु सन्निकट हो उसके लिए संसार के इस भोग-वैभव का क्या प्रयोजन? महात्मा ने कहा—पगले! तुम्हें जिस मृत्यु से भय था वह तो तुम्हारे से सात दिन की दूरी पर थी, तब भी तुम्हें विश्व के वैभव में सुख का आभास नहीं हुआ, किन्तु मैं तो मृत्यु को प्रतिपल अपने निकट ही देखता हूँ, पता नहीं कब वह इस शरीर का अन्त कर दे। भला मेरे लिए संसार के सुख-साधनों का क्या प्रयोजन हो सकता है? जो प्रश्न तुमने मेरे से किया था, मैं समझता हूँ उसका यथार्थ उत्तर अब तुम स्वयं समझ गये होंगे। अब तुम निश्चिन्त होकर राज्य में जाओ, मृत्यु और परमात्मा इन दोनों को सदैव स्मरण रखते हुए धर्मपूर्वक राज्य का संचालन करो। व्यर्थ भय का त्याग कर, सत्य को समझो और जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करो। स्वधर्म का पालन ही परमात्मा की पूजा है, ऐसा समझते हुए तुम राज्य का संचालन करो, यही मेरा आदेश है, यही उपदेश है। राजा को नया जीवन मिला, नई दृष्टि मिली, नई दिशा मिली और वह महात्मा को प्रणाम कर उनके आदेश का पालन

करते हुए राज्य को चला गया।

इस कहानी से हमें एक शिक्षा प्राप्त होती है कि जो कुछ भी हम देखते हैं, जिसमें हम रमण करते हैं, जिसको हम सुख का साधन मानते हैं, यह सारा का सारा हमारे लिए तब तक ही सुखद है जब तक कि हमें जीवन पर विश्वास है। भविष्य के जीवन की आशा में ही भोग प्रिय लगते हैं। यदि मृत्यु की सम्भावना वा आशंका उपस्थित हो जाए तो यह सब-कुछ हमारे लिए व्यर्थ हो जाएगा। तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने भोग के समस्त साधनों को मृत्युमय, नाशवान् समझकर उनसे परे होने के लिए, उनसे विमुक्त हो, मृत्यु का अतिक्रमण करने के लिए एक दिव्य साधन को ढूँढ़ निकाला है, जिसके प्रयोग से उन्होंने मृत्यु का अतिक्रमण किया, मृत्यु को पार कर अमृत-तत्त्व की अनुभूति की, उसका नाम है उपनिषद्-विद्या वा ब्रह्मविद्या। मृत्यु से विमुक्त कर अमरत्व प्रदान करना ही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है। वैदिक कर्मकाण्ड स्वर्गादि के सुख-प्राप्ति का ही साधन था। विभिन्न देवताओं की उपासना कर उनकी प्रसन्नता से विविध प्रकार की कामनाओं को पूर्ण कर यह लोक तथा मृत्यु के पश्चात् लोकान्तर में भी सुख की प्राप्ति का विधान करना वैदिक यज्ञ-यागादि का प्रयोजन रहा है।

जो लोग बुभुक्षु थे, भोग ही जिनके लिए प्राप्तव्य था, वे लोग अपनी कामनाओं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए उस वेद-विद्या का ही आश्रय लेते रहे। किन्तु आवागमन के चक्र से विमुक्त होने के लिए जन्म-मरण रूप संसार की यातना से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त करने के लिए तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने ब्रह्मविद्या का प्रकाश किया। उसके द्वारा उन्होने स्वयं मृत्यु का अतिक्रमण कर अमरत्व को प्राप्त किया और आने वाले मुमुक्षुओं को सतर्क करते हुए आदेश दिया—

वेदाहमेतं पुरुषं म्हान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(श्वेता० ३।८)

"तमरूपा इस प्रकृति से परे परम प्रकाशस्वरूप उस परमात्मा को मैं जानता हूँ, और जो उस परम तत्त्व को जानेगा वही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकेगा, इसके लिए और कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" इसलिए जो कोई मृत्यु से मुक्त होना चाहे, अज्ञान से मुक्त होना चाहे, दुःख से मुक्त होना चाहे, वह उस परम प्रकाशस्वरूप परमात्मा को जानने का प्रयत्न करे। बिना उसका साक्षात्कार किए मृत्यु,दुःख और अज्ञान से छुटकारा नहीं मिल सकता।

जिस परमात्मा को जानकर हम अमरत्व को प्राप्त कर सकते हैं, वह परमात्मा इस विश्व के प्रत्येक कण में व्याप्त है, उसको ढूँढने कहीं अन्यत्र नहीं जाना है। उपनिषद् कहती है—

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।

(श्वेता० ६।१५)

एक हंस अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमात्मा इस सम्पूर्ण भुवन में उसी प्रकार से व्याप्त है जिस प्रकार से जल में अग्नि व्याप्त है। उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण दृश्य जगत् में परमात्मा सन्निहित है, परिव्याप्त है, ठीक उसी प्रकार से यथा **''सलिले अग्निः सन्निविष्टः''** जिस प्रकार से जल में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार से जगत् में परमात्मा व्याप्त है। ऋषियों के द्वारा दिए गए इस उदाहरण से हमें यह भी ज्ञात होता है कि हज़ारों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों को इस वैज्ञानिक रहस्य का पूर्ण बोध था कि जल अग्नि का ही परिणाम है और जल के प्रत्येक कण में अग्नि सन्निहित है। उदाहरण भी बहुत सटीक है। जैसे जल और अग्नि सामान्य दृष्टि से दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण-धर्म वाले हैं, दोनों का कहीं मेल दिखाई नहीं देता बल्कि दोनों ही विपरीत गुण-धर्म वाले हैं, किन्तु तत्त्वतः जल अग्नि का ही परिणाम है, अतः जल के प्रत्येक कण में अग्नि व्याप्त है, ठीक उसी प्रकार से दृश्य जगत् और अदृश्य परमात्मा दोनों के गुण-धर्म भिन्न-भिन्न हैं, दोनों एक-दूसरे से विपरीत गुण-धर्म वाले हैं, किन्तु यह विराट् विश्व उस ब्रह्म का ही परिणाम है और वह ब्रह्म इस विश्व के कण-कण में सन्निहित है। इसकी अनुभूति होने पर ही उस परम सत्य का ज्ञान होगा जिसको जान कर मृत्यु, अज्ञान तथा दुःख के भय से सदा के लिए मुक्त हुआ जाता है।

यदि जनसामान्य से कहा जाए कि जल में अग्नि व्याप्त है तो यह तथ्य उनकी समझ में नहीं आएगा, किन्तु इस रहस्य का उद्घाटन तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने किया और इस उदाहरण से ब्रह्म के जिज्ञासु साधकों को समझाया कि जिस प्रकार जल में अग्नि व्याप्त है इसी प्रकार जगत् में परमात्मा व्याप्त है। इस रहस्य को जानकर इसका अनुभव करके ही मृत्यु से मुक्त हुआ जा सकता है और कोई अन्य उपाय नहीं है। यहाँ पर आप लोगों को एक बात और समझा देना चाहता हूँ, उसे गम्भीरता से श्रवण कीजिए। मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है, मरना कोई नहीं चाहता और मृत्यु से बचते हमने किसी को देखा नहीं, हमें कोई अमर दिखाई नहीं देता। जिन्हें हम देख रहे हैं वे सभी मरने वाले हैं। हमारे सामने अनेकों मर चुके हैं, अनेकों मर रहे हैं और अनेकों मर जाएँगे, फिर भी हमें यह विश्वास है कि हम मरेंगे नहीं, यह कैसी विचित्र बात है! यह एक गम्भीर प्रश्न है जिसका यथार्थ उत्तर प्राप्त किए बिना हम शान्त नहीं हो सकते। यह बात निश्चित है कि जो वस्तु कारण में नहीं है वह कार्य में नहीं हो सकती। सत्कार्यवाद के इस सिद्धान्तानुसार हम इस प्रश्न के समाधान करने की दिशा में यदि आगे बढ़ें तो सफलता प्राप्त हो सकती है।

यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि हमें अमृत-तत्त्व की नित्य चाह है। अमर

होने की इस चाह को बिना पूर्ण किए किसी भी अवस्था में मिटा नहीं सकते और साथ ही इस दुनिया में अमर होते हुए हमने किसी को देखा भी नहीं है। प्रश्न यह होता है कि सृष्टि के मूल में यदि कोई अमृत-तत्त्व न होता तो क्या हमें अमृत-तत्त्व की चाह हो सकती थी? अमृत-तत्त्व की चाह ही इस बात को सिद्ध कर रही है कि इसके मूल में एक नित्य अमृत-तत्त्व अवश्य ही प्रतिष्ठित है। जिसकी हमारे अन्तर्तम में चाह होती है वह तत्त्व अवश्य ही विद्यमान होता है। जिस प्रकार से प्यास पानी की सत्ता को, भूख अन्न की सत्ता को प्रमाणित करती है, ठीक उसी प्रकार अमरत्व की चाह ही नित्य अमृत-तत्त्व की सत्ता को प्रमाणित करती है। ऋषियों ने इस तथ्य का अनुसंधान करते हुए इस रहस्य का उद्‌घाटन किया है कि अमृत और मृत, अविनाशी और नाशवान्,ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। अविनाशी आत्मा और नाशवान् शरीर है। अमरत्व की चाह शरीर की नहीं, आत्मा की चाह है। मृत्यु का भय शरीर को नहीं, आत्मा को है क्योंकि यथार्थतः वह मृतधर्मा नहीं है, शरीर के साथ तादात्म्य होने के कारण मृतधर्मा शरीर के धर्म को स्वयं में आपोरित करके भयभीत होता रहता है। इस भय में उसकी अबोधता, अज्ञानता ही कारण है; यथार्थतः उसकी मृत्यु की कल्पना ही निरर्थक है।

अमरत्व की चाह आत्मा की चाह है, चेतन की चाह है। मृत्यु का तांडव, परिवर्तन का क्रम चेतन में नहीं, प्रकृति में है। वेदान्त की यही यथार्थ दृष्टि है। ऋषियों के अनुसंधान का यही परिणाम है। प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन, शरीर और शरीरी के यथार्थ गुण-धर्म का ज्ञान न होने के नाते ही मृत्यु का भय और उससे बचने की सारी कोशिश की जाती है। इन दोनों के यथार्थ स्वरूप का बोध होने पर इस प्रयत्न की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। यहाँ पर इस बात को और स्पष्ट कर देना मैं आवश्यक समझता हूँ क्योंकि जनसामान्य की दृष्टि में शरीर और शरीरी के गुण-धर्म को अलग-अलग कर पाना, समझ पाना सरल बात नहीं। जिस प्रकार हम बिना बल्ब के विद्युत के प्रकाश को प्राप्त नहीं कर पाते, किन्तु बल्ब को ही उस प्रकाश का हेतु मान लेना हमारी भूल होगी, जिस प्रकार से ईंधन के बिना हम अग्नि को प्राप्त नहीं कर पाते, किन्तु ईंधन को ही अग्नि समझ लेना एक महान् भ्रान्ति है, ठीक उसी प्रकार से यद्यपि शरीर के बिना हमें शरीरी वा आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता, किन्तु शरीर को ही आत्मा मान लेना एक महान् भ्रम है। बल्ब माध्यम है प्रकाश को प्राप्त करने का, ईंधन माध्यम है अग्नि को प्रकट करने का, ठीक उसी प्रकार से शरीर माध्यम है आत्मा के प्रकट होने का, यह वेदान्त का सिद्धान्त है। जिस प्रकार प्रकाश की प्राप्ति में बल्ब सहायक है, अग्नि की प्राप्ति में ईंधन सहायक है, ठीक उसी प्रकार से आत्मा की अनुभूति में यह शरीर भी सहायक है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।

इस शरीर के तीन विभाग हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। दृश्य शरीर अन्नमय

व प्राणमय कोश स्थूल शरीर है; मनोमय, विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर है और आनन्दमय कोश कारण शरीर है। आत्मा पंचकोशों से परे इनका प्रकाशक सर्वथा इनसे विपरीत गुण-धर्म वाला है। इस रहस्य का बोध होने पर ही हम मृत्यु के भय से विमुक्त हो अमृत तत्त्व के अधिकारी बन सकते हैं, अन्यथा नहीं, उपनिषद्-विद्या, ब्रह्मविद्या इस रहस्य का उद्घाटन करती है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि क्या इन आँखों से इस सत्य को देखा जा सकता है? क्या वैज्ञानिक विधि से निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा इस रहस्य को जन-सामान्य के समक्ष उद्घाटित किया जा सकता है? वेदान्त कहता है---नहीं। तुम इन्द्रियों के सहारे से, इन्द्रियों की शक्ति को कुछ अंश में वृद्धि प्रदान करने वाले यन्त्रों के सहारे से, इस रहस्य को जान नहीं सकते, देख नहीं सकते। इस सृष्टि में जो कुछ भी इन्द्रियों के द्वारा तुम देख रहे हो, जान रहे हो वह सत्य नहीं। सत्य क्या है? इसका उद्घाटन करने में तुम्हारी इन्द्रियाँ सक्षम नहीं हैं। उपनिषद् का यह कथन है-कि जो कुछ तुम देख रहे हो वह सत्य नहीं है और जो सत्य है उसको तुम देख नहीं पा रहे। इस बात को युक्ति के द्वारा समझने की कोशिश कीजिए। जैसे आप जब किसी भी व्यक्ति या वस्तु को देखते हैं तो उसमें आपको दो चीजें दिखाई देती हैं—आकृति और रंग। यह सर्वमान्य सत्य है कि रंग किसी वस्तु वा व्यक्ति का गुण नहीं, वह प्रकाश का गुण है; और आकृति भी किसी व्यक्ति और वस्तु का गुण नहीं, वह रेखा का परिणाम है। जिस रूप और रंग को देखकर आप व्यक्ति और वस्तु की सत्यता वा स्थिति को स्वीकार कर रहे हैं, यथार्थतः वे दोनों ही उसके गुण और धर्म नहीं हैं; यह बात अब आपकी समझ में आ गई होगी। ऐसी स्थिति में क्या आप दावे के साथ कह सकते हैं कि जो कुछ भी हम देख रहे हैं वह सत्य है?

वेदान्त कहता है कि जो कुछ भी आप देख रहे हैं वह है नहीं और जो कुछ है उसे आप देख नहीं पा रहे हैं। अपनी आँखों के द्वारा हम उस सत्य को देख नहीं सकते जो उस आकृति और रंग के पीछे छिपा हुआ है। हमारी आँखें केवल रंग और आकृति ही देख सकती हैं, इसलिए उन पर विश्वास करना स्वयं को धोखा देने के सिवा और कुछ नहीं है। आजकल प्रायः लोग कह दिया करते हैं—जिसको हमने अपनी आँखों से नहीं देखा उसको हम स्वीकार नहीं कर सकते। कितने आश्चर्य की बात है! जो आँखें केवल कुछ होने मात्र का संकेत कर सकती हैं, कुछ वह क्या है, इसके यथार्थ को दिखा देने में सर्वथा असमर्थ हैं, उन पर हमें इतना विश्वास है। हमारी आँखें जो कुछ देखती हैं वही सत्य है—यह एक महान् भ्रान्ति है। हमें सूर्य एक बड़े गेंद के समान दिखाई देता है, हम अपनी पृथ्वी को एक विस्तृत, समतल चपटे रूप में देख रहे हैं। हम सूर्य को सवेरे उदय होते हुए और शाम को डूबते हुए देखते हैं, क्या यह सभी कुछ सत्य है? नहीं, सत्य सर्वथा इसके विपरीत है। सूर्य

इस पृथ्वी से करोड़ों गुणा बढ़ा है, उसकी समग्रता को, उसकी विशालता को हमारी आँखें नहीं देख सकतीं। वह धधकता हुआ अग्नि का पुँज है। उसमें हज़ारों मील लम्बी अग्नि की लपटें निकला करती हैं। हम अपनी खाली आँखों से यह सब-कुछ देख नहीं सकते, जान नहीं सकते। भला जब स्थूल तत्त्वों को ही देखने में आँखें सक्षम नहीं तो उस सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परम तत्त्व को इन आँखों से कैसे देखा जा सकता है? श्रुति कहती है कि वह परम तत्त्व मन और वाणी से भी परे है। अभिप्राय यह कि इन दोनों के द्वारा उसे देखा और जाना नहीं जा सकता।

सामान्य स्तर पर ज्ञान-प्राप्ति के दो प्रकार के साधन स्वीकार किए गए हैं—बाह्यकरण और अन्तःकरण। बाह्यकरणों से प्राप्त होने वाले ज्ञान को दृष्ट तथा श्रुतज्ञान कहते हैं और अन्तःकरण से प्राप्त होने वाले ज्ञान को अनुमित ज्ञान कहा जाता है। उस यथार्थ का बोध कराने में श्रुत और अनुमित दोनों प्रकार के साधन असमर्थ हैं। यह याद रखना है कि हमारा अनुमित ज्ञान दृष्ट वा श्रुत ज्ञान पर ही अवलम्बित होता है, इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान अधूरा होने से उस पर अवलम्बित अनुमित ज्ञान अधूरा भी होता है। ब्रह्मविद्या प्रतिपादित वह तत्त्वज्ञान बाह्य इन्द्रियजन्य तथा अन्तर् अनुमित दोनों प्रकार के ज्ञानों से परे है, उसे अनुभूत ज्ञान कहते हैं। वह आत्मज्ञान है, वह बाह्य साधनों पर अवलम्बित नहीं, वह साधक के स्वयं का ही स्वरूप है।

ब्रह्मविद्या अनेक प्रकार के उदाहरणों से उस यथार्थ ज्ञान का अवबोधन कराती है और उसके अनुभव की विधि बताती है। वेदान्त का कथन है—यह चराचर जगत् ईश्वर से परिपूर्ण है, ठीक उसी प्रकार से जैसे मिठास से मिश्री परिपूर्ण है, जैसे क्षार से नमक परिपूर्ण है, अग्नि से जल परिपूर्ण है, उसी प्रकार से यह विश्व परमात्मा से परिपूर्ण है, परिव्याप्त है। मिश्री और मिठास, नमक और खारेपन का उदाहरण आसानी से समझ में आ जाता है, किन्तु जल और अग्नि का उदाहरण सरलता से समझ में नहीं आता । वर्तमान में वैज्ञानिक अनुसंधान ने इस उदाहरण को समझने में भी बड़ी सुगमता प्रदान कर दी है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार कारण अपने कार्य में निहित होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को कारण और इस सम्पूर्ण सृष्टि को कार्य बताया गया है। यह विराट् विश्व परमात्मा का ही अभिव्यक्त रूप है—यह वेदान्त की घोषणा है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।।

(तैत्ति० २-१-३)

उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से

जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधि, ओषधि से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। अतः निश्चय ही यह पुरुष-शरीर अन्नरसमय है। इस क्रम में यह बात समझाई गई है कि पाँचों महाभूत क्रमशः एक-दूसरे से कार्य-कारण-सम्बन्ध रखते हैं यद्यपि उनके गुण, स्वभाव, स्वरूप आपस में मेल नहीं खाते।

छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टि के मूल हेतुओं को पंचमहाभूतों के रूप में नहीं बल्कि तीन तत्त्वों के रूप में वर्णित किया गया है। वे तीन तत्त्व हैं तेज, अप और अन्न। उस क्रम में तेज से अप और अप से अन्न की उत्पत्ति बताई गई है। वैज्ञानिक भाषा में इसे गैसिस, लिक्विड और सॉलिड कहते हैं। तेज तत्त्व गैसिस है, तरल तत्त्व अर्थात् अपस्-तत्त्व लिक्विड है और अन्न-तत्त्व सॉलिड है। इनका आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध है। अन्न अपस् का परिणाम है और अपस् तेज का। दूसरे शब्दों में तेज अपस् में सन्निहित है और अपस् अन्न में; यही वर्तमान के विज्ञान का भी कथन है। जैसे बिना कारण के कार्य की सत्ता नहीं, वैसे बिना तेज के अपस् की सत्ता नहीं। वह अपस् तत्त्व ही जल है और तेज तत्त्व ही अग्नि। यदि यह कहा जाए कि अग्नि ही जल रूप में प्रकट है तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार से अग्नि और जल का सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार से परमात्मा और विश्व का सम्बन्ध है। इस यथार्थ का बोध कराने के लिए ही ईशोपनिषद् की श्रुति कहती है— **''ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्''** । इससे आप लोग समझ गए होंगे कि यह उदाहरण कितना वैज्ञानिक और सटीक है।

यहाँ पर एक बात और बता देना असंगत न होगा कि सृष्टि में जो कुछ जल-तत्त्व दिखाई दे रहा है इसका स्रोत सूर्य की किरणें हैं और सूर्य अग्नि का ही प्रचण्ड स्वरूप है। आकाश में ऑक्सीजन और हाइड्रोजन यह सूर्य की किरणों का ही परिणाम है, जिसके सहयोग से जल की सृष्टि हुई है। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि यह कहा जाए कि ऑक्सीज़न, हाइड्रोजन ये दोनों आग्नेय तत्त्व हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। जिस प्रकार से पृथ्वी का कारण जल है, जल का कारण अग्नि है, इसी रूप से अग्नि का कारण वायु और वायु का कारण आकाश है। यह बात याद रखना कि आकाश माने शून्य नहीं होता क्योंकि उपनिषद् कहती है आत्मा से आकाश का आविर्भाव हुआ है। 'काश' धातु में 'आ' उपसर्ग लग कर आकाश शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है पूर्णरूप से चमकने वाला। इंग्लिश में इसे ईथर कहते हैं। ईथर वह तत्त्व है जो शून्य में भरा हुआ होता है। वह ऊर्जा का स्रोत है। विज्ञान की भाषा में जिसे ऊर्जा कहते हैं वही उपनिषद् में आकाश शब्द से वर्णित है। जैसे ऊर्जा सीमा-रहित, भार-रहित, आकार-रहित एक सत्तात्मक तत्त्व है, इसी प्रकार से आकाश भी सीमा-रहित, भार-रहित और आकार-रहित है। समस्त दृश्य तत्त्वों का कारण आकाश ही है और यह आकाश वा ऊर्जा उस परमात्मा से ही आविर्भूत हुआ अथवा अभिव्यक्त हुआ है। परमात्मा आकाश का नियन्ता है क्योंकि आकाश से उत्पन्न होने वाले वायु

से लेकर पृथ्वी तथा प्राणी-पर्यन्त सारे परिणाम अनियन्त्रित वा अव्यवस्थित नहीं, वे नियमबद्ध ही हुआ करते हैं और यह नियमन किसी नियन्ता के बिना हो नहीं सकता।

वर्तमान के महान् वैज्ञानिक आइन्सटाईन ने भी इसी सत्य की घोषणा की है। वह कहता है सृष्टि में सर्वत्र नियम और व्यवस्था का दर्शन होता है और किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिशाली नियन्ता के अभाव में इस प्रकार का नियमन एवं व्यवस्था सम्भव नहीं है, अतः जो इस सृष्टि का नियामक और व्यवस्थापक सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ सत्ता है वही परमात्मा है। वेदान्त कहता है वह परमात्मा ही इस सम्पूर्ण सृष्टि का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण है। मुण्डकोपनिद् की श्रुति कहती है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।। (मु० २-१-३)

उस परमात्मा से ही प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी का आविर्भाव हुआ है। दूसरे शब्दों में वह ब्रह्म ही सर्व रूपों में प्रकट हुआ है। कार्य में कारण सदैव निहित रहता है, यह विज्ञान का मन्तव्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा निहित है, क्योंकि यह सब उसी से प्रकट हुआ है। जैसे कारण के अभाव में कार्य का अस्तित्व नहीं होता, ठीक उसी प्रकार से परब्रह्म परमात्मा के अभाव में इस सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आकाश से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त सृष्टि को सर्ग कहते हैं और अनेक प्रकार की योनियों में उत्पन्न होने वाली जैवी सृष्टि को विसर्ग कहते हैं। उपनिषद् कहती है सर्ग और विसर्ग दोनों रूपों में परमात्मा ही प्रकट है **''तद्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्''** समस्त नाम-रूपों की रचना करके वह स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया।

इस रहस्य को गर्भ-विज्ञान के द्वारा और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। जो कुछ भी हम खाते हैं वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है जिसे हम मल, मूत्र और रस कहते हैं। मल और मूत्र अधो इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल जाता है और रस क्रमशः रक्त, मांस, वसा, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य के रूप में परिणत होकर आगे नवीन सृष्टि में कारण बनता है। इस सृष्टि क्रम में रस से लेकर वीर्य तक जो कि अन्न का ही परिणाम है सामान्य दृष्टि से जड़ रूप में ही दिखाई देता है। वीर्यगत स्पर्म और क्रोमोसोम्ज़ इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे इन नंगी आँखों से हमें दिखाई नहीं देते किन्तु वही वीर्यगत क्रोमोसोम्ज़ जब नारी के रज गत अंड के साथ सम्बन्धित होते हैं तो एक बुदबुदे (कलिल) का निर्माण करते हैं और वह कलिल कुछ दिनों बाद एक ठोस पिंड के रूप में परिवर्तित हो जाता है, एक सैल-सा बन जाता है, जिसे गर्भ कहते हैं। उस सैल में ही क्रमशः सिर, धड़ और विभिन्न अंगों का आविर्भाव होता है। यदि उसे सैल की अवस्था में निकाल कर तोड़ा जाए तो मांस-पिण्ड के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा किन्तु वही कुछ दिनों बाद धीरे-धीरे एक जीवित शिशु

का रूप धारण कर लेता है। रस और उससे बना हुआ वीर्य एक तरल तत्त्व है किन्तु उस वीर्य और रज से बना हुआ डिम्ब एक सोलिड (ठोस) रूप धारण कर लेता है। उस ठोस सैल से ही धीरे-धीरे सिर निकलता है, धड़ निकलता है, हाथ निकलता है, पाँव निकलता है, इस प्रकार से एक विशिष्ट आकृति में परिणत हो जाता है। तीन मास बाद धीरे-धीरे उसमें स्पन्दन शुरू होता है और पाँचवें महीनें में उसमे श्वास की क्रिया शुरू हो जाती है और नौ मास बाद वह तरल वीर्य, वही ठोस अंड एक चेतन प्राणी के रूप में जन्म ले लेता है।

इस क्रम से यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि तेज से अप, अप से अन्न वा दूसरे शब्दों में गैसिस से लिक्विड और लिक्वड से सॉलिड रूप में किस प्रकार से परिवर्तित होता है और यह भी समझ में आ जाता है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन जड़ के माध्यम से प्रकट हो किस प्रकार से ज्ञानी, विज्ञानी, प्रज्ञानी आदि अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यह कौन कल्पना कर सकता है कि एक बूँद गन्दे जल से निकला हुआ एक कीटाणु इतने महान् पुरुषरूप में प्रकट हो जाएगा! लेकिन यह सत्य है। श्रुति कहती है—''**स चानन्त्याय कल्पते**'' अर्थात् जीवात्मा बाल की नोक के हज़ारवें भाग के समान सूक्ष्म है, किन्तु उसमें अनन्त होने की सम्भावना निहित है।

आपने गर्भ विज्ञान के विवेचन से पिण्डगत चेतन की स्थिति को अच्छी प्रकार से समझ लिया होगा। वैज्ञानिक कहता है कि एक बूँद वीर्य में पाँच अरब जीवाणु होते हैं, उनमें से एक जीवाणु नारी के अण्ड से मिल करके गर्भरूप में परिणत होता है और वही अंग-प्रत्यङ्गों से युक्त हो मनुष्यरूप में प्रकट होता है। जैसे सूक्ष्मतम जीवाणु में विशाल शरीर को प्रकट करने की क्षमता निहित होती है, ठीक उसी प्रकार उसके कारणरूप निर्गुण, निराकार, सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा में अनन्त ब्रह्माण्ड को अभिव्यक्त करने की क्षमता निहित है। वा यूँ कहिए कि जैसे वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव अपनी शक्ति से अनन्त परमाणुओं के संघातरूप शरीर का सृजन कर चेतनारूप से उसमें परिव्याप्त हो उसके माध्यम से प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा स्वाश्रित प्रकृति के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना कर सत्तात्मक रूप से उसमें परिव्याप्त हो विराट् रूप में स्वयं को प्रकट करता है।

इस यथार्थ को समझाने के लिए ही वेद कहता है—''**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**'' सृष्टि का प्रत्येक कण, प्रत्येक परमाणु ईश्वर से परिव्याप्त है। इसका कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो उस ईश्वर से रहित हो। जैसे अन्न में रस और रस में तेज व्याप्त है, जैसे बर्फ में जल व्याप्त है, ठीक उसी प्रकार से इस विश्व में परमात्मा परिव्याप्त है। जैसे जल जब बर्फरूप में परिणत हो जाता है तो उसे कपड़े में बाँध कर भी ले-जाया जा सकता है; स्वरूप-परिवर्तन होने से उसके गुण-धर्म में परिवर्तन की प्रतीति होने लगती है, किन्तु तत्त्वतः उसमें कोई अन्तर नहीं

पड़ता। ठीक उसी प्रकार से विश्वरूप में अभिव्यक्त हुए परमात्मा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं। यद्यपि परमात्मा के गुण-धर्म से जगत् का गुण-धर्म सर्वथा भिन्न-सा प्रतीत होता है किन्तु है वह परमात्मा की ही अभिव्यक्ति, इसमें सन्देह नहीं। यह सत्य है कि हमारी सामान्य-स्तर की बुद्धि इस सूक्ष्म सत्य को एकाएक न समझ सके, फिर भी इन अनेक उदाहरणों से उपनिषदों में यह बात समझाई गई है जो सर्वथा युक्तियुक्त, तर्कसम्मत तथा ग्राह्य है।

हम जिस संसार में रहते हैं, यहाँ ही बहुत-से ऐसे तत्त्व हैं जिनको हम जान नहीं पाते, समझ नहीं पाते और अनुभव नहीं कर पाते। इसका अभिप्राय यह नहीं कि जो हमारी जानकारी, समझ और अनुभूति से परे है वह सत्य नहीं है। मैं आप लोगों को अपने जीवन की ही एक घटना सुना रहा हूँ। बात १९६२ की है। उन दिनों मैं हिमालय का भ्रमण कर रहा था। विभिन्न स्थानों पर होता हुआ मैं केदारनाथ पहुँच गया। उन दिनों मैं वस्त्र नहीं पहनता था। केवल कोपीन और एक पटुका बाँधता था। केदारनाथ में जाने पर सामने एक बहुत ऊँचा शिखर दिखाई दिया। शिखर के नीचे एक बहुत बड़ी झील है। मेरी रुचि हुई कि मैं जाकर झील के दर्शन करूँ। मेरे साथ एक जैन सम्प्रदाय के सन्त तथा मेरे शिष्य मेहरसिंह थे। जब हम कुछ दूर चोटी की तरफ चढ़े, ऑक्सीजन की कमी से मेहरसिंह का दम घुटने लगा। वह घबरा कर वहीं बैठ गया और कहने लगा कि इससे आगे अब नहीं जाना चाहिए; किन्तु मेरे को ऐसा कुछ भी भान नहीं हुआ और उसे वहीं छोड़ कर मैं आगे चढ़ने लगा। सन्त ने कहा— भैया! आप आगे न जाएँ लेकिन मैं अपनी धुन का पक्का था। उनसे कहा—यदि आप नहीं चल सकते तो आप भी यहीं बैठ जाइए। मेरा निश्चय देख कर वह सन्त मेरे साथ हो लिये। मैंने अपनी खड़ाऊँ वहीं छोड़ दीं; चढ़ते हुए झील के किनारे पहुँच गया। सन्त ने कहा कि अब इससे आगे जाने की हिम्मत नहीं और आगे जाना खतरे से खाली नहीं है, किन्तु ईश्वरीय प्रेरणा कुछ और ही थी। सन्त को वहीं छोड़ कर मैं आगे शिखर पर चढ़ने लगा। चढ़ने के लिए कोई रास्ता नहीं था। मैंने बन्दर की तरह हाथ और पाँव दोनों से चलना शुरू किया। कुछ घण्टों के बाद उस शिखर पर पहुँच गया।

शिखर के ऊपर एक छोटी-सी चट्टान थी—बिल्कुल बिन्दु प्वाइण्ट के ऊपर। उस चट्टान पर चढ़ने के पश्चात् मैंने देखा कि उसके दूसरे भाग में हज़ारों फुट की खाई है और वह सारा-का-सारा पहाड़ ग्लेशियर के सिवा और कुछ नहीं। जिधर से मैं चढ़ा था उधर बहुत ही झीना मिट्टी का परत जैसा लगा हुआ था। वह दृश्य अपने में ही अद्भुत और अनुपम था। उस समय मुझे ऐसा भान होता था कि मेरा शरीर सर्वथा भारहित है; ऐसा लगता था केवल वायवीय तत्त्वों से ही इस शरीर का निर्माण हुआ है। मैं उस चट्टान पर पद्मासन से बैठ गया। उसके पश्चात् जो कुछ हुआ वह

अवर्णनीय है। कई घण्टों के बाद धीरे-धीरे चेतना लौटी; देखा तो अँधेरा हो रहा था। कुछ देर के बाद शरीरस्थ होने पर नीचे उतरने का संकल्प हुआ। रास्ता कोई था नहीं। एक तरफ हज़ारों फुट गहरी खाई और दूसरी तरफ तीखी ढलान। उतरने के लिए केवल एक ही उपाय था कि मैं उस बीच की धार से होकर नीचे उतरूँ। शरीर में वज़न तो था नहीं, इसलिए गिरने आदि का भय नहीं था। मैं दोनों हाथों को फैलाकर बैलेंस करते हुए बड़ी गति के साथ नीचे उतरता आया। जिस शिखर पर मैं बैठा था वह लगभग १८ हज़ार फुट की ऊँचाई पर था। वहाँ से लौट कर दो हज़ार फुट नीचे आया तो ऐसा लगा कि शरीर में कुछ भार हो गया है। जैसे-जैसे नीचे उतरता आया, शरीर भारयुक्त होता गया। उन दिनों मैदानी इलाकों में मेरी चलने की गति बड़ी तेज़ हुआ करती थी। लगभग १५ मील प्रति घण्टा की चाल से मैं चल लेता था। यह सब विशेष प्राणायाम की प्रक्रिया का परिणाम था। लगभग एक घण्टे में मैं वहाँ से उतर कर केदारनाथ में आ गया जो कि लगभग बारह हज़ार फुट की ऊँचाई पर है। वहाँ पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि रात्रि के दस बज गए हैं। जिनको हम छोड़कर गए थे, वे सभी मेरे विषय में अनिष्ट की आशंका से भयभीत और चिन्तित थे। मेरे सकुशल लौट आने पर उन्होंने सन्तोष की साँस ली।

जो कुछ भी मैंने उस शिखर पर पहुँचकर अनुभव किया, वह जन-सामान्य की कल्पना से सर्वथा परे है। स्थूल शरीर के विषय में वहाँ जो मेरी अनुभूति हुई वह भी एक अद्भुत-सी बात है। मेरे कहने का अभिप्राय है जिस बात को सभी न समझ सकें, अनुभव न कर सकें वह केवल काल्पनिक वा मिथ्या नहीं कही जा सकती। अतः सर्वरूप में व्याप्त उस परमात्मा की अनुभूति यदि सर्वसामान्य को नहीं हो रही तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि परमात्मा नहीं है। उपनिषद् इस गुह्यतम रहस्य को अनुभव करने का मार्ग बताती है और यह घोषणा करती है कि जब तक तुम उस परम तत्त्व का अनुभव नहीं कर लेते, तब तक तुम्हें नित्य सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि ब्रह्म तो निराकार है, इससे यह साकार जगत् कैसे पैदा हो सकता है? इस विषय में अभी मैंने आप लोगों को एक उदाहरण देकर बताया है कि तेज निराकार तत्त्व है, उससे यह साकार शरीर किस प्रकार से प्रकट हो जाता है। आप एक बरगद के विशाल वृक्ष को देखिए, उसके कारण का पता लगाइए और अनुसन्धान कीजिए कि यह विशाल वृक्ष कहाँ से और कैसे पैदा हो गया। राई के दाने से भी सूक्ष्म वट का बीज होता है और उस बीज के भीतर दो भाग होते हैं जिनको सूक्ष्मतम दालों के रूप में आप समझ सकते हैं। उन दो फाँकों के मध्य में सूक्ष्मतम आकाश है और उस आकाश में निहित जो तेज तत्त्व है, यथार्थतः उसी को बीज क़हते हैं। बीज की दो फाँकें और उसके ऊपर लिपटा आवरण, जो उसे एक दाने के रूप में प्रकट कर रहा है, यथार्थतः यह सब बीज नहीं है। यह तो

उस बीज का खोल मात्र है। बीज तो आवरण के अन्तर्निहित दो फाँकों के मध्य में जो सूक्ष्मतम आकाश है, उस आकाश में निहित तेज तत्त्व ही है। उस बीज से ही यह विशाल वट वृक्ष प्रकट हुआ है। यदि किसी से पूछा जाए कि दाल के मध्य में जो आकाश है वह क्या है? तो उसका यही उत्तर होगा कि वह कुछ नहीं है। क्या उसको देखा जा सकता है? नहीं, सर्वथा असम्भव है।

वह जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अनिर्वचनीय है, जिसकी हम कोई व्याख्या नहीं कर सकते, जिसको हम किसी को दिखा नहीं सकते, वही छोटे-से दाने के मध्य में निहित आकाशगत तेज इस विशाल वट वृक्ष का कारण है। जैसे उस कुछ नहीं से, उस निराकार से ही यह साकार वट वृक्ष पैदा हुआ है, ठीक उसी प्रकार से उस निर्गुण निराकार परमात्मा से ही यह सगुण-साकार विराट् विश्व प्रकट होता है। इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए उपनिषद् कहती है **''असद्वा इदमग्र आसीत्।। ततो वै सदजायत।।''** जिसका अभिप्राय होता है—अदृश्य से ही दृश्य प्रकट हुआ है। यहाँ असत् शब्द का अभिप्राय अदृश्य से है। जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अस्पर्श है, अगोचर है, उसी से यह दृश्य, ग्राह्य, स्पर्श, गोचर विश्व प्रकट हुआ है। यदि यह कहा जाए कि वह स्वयं ही इस जगत् रूप में प्रकट है तो असत् न होगा। गीता में भगवान् ने स्वयं इसकी घोषणा की है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। (गीता ७।६)

''इस सम्पूर्ण जगत् के रूप में मैं ही स्वयं को प्रकट कर पुनः समेट लेता हूँ।'' यह आविर्भाव और तिरोभाव रूप में परमात्मा की ही क्रीड़ा चल रही है। ऋग्वेद कहता है—**''पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्''** जो था, है और होगा वह सब परमात्मा ही है। उसी से यह विराट् प्रकट हुआ है **''ततो विराद् जायेत्''** तैत्तिरीय की श्रुति कहती है—यह सम्पूर्ण विश्व जिससे प्रकट होता, जिसमें स्थित है और अन्त में जिसमें विलीन होकर अवस्थित होता है, वही ब्रह्म है।

श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है उस ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जाता है, दूसरा कोई उपाय नहीं। उसी परमतत्त्व के विषय में ईशावास्य उपनिषद् की घोषणा है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

यत्किंच कहने का अभिप्राय है कि इस विश्व का एक कण भी यदि उससे रहित स्वीकार कर लिया जाए तो वह ईश्वर अनन्त नहीं, सान्त अथवा सीमित हो जाएगा, क्योंकि जितनी मात्रा में उस कण का अस्तित्व है उतनी मात्रा में ईश्वर नहीं है, दो की भिन्न-भिन्न सत्ता स्वीकार करते ही दोनों ही एक-दूसरे को सीमित बना देते हैं। श्रुति कहती है—जो अनन्त है वही अविनाशी है; जो सीमित है वह अविनाशी नहीं, नाशवान् है। जो नाशवान् है वह कारण नहीं, कार्य है; इसलिए उसके कारण की

खोज करनी चाहिए, क्योंकि कारण सदैव असीम, अनन्त और अद्वैत होता है, वहाँ किंचित् मात्र भी द्वैत के लिए गुंजाइश नहीं होती, इसलिए यत्किंचित् शब्द यहाँ सार्थक प्रयोग हुआ है। उपनिषद् के अनेक मन्त्रों से तथा वैज्ञानिक उदाहरणों से आप लोगों को यह बात समझाई गई है कि यह सम्पूर्ण जगत् परमेश्वर से परिव्याप्त है, क्योंकि यह सब उसी की अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में जड़-चेतनात्मक रूप में वह परमेश्वर ही प्रकट हुआ है; सर्वप्रथम साधक को यह स्वीकार कर इस भावना को दृढ़ करना है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपनी रामायण में इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
सबके पद बंदन करउँ जथा जोरि जुग पानि ।।

× × ×

सीय राममय सब जग जानि। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानि।।

साधक के लिए, जिज्ञासु के लिए सर्वप्रथम इस ईश्वरीय भाव से स्वयं को भावित करना और इसमें दृढ़ आस्था रखते हुए उस परम सत्य की अनुभूति के लिए प्रयत्न करना जीवन का सर्वस्व है।

आज के प्रसंग में ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र के प्रथम अंश का विवेचन करते हुए आप लोगों को तर्क के द्वारा, युक्ति के द्वारा, विज्ञान के द्वारा, उदाहरण के द्वारा अनेक प्रकार से इस तथ्य को समझाने का प्रयत्न किया गया है कि ''**ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्**''। इतनी बात समझने के पश्चात् फिर इसके आगे का चरण ''**तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य-स्विद् धनम्**'' इस आदेश को आप समझ पाएँगे, जिस पर आगे कल विचार किया जाएगा।

□□

३

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोगों को कल वेद के सारभूत ब्रह्मविद्या के मूलाधार ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र के प्रथम अंश की व्याख्या सुनाई गई थी जिसका आशय था कि यह सारा जगत् परमेश्वर से परिव्याप्त है, **''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्''।** ईशा शब्द का अर्थ होता है ईशन करने वाला, शासन करने वाला। ईश शासने धातु से ईशा शब्द बना है; जिसका अर्थ होता है शासन करना। अभिप्राय यह कि इस गतिशील चराचर जगत् पर जो शासन करने वाला है, ईशन करने वाला है, वह ईश्वर इस जगत् के प्रत्येक अंश में परिव्याप्त है। आगे का चरण है—**''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''** जिस ईश्वर की अभिव्यक्ति ही विश्वरूप में हुई है, जो इसके कण-कण में व्याप्त है, उस ईश्वर के द्वारा प्रदत्त साधनों का आसक्ति-रहित होकर उपभोग करें-यह इस अंश का मुख्य सन्देश है। पहली बात तो यह समझ लेनी है कि जगत् में ईश्वर नहीं, ईश्वर ही जगत्-रूप में प्रकट हुआ है। यदि हम यह मानें कि जगत् में ईश्वर व्याप्त है तो इसका अभिप्राय यह होगा कि जगत् कोई तत्त्व है जिसमें ईश्वर व्याप्त है; किन्तु ईश्वर से भिन्न जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है, इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही इस मन्त्र में 'आवास्यम्' शब्द आया है। आवास्यम् माने परिपूर्ण, परिव्याप्त। व्यापकता दो प्रकार की होती है, जैसे काष्ठ में अग्नि व्याप्त है, गन्ने में रस व्याप्त है, तिल में तेल व्याप्त है। दूसरा, जैसे मिश्री में मिठास व्याप्त है, जल में रस व्याप्त है, नमक में खारापन व्याप्त है, बर्फ में जल व्याप्त है, घड़े में मिट्टी व्याप्त है, कुण्डलादि में स्वर्ण व्याप्त है। प्रथम प्रकार की व्याप्ति में व्यापक और व्याप्य का भेद है, जैसे लकड़ी में अग्नि है किन्तु लकड़ी ही अग्नि नहीं, गन्ने में रस है, गन्ना ही रस नहीं; तिल में तेल है, तिल ही तेल नहीं; किन्तु इस प्रकार की व्याप्ति यहाँ पर वांछित नहीं है। यहाँ पर व्यापक और व्याप्य का भेद नहीं है। घड़े में मिट्टी व्याप्त है, घड़ा मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं है, कुण्डलादि में स्वर्ण व्याप्त है, कुण्डलादि स्वर्ण के सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार से मिश्री और मिठास, नमक और खारापन, जल और बर्फ—इनमें व्यापक और व्याप्य का भेद नहीं है।

गोस्वामीजी ने अपनी रामायण में इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा है—

व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ एक भगवन्ता ॥

वेदान्त की दृष्टि से जगत् और इसमें परिव्याप्त ईश्वर में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। ईश्वर के सिवा और जगत् कुछ नहीं है। जिन सिद्धान्तों में प्रकृति को अलग स्वीकार किया गया है, जीव को अलग और ईश्वर को अलग स्वीकार किया गया है, उन सिद्धान्तों में तर्क के द्वारा यह सिद्ध करना कि ईश्वर सर्वव्यापी है असम्भव है, क्योंकि जितने अंश में प्रकृति का अलग अस्तित्व है उतनी मात्रा में ईश्वर की व्यापकता नहीं होगी। प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने पर यह मानना ही होगा कि इतनी मात्रा में प्रकृति का अस्तित्व है या प्रकृति की सत्ता है। जहाँ प्रकृति की सत्ता है वहाँ ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि एक ही तत्त्व में दो की सत्ता या दो के अस्तित्व को स्वीकार करना सर्वथा तर्कहीन एवं असंगत मान्यता है। यदि हम यह स्वीकार करें कि प्रकृति जगत् का कारण है, जीव दुःख-सुख का भोक्ता है और ईश्वर इसका नियन्ता है तो इस प्रकार की स्वीकृति में कोई बाधा नहीं है। सामान्य बुद्धि इतना ही समझ सकती है; किन्तु ऐसी स्थिति में ईश्वर को जगत् के कण-कण में व्याप्त स्वीकार करना सर्वथा असंगत एवं तर्कहीन होगा, ईश्वर की सर्वव्यापकता बताने वाली श्रुति निरर्थक हो जाएगी और वेद के ईशा—आवास्यम् इस घोषणा का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा, क्योंकि **''जगत्यां यत्किंच जगत् इदं सर्वं ईशा आवास्यम्''** श्रुति के इस वाक्य का अर्थ व्यापक और व्याप्य की भिन्नता का पूर्णरूपेण निराकरण करता है।

गम्भीरता से विचार करके सोचिए, यत्किंच का अभिप्राय है सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व, जो कुछ भी है वह ईश्वर से परिव्याप्त है। इसका अभिप्राय यही निकलता है कि जैसे मिश्री के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश में मिठास व्याप्त है, जैसे बर्फ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश में जल व्याप्त है, ठीक उसी प्रकार से इस जगत् के प्रत्येक अंश में ईश्वर बसा हुआ है। दूसरे शब्दों में वह ईश्वर ही चराचर रूप में प्रकट है, जैसा कि पहले आप लोगों को समझाया गया है। वैदिक मन्त्रों का अर्थ करते हुए कुछ बातें विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिएँ, जिनमें मूल बात यह कि वैदिक ज्ञान शब्दगत ज्ञान नहीं है, यानि उसका सही अर्थ शब्दार्थ मात्र से नहीं समझा जा सकता। ऋषियों ने समाधि-अवस्था में वैदिक मन्त्र और तद्गत तत्त्वार्थ की अनुभूति की है। जब तक मनुष्य का चित्त पूर्णतया शुद्ध, शान्त, सुस्थिर नहीं हो जाता, तब तक उसकी बुद्धि में वैदिक मन्त्रों के तत्त्वार्थ का प्रकाश नहीं हो सकता। इस विषय में कठोपनिषद् का सन्देश है—

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ० १।३।१२)

उस परम तत्त्व को सूक्ष्मदर्शी अपनी कुशाग्र बुद्धि के द्वारा ही देख पाते हैं। कुशाग्र बुद्धि माने सूक्ष्मतम बुद्धि। कुश के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण बुद्धि जिसकी है वही अन्तर्तम में प्रवेश करके उस परम तत्त्व की देख सकता है। ऐसी बुद्धि को ही यौगिक बुद्धि कहते हैं।

योग द्वारा प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा ही समाधि प्रज्ञा के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य पतञ्जलि ने यौगिक बुद्धि वा ऋतम्भरा प्रज्ञा की व्याख्या करते हुए कहा– **''श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्''** श्रुत और अनुमित दोनों प्रकार की बुद्धियों से अन्य विशेष अर्थ को विषय करने वाली यह समाधि बुद्धि वा ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है। यह समाधि बुद्धि किस अवस्था में प्राप्त होती है, इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—**''निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा''**। इस क्रम में समाधि की सविकल्प, निर्विकल्प, सविचार और निर्विचार, इन चार अवस्थाओं से गुज़रते हुए जब निर्विचार समाधि की दृढ़ता हो जाती है, चित्त अचंचल, विचारशून्य हो जाता है, उस समय साधक के चित्त में आत्मप्रसाद अर्थात् उस परम चैतन्य के प्रकाश का उदय होता है। दूसरे शब्दों में, तम और रज से रहित शुद्ध सत्त्वप्रधान चित्त में परम चैतन्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है। उस स्थिति में जो बोधात्मिका वृत्ति उदय होती है उसी को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। लययोग की साधना में प्रवृत्त हुआ योगी सालम्ब योग का अभ्यास करता है। योग के दो भेद हैं— निरालम्ब और सालम्ब। महानारायणोपनिषद् में इसको बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया गया है। निरालम्ब योग में मन को निर्विषय किया जाता है; उसमें किसी भी प्रकार के आश्रय वा आलम्बन का स्थान नहीं होता; किन्तु सालम्ब योग में योगी पहले स्थूल, फिर उससे सूक्ष्म विषय का आश्रय ले अपने चित्त को एकाग्र करता है और अन्त में वह सूक्ष्म विषय को भी विचार के द्वारा उसके कारण में लय करके अनन्त से एक हो जाता है। उस स्थिति में निर्विषय हुए चित्त में अब किसी प्रकार के आलम्बन न होने से निर्विचार की स्थिति प्राप्त हो जाती है। क्योंकि प्रारम्भ में जिसका आलम्बन लिया था वह प्राकृत पदार्थ था, उसके कार्य-कारण-भाव का अनुसन्धान करते हुए जब उसे उसके आदि-कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में लय कर देता है तो उसके आगे अब विचार करने के लिए कुछ रह नहीं जाता। उस अवस्था में चित्त आत्मप्रसाद का पात्र बनता है। आत्मप्रसाद के परिणाम में उसमें परमतत्त्व को विषय करने वाली समाधि बुद्धि का उदय होता है। उस समाधि बुद्धि के द्वारा ही वेदमन्त्रों का यथार्थ अर्थ समझ में आता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि समाधि बुद्धि में ही मन्त्रगत अर्थ प्रकाशित होता है। इसलिए मैं आप लोगों को यह बता रहा था कि वेद का अर्थ शब्द-पाण्डित्य के द्वारा नहीं लगाया जा सकता। वेदार्थ का प्रकाश आपके अन्तर्तम में तभी हो सकता है जब आप उस उच्चतम अवस्था में पहुँच जाएँ जिसमें समाधि बुद्धि का उदय होता है। जो लोग उस अवस्था में पहुँचते हैं उन्हें ही ऋषि कहा जाता है। हमारे यहाँ उस अवस्था में पहुँचे हुए, तत्त्वद्रष्टा ऋषि के द्वारा देखे हुए, अनुभव किए हुए तत्त्वविज्ञान को ही दर्शन कहते हैं।सम्पूर्ण वैदिक दर्शन समाधि-प्रज्ञा प्राप्त तत्त्वद्रष्टा ऋषियों की अनुभूति का ही कोष है।

वैदिक दर्शन के लिए ग्रीक भाषा के फिलासफी शब्द का प्रयोग उचित नहीं क्योंकि फिलासफी शब्द का अर्थ होता है 'लव आफ नॉलेज' अर्थात् ज्ञान का प्रेम, किन्तु दर्शन ज्ञान का प्रेम नहीं है, वह तो यथार्थ की अनुभूति है। मैं आप लोगों को समझा रहा था कि वैदिक विज्ञान को समझने के लिए समाधि बुद्धि वा ऋषि प्रज्ञा की आवश्यकता होती है। वैदिक ज्ञान ही ब्रह्म नाम से अभिहित है, क्योंकि वह सृष्टि के परम कारणतत्त्व ब्रह्म का अवबोधन कराता है। ऋषि जब ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति कर लेता है वा समाधि प्रज्ञा द्वारा ब्रह्मविज्ञान को समझ लेता है तो उसकी संज्ञा ब्रह्मर्षि हो जाती है, जिसका अर्थ होता है ब्रह्म को जानने, समझने वा अनुभव करने वाला तत्त्वज्ञ। वेद-विज्ञान के ज्ञाता ही ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। ब्रह्मर्षियों द्वारा जिस सत्य का अनुसन्धान, अनुभूति और अभिव्यक्ति हुई है उसी का उद्घोष हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। इसलिए उन उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए हमें सावधान रहना चाहिए। जिन उपनिषदों में समाधिजन्य अनुभूत ज्ञान का कोष निहित है, यदि उनका अर्थ हम सामान्य भाषा के आधार पर करेंगे तो अर्थ के स्थान पर अनर्थ होने की ही सम्भावना है।

दूसरी बात, ऋषियों का यह कथन है कि वैदिक विज्ञान जिन शब्दों के माध्यम से प्रकट हुआ है वे शब्द धातुज हैं, अतः धातु के अनुसार यदि उसका अर्थ किया जाए तो उसमें निहित विज्ञान को समझने में सुगमता होगी। तीसरी बात यह है कि मन्त्रार्थ बुद्धि-विरोधी न हो, यानि ऐसा कोई अर्थ नहीं करना चाहिए जिसके लिए यह कहा जाए कि इसमें बुद्धि की गति नहीं है। जो बुद्धिविरोधी, विवेकविरोधी अर्थ है वह वैदिक अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जो बात मानवीय बुद्धि में ही नहीं समा रही, जो मानवीय बुद्धि के विपरीत है, असंगत है, तर्कहीन है, वह ईश्वरीय बुद्धि का प्रकाश वा ईश्वरीय सन्देश कैसे हो सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि वेदार्थ में शुद्ध बुद्धि का प्रवेश है। वह तर्कसंगत, युक्तियुक्त और बुद्धिग्राह्य होने से ही मान्य है और मानव के लिए उपादेय है। निरुक्त में एक कथा आती है—कलि के प्रारम्भ में जब ऋषि लोग पृथ्वी को छोड़कर जाने लगे तो जिज्ञासुओं ने प्रार्थना की कि आप लोग पृथ्वी को छोड़ कर जा रहे हैं तो हमें वेदार्थ का बोध कौन करवाएगा? ऋषियों ने उत्तर दिया—वेदार्थ बताने के लिए एक महान् ऋषि तुम लोगों के पास हैं। वह ऋषि कौन है? उन्होंने बताया—'तर्क'। तर्करूपी ऋषि के द्वारा ही तुम्हें इस वैदिक विज्ञान का बोध प्राप्त होता रहेगा। मनु का कथन है—**''वेदोऽखिलो धर्ममूलः''** सम्पूर्ण धर्म का मूल वेद है। इस धर्म का बोध कैसे हो सकता है? इस विषय में उनका कथन है—**''यस्तर्केनानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः''** जो तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं। कहने का अभिप्राय यह कि हमारे यहाँ सत्य को समझने के लिए तर्क को मुख्य स्थान दिया गया है। प्रत्येक बात को समझने के लिए तर्क का प्रयोग करें, युक्ति का प्रयोग करें।

मैं आप लोगों को समझा रहा था कि जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा, प्रकृति और जीव अलग हैं, वे वेदमन्त्रों का सही अर्थ नहीं करते क्योंकि वे वेद के सही अभिप्राय को नहीं समझ पाए हैं। ईशोपनिषद् के इस प्रथम मन्त्र में 'ईशा आवस्यम् इदम् सर्वं' ये शब्द इतने रहस्यमय हैं जिनकी व्याख्या करते समय बहुत गम्भीरता से चिन्तन की आवश्यकता है। इनके साथ ही **''यत्किंच जगत्यां जगत्''** यह वाक्य भी विशेष ध्यान देने योग्य है। यत्किंच में जड़ और चेतन सभी कुछ आ जाता है। यदि जड़ और चेतन सब में ईश्वर परिव्याप्त है तो उससे अतिरिक्त प्रकृति और जीव की सत्ता ही कहाँ रह जाती है? जो लोग ईश्वर से जीव को अलग मानते हैं वे उसे अणु परिमाण वाला स्वीकार करते हैं। यदि उस अणु परिमाण वाले जीव में भी ईश्वर व्याप्त है तो फिर जीव का अलग अस्तित्व ही कहाँ रहा? और यदि वह अणु परिमाण वाला जीव ईश्वर से भिन्न है तो ईश्वर की सर्वव्यापकता कहाँ रही? इससे यही सिद्ध होता है कि जीव और जगत्, जड़ और चेतन, सभी ईश्वर की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। जैसे रस घनीभूत होकर जल बना है, मिठास घनीभूत होकर मिश्री बनी है, जल घनीभूत होकर बर्फ बना है, ठीक इसी प्रकार से वह ईश्वर ही घनीभूत होकर जगत् रूप में भासित हो रहा है। सतघन, चिदघन, आनन्दघन ही अनन्त महिमामयी माया के द्वारा अनन्त नाम-रूपों में अभिव्यक्त हुआ है—यही वेद का सिद्धान्त है—

जगदेव हरि हरिरेव जगत् हरितो जगतो नहीं भिन्न तनु ।
इति यस्य मति परमार्थ गति स नरो भवसागरमुत्तरति ।।

जगत् हरि का रूप है, हरि ही जगत् रूप में प्रकट है, ऐसी ही जिसकी मति है वही इस संसार-सागर से पार होता है।

इस मन्त्रार्थ के साथ एक बात और आप लोगों को समझा देना चाहता हूँ, उसे गम्भीरता से समझ लें। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि ईश्वर ही जगत् के रूप में प्रकट है तो उसे हम जगत् के बजाय ईश्वर ही क्यों न कहें? और इसे यदि हम ईश्वर ही स्वीकार करते हैं तो इस मंत्र में जगत् ईश्वर से व्याप्त है, फिर इस प्रकार का निरर्थक प्रयोग क्यों? इसके उत्तर में यह बात समझ लेनी है कि जैसे मिठास ही मिश्री-रूप में प्रकट है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु मिश्री तक ही मिठास सीमित नहीं है, वह मिश्री से अतिरिक्त भी है। यदि मिश्री ही मिठास है, ऐसा हम स्वीकार कर लें तो यह मिठास की महत्ता से अनभिज्ञता ही होगी। जैसे सूर्य का प्रकाश इस पृथ्वी को प्रकाशित कर रहा है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि पृथ्वी को प्रकाशित करने वाला प्रकाश ही सूर्य है, ऐसा स्वीकार करना सूर्य की महत्ता से अनभिज्ञता ही कही जाएगी। सूर्य का जो प्रकाश हम देख रहे हैं इतना ही नहीं है वह तो उसका एक अंश मात्र है। सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण सौर्यमण्डल को प्रकाशित कर रहा है, वह

त्रिभुवन को प्रकाशित कर रहा है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, इनको त्रिभुवन कहते हैं। इन सभी को प्रकाशित करने वाला सूर्य है, इसलिए पृथ्वी के अन्तरिक्षगत प्रकाश को ही सूर्य मान लेना वा जो सूर्यांश हमें दिखाई दे रहा है उतने को ही सूर्य मान लेना सूर्य के यथार्थ रूप से अनभिज्ञता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी प्रकार से यह चराचर जगत् ही ईश्वर नहीं है, चराचर जगत् के रूप में प्रकट हुआ और इसमें परिव्याप्त ईश्वर इतना ही नहीं, वह तो अनन्त है।

वेद कहता है, **''एतावानस्य महिमा''** यह जो कुछ भी दृश्य जगत् है यह तो उसकी महिमा मात्र है। जैसे पृथ्वी और अन्तरिक्ष में दिखाई देने वाला प्रकाश ही सूर्य नहीं, वह सूर्य की महिमा मात्र है; जैसे मिश्री के रूप में प्रकट हुई मिठास ही मिठास नहीं है, मिश्री तो मिठास की महिमा मात्र है; मिठास तो एक निरवयव तत्त्व है वह मिश्री से परे भी है। उसी प्रकार से जगत् ही जगदीश नहीं है, यह तो उसकी अंशाभिव्यक्ति मात्र है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि जैसे प्रकाश ही सूर्य नहीं, किन्तु सूर्य से अलग प्रकाश का कोई अस्तित्व नहीं, ठीक उसी प्रकार से जगत् ही ईश्वर नहीं है, किन्तु ईश्वर से अलग जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। वेद कहता है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ।

यह चराचर जगत् उस परमात्मा का एक चरण है वा एक अंशमात्र है, उसका त्रिपाद अमृतमय है। महानारायणोपनिषद् में इस रहस्य को उद्घाटित किया गया है। ब्रह्म के चार पाद हैं जिन्हें क्रमशः अविद्या पाद, विद्या पाद, आनन्द पाद और तुरीय पाद कहते हैं। इनमें से विद्या पाद, आनन्द पाद और तुरीय पाद दिव्य, चिन्मय, अमृतमय हैं। इनमें कभी आविर्तिरोभाव की क्रिया नहीं होती। वे अमृतमय, अनन्त, अगाध, नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील हैं, उनके अविद्या पाद में ही मूल प्रकृति की स्थिति है। वह त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति ही अनन्त ब्रह्माण्डों के आविर्तिरोभाव में हेतु होती है।

अभिप्राय यह कि ब्रह्म के अविद्या पाद में ही अनन्त नाम-रूपों से युक्त अनन्त ब्रह्माण्डों के रूप में यह जगत् अवस्थित है। क्योंकि अविद्या पाद भी ब्रह्म का ही अभिन्न अंश है, इसलिए अंश में आविर्भूत जगत् भी ब्रह्म की ही अंशाभिव्यक्ति है; किन्तु जगत् को ही ईश्वर स्वीकार कर लेना, यह ईश्वर के यथार्थ रूप से अनभिज्ञता का ही परिचायक होगा; इसलिए जगत् को ही ईश्वर नहीं कहा जा सकता। जगत् रूप में अभिव्यक्त ईश्वर इसके कण-कण में व्याप्त होते हुए भी इससे परे, इससे महान् है। इसलिए यहाँ—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

यह वाक्य सार्थक एवं अभिप्राययुक्त है। यह जगत् में दिखाई देने वाली अनेकता के पीछे स्थित एकता का अवबोधन कराता है। विविध प्रकार के वैज्ञानिक साधनों का भी

यही साध्य है। वर्तमान समय का भौतिक विज्ञान भी अनेकता के पीछे निहित एकता की तलाश कर रहा है, खोज कर रहा है। उसे जहाँ तक विभाजन की सम्भावना दिखाई देती है उसको वह कारण नहीं, कार्य ही स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि कारण वही है जो अविभाज्य है, अखंड है। जो अविभाज्य और अखण्ड है वह एक अद्वितीय है। उपनिषद् कहती है **''एकमेवाद्वितीयम्''**। उसी की घोषणा **''ईशावास्यमिदं सर्वं''** इस वाक्य में की गई है। यह साधन की चरमावस्था की अनुभूति है। इस सम्बन्ध में आप लोगों को अपने जीवन की एक घटना सुना रहा हूँ—

मैं लययोग की साधना में निरत था। हिमाचल प्रदेश में चिन्तपूर्णी नाम का दुर्गा का मन्दिर है। लययोग की साधना के आखिरी दिनों में मैं उस मन्दिर के पास ही पहाड़ी पर एक छोटी-सी झोंपड़ी में रहा करता था। एक दिन सायंकाल के समय एकान्त पहाड़ी पर खड़े हुए ध्यान कर रहा था कि एकाएक शरीर में विशेष रूप से गति हुई और विश्व का सारा दृश्य ही बदल गया। मैं जिस अवस्था में था उसमें जगत् का नानात्व, उसका अनेकत्व लुप्त हो गया। सर्वत्र केवल एक चिन्मय तत्त्व ही घनीभूत हुआ दिखाई दिया। अपने सहित समस्त विश्व की स्मृति ही लुप्त हो गई। उस अवस्था में कई दिनों तक पड़ा रहा। आने-जाने वाले भी दूर से उस अवस्था में पड़े हुए देखा करते थे। धीरे-धीरे कई दिनों बाद वह परमानन्दमयी अवस्था लुप्त होने लगी और यदा-कदा मैं स्वयं को शरीरस्थ अनुभव करने लगा। उन दिनों की अनुभूतियाँ मैंने कुछ पदों में आबद्ध की हैं। वह यथार्थ अनुभूति है, कल्पना नहीं—

अहा दीखता है यह विश्व सभी, मुझ में है सजाया समाया हुआ।
मिटी कल्पना सत्य असत्यमयी, जो सदा से रहा भ्रम छाया हुआ॥

रहा मेरे सिवा कुछ और नहीं, जग-जीव का भेद बनाया हुआ।
स्वयं खेलता खेल खिलाड़ी बना, खुद खेल का कारण माया हुआ॥

कहता अल्पज्ञ अणु किसको, विभु व्यापक विश्व का ज्ञाता हूँ मैं।
लय पालन सृष्टि स्वयं करता बनता शिव विष्णु विधाता हूँ मैं॥

जड़-चेतनरूप अनूप सभी, निज कौतुक हेतु रचाता हूँ मैं।
अरे बावरे विश्व की आत्मा हूँ, नहीं आता कभी नहीं जाता हूँ मैं॥

विश्वात्मा विश्व में व्यापक हूँ, यह विश्व रचाया हमारा सभी।
हूँ प्रकाशक सारे प्रकाशकों का, रवि चन्द्रमा अग्नि सितारा सभी॥

कहते मुझे ब्रह्म हूँ जीव हमीं रची माया वितान पसारा सभी।
अरे बावरे खेल में भूला रहा, अब ज्ञान कृशानु में जारा सभी॥

यह अनुभूति उस अवस्था की है जिसमें चेतना का प्रवाह शरीर में ऊर्ध्वमुखी हो सिमटकर ब्रह्मचक्र में स्थिर हो जाता है, जहाँ विश्व का समस्त प्रपंच अव्यक्त में लीन होने से केवल सच्चिदानन्दघन की ही सर्वत्र अनुभूति होती है, जहाँ भेदात्मक सारी कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं और साधक के प्रत्येक अंग से **''सोऽहम् सोऽहम्''** की दिव्य ध्वनि गूँजने लगती है और वह ब्रह्म से अभिन्नता का अनुभव करता हुआ कृतकृत्य हो जाता है, अद्वैतामृत का रसास्वादन करता हुआ निर्द्वन्द्व हो आत्मानन्द में निमग्न रहता है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि **''ईशावास्यमिदं सर्वं''** की घोषणा इस परम अनुभूत सत्य को ही उद्घाटित करती है। जैसे हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषियों ने इस सत्य की अनुभूति की थी, ठीक वैसे ही आज भी की जा सकती है, इसमें सन्देह नहीं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि अद्वैतानुभूति इस युग में सम्भव नहीं, यह उनका भ्रम मात्र है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि जिसको अपना अहं अत्यन्त प्रिय है, जो अपने अहं को सुरक्षित रखना चाहते हैं, उनके लिए अद्वैतानुभूति अवश्य ही अगम्य है। उस परमतत्त्व के साथ अद्वैतानुभूति जीवन का प्रयोजन है, जीवन का लक्ष्य है। एक दिन ऐसा आएगा जबकि प्रत्येक जीव उस परमतत्त्व से अभिन्न हो अद्वैतामृत का भाजन बनेगा, इसमें सन्देह नहीं। चींटी से लेकर इन्द्र तक सभी के जीवन का प्रवाह उस परमात्मा की ओर ही प्रवाहित हो रहा है और वह क्रमशः विकास को प्राप्त होता हुआ एक दिन उसके साथ अभिन्नता की अनुभूति कर कृतकृत्य हो जाएगा; यही सृष्टि प्रवाह का प्रयोजन है। जिसने उस यथार्थ की अनुभूति कर ली है, वही इस रहस्य को यथार्थतः जानता है कि—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

मन्त्र के इस अंश को समझाने के लिए विविध प्रकार के उदाहरणों द्वारा इसे सुगम बनाने की कोशिश की गई है, मुझे विश्वास है कि आप लोग अब इसे समझ गए होंगे।

जगत्, जीव, जगदीश ये तीनों तीन नहीं, अलग नहीं, एक ही ब्रह्म इन तीन रूपों में अभिव्यक्त हुआ है, इतना समझाना ही इस व्याख्या के विस्तार का प्रयोजन है। वेद कहता है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।

भोक्ता जीव, भोग्य जगत्, प्रेरिता जगदीश, इन तीनों रूपों में एक ब्रह्म ही प्रकट है, यही वेदान्त का उपदेश है। एक सरल उदाहरण के द्वारा आप इसे आसानी से समझ सकते हैं। रूप तेज-तत्त्व का परिणाम है और आँखें तेज तत्त्व के अंश से ही प्रकट हुई हैं। रूप भोग्य है और आँखें भोक्ता, किन्तु आँखें रूप को अन्धकार में नहीं देख सकतीं। तेज तत्त्व के अभाव में नेत्र और रूप दोनों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

वही तेज-तत्त्व प्रकाश के रूप में प्रकट होकर आँखों और रूप दोनों को ही प्रकाशित करता है, तभी नेत्र रूप को देख पाता है। जिस प्रकार से रूप, नेत्र और प्रकाश, तीनों ही एक तेज तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं, ठीक उसी प्रकार से जगत्, जीव एवं जगदीश—भोग्य, भोक्ता और प्रेरिता इन तीनों रूपों में एक अद्वैत ब्रह्म ही अभिव्यक्त हुआ है। जैसे केवल नेत्र, केवल रूप को ही तेज नहीं कहा जा सकता, नेत्र और रूप भी तेजांश की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, ठीक इसी प्रकार केवल जीव, केवल जगत् ही ब्रह्म वा ईश्वर नहीं हैं, किन्तु जगत् और जीव भी उसकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी सत्य को समझाने के लिए—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

इस मंत्र का अवतरण हुआ है।

यह चराचर जगत् ईश्वर से व्याप्त वा ईश्वर ही चराचर जगत् के रूप में प्रकट हुआ है, ऐसा स्वीकार कर लेने पर हमारा व्यावहारिक जीवन किस प्रकार से चलेगा? इस प्रश्न के उत्तर में मन्त्र का दूसरा चरण हमें मार्ग-दर्शन करता है—**''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''**। यद्यपि साधक-जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ पर कुछ करना, पाना और जानना शेष नहीं रहता। आत्मरति, आत्मतृप्ति तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने की स्थिति को प्राप्त हुआ साधक समस्त प्रकार के कर्तव्यों से मुक्त हो जाता है। जीवन का सारा क्रिया-कलाप स्वयं ही समाप्त हो जाता है; किन्तु सभी मानव उस अवस्था में नहीं हैं। वह सहज समाधि की अवस्था है। उस अवस्था में रहने वाले योगी भी जब शरीरस्थ होते हैं तो आहार-विहार आदि शरीर से सम्बन्धित क्रियाएँ उन्हें भी करनी ही पड़ती हैं, तो फिर जनसामान्य की तो बात ही क्या है? जनसामान्य को अपना जीवन कैसे बिताना चाहिए? सर्वरूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी जीवन का व्यवहार किस प्रकार से करना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में ही मन्त्र के द्वितीय अंश का प्रयोग है **''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''** जो कुछ भी तुम्हें ईश्वर का दिया हुआ वा ईश्वरीय विधान से जो मिला है उसका त्याग करते हुए उपभोग करें। अभिप्राय यह कि इस समस्त सृष्टि-प्रपंच को परमात्मा की क्रीड़ा समझते हुए और स्वयं को उस क्रीड़ा का एक पात्र स्वीकार करते हुए, मिले हुए अभिनय को उसकी प्रसन्नता के लिए ही समुचित रूप से प्रयोग करते रहना, यही मनुष्य के लिए करणीय कार्य है। सर्व रूप में प्रभु हैं, इसमें सन्देह नहीं। श्रुति कहती है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमार त्वं उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।।

(श्वेता० ४-३)

''तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार अथवा कुमारी है, तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे चलता है और तू ही विराट् रूप में प्रकट होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है।''

अभिप्राय यह कि विश्व के जितने सम्बन्ध हैं सभी रूपों में वही एक परमात्मा प्रकट है। विश्व के समस्त पदार्थों के रूप में, समस्त प्राणियों के रूप में भी वही है—

तू सर्व रूप मांहि है, सब रूप तेरे मांही है ।
आनन्द सत् चित् रूप है, तेरे सिवा कुछ नाहीं है ।।

इस सत्य की अनुभूति हो जाने पर वा इस सत्य को स्वीकार कर लेने पर साधक के लिए यह समस्त विश्व-प्रपंच ईश्वरीय लीला के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। इस सत्य को समझ लेने पर उसके रूप में जो उसे अभिनय करने के लिए मिला है, बड़ी कुशलता के साथ उसे पूरा करता है। एक प्रश्न और हो सकता है कि जब सब रूपों में परमात्मा को ही स्वीकार कर लिया जाए तो व्यवहार में भेद के लिए स्थान नहीं रह जाता, और बिना भेद स्वीकार किए संसार का व्यवहार समुचित रूप से नहीं निभाया जा सकता। इसका समाधान बड़ी आसानी से आप लोग समझ सकते हैं।

जैसे एक वैज्ञानिक पदार्थ के मूल तत्त्व का अनुसंधान करते हुए इस नतीजे पर पहुँच जाता है कि यह सम्पूर्ण पदार्थ परमाणुओं के संघात का ही परिणाम हैं। प्रत्येक परमाणु इलैक्ट्रोन, प्रोट्रोन, न्यूट्रोन से बना हुआ है और ये तीनों उस अनन्त ऐनर्जी उर्जा के ही परिणाम हैं। अब उसे यथार्थतः यह ज्ञात हो जाता है कि जिन तत्त्वों से अन्न का निर्माण हुआ है उन्हीं तत्त्वों से मिट्टी, पत्थर आदि पदार्थों का भी निर्माण हुआ है। कारणरूप में तत्त्वतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है, यह उसने अनुसंधानशाला में यथार्थ रूप से समझ लिया है। किन्तु जब उसे भूख लगती है तो वह खाद्य पदार्थों का ही सेवन करता है; अखाद्य वा मिट्टी-पत्थर का नहीं। ठीक उसी प्रकार से जब यह अनुभव हो जाए कि तत्त्वतः सर्वरूप में परमात्मा ही विद्यमान है, उस अवस्था में भी उस वैज्ञानिक की तरह तत्त्ववेत्ता जगत् में समुचित रूप में ही व्यवहार करता है। अन्तर इसमें केवल यह होता है कि अब इस व्यवहार में उसे न तो कहीं आसक्ति होती है और न आकांक्षा ही। न तो वह प्रिय को देखकर हर्षित होता है और न अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न ही। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। (गीता ५।२०)

ब्रह्मतत्त्व का ज्ञाता, ब्रह्मभाव में स्थित तत्त्वद्रष्टा ऋषि प्रिय और अप्रिय की भावना से विमुक्त हो जगत् के सम्पूर्ण व्यवहार का संचालन करता है। वह इस सारे विश्व को परमात्मा की दिव्यलीला के रूप में ही देखता है—**''लीलावत्तुकैवल्यम्''**।

आप लोग कार्टून-चलचित्र का खेल देखते हैं। वह एक पदार्थ से ही कभी मिट्टी का गोला बन जाता है और कभी उसी में से किसी जन्तु के रूप में प्रकट हो विविध प्रकार का अभिनय करने लगता है। यथार्थतः यही स्थिति इस जगत् की भी है। इस शाश्वत, अनन्त प्रकृति में न कभी वृद्धि होती है न ह्रास। अनेक नाम-रूपों में प्रकट

हो विविध प्रकार की क्रीड़ा दिखा कर पुनः सबको समेट कर स्वयं में अन्तर्धान हो जाना इसका स्वभाव है। इस रहस्य को मंगलाचरण के मन्त्र—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

की व्याख्या करते हुए भली प्रकार से समझा दिया गया है। जैसे घड़े का नाश होने पर मिट्टी का नाश नहीं होता, कनक-कुण्डलादि का नाश होने पर स्वर्ण का नाश नहीं होता, जैसे समुद्र की अगाध जलराशि पर उत्पन्न होने वाले बुदबुदों के नाश होने पर समुद्र का नाश नहीं होता, इसी रूप से इस विश्व में अनन्त नाम रूपों के नाश होने पर भी तत्त्वतः कुछ नाश नहीं होता। यह सारे विश्व की क्रीड़ा ज्ञान और गुण के रूप में प्रकट हुए परमात्मा की ही क्रीड़ा है। गुणात्मक जगत्, ज्ञानात्मक जीव, यह सब उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रुति कहती है, ऐसा अनुभव करते हुए **''तेन त्यक्तेन प्रदत्तेन भुंजीथा''** उसके द्वारा दिए गए वा प्रदान किए गए का भोग करो। इस मन्त्रांश का एक दूसरा भी अर्थ होता है—

तेन परमात्मना त्यक्तेन प्रदत्तेन भुंजीथा ।

सर्वरूप में प्रकट परमात्मा है, ऐसा निश्चय करके उसके द्वारा दिया गया जो तुम्हारा भाग है उसका तुम भोग करते हुए आनन्दित होवो। इसका एक दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है, उस परमात्मा के द्वारा दिए गए पदार्थों को वा मिले हुए पदार्थों को उस परमात्मा को समर्पित करके उसका भोग करो, उसका उपयोग करो। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ।।

जब वही परमात्मा हमारा सर्वस्व है, संसार के समस्त नाते पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-शत्रु, भाई-बहिन आदि अनेकों रूपों में जब उसी की ही सत्ता है तो उसी के नाते, उसी की प्रसन्नता के लिए मिले हुए का उसी को समर्पण करते हुए यदि हम उपभोग करते हैं वा प्रयोग करते हैं, तभी अनासक्त हो यथार्थ व्यवहार के द्वारा आनन्द के भागी बनते हैं। जिस किसी भी स्थिति में उसने हमें रखा है, जिस प्रकार का अभिनय करने के लिए उसने हमें योग्यता प्रदान की है, उसको समर्पित करते हुए उसकी प्रसन्नता के लिए ही उसे पूरा करना हमारे लिए परम धर्म है। **''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''** का यही अभिप्राय है। यदि इस प्रकार से हम आचरण करते हैं तो हमारे जीवन में दुःख के लिए स्थान नहीं होगा।

इसके आगे का वाक्य है **''मा गृधः कस्य स्विद् धनम्''**। 'मा गृधः' माने आसक्त मत होवो, 'कस्य स्विद् धनम्' माने विचार करो यह धन किसका है? 'गृधः' का एक अर्थ लालच भी होता है, जिसका अभिप्राय है लालची मत बनो। व्यवहार में हम कहते हैं—अमुक व्यक्ति की अमुक पदार्थ पर गीध-दृष्टि है। अभिप्राय यह कि

जिस प्रकार गीध आकाश में बहुत ऊँचे उड़ता है किन्तु उसकी दृष्टि पृथ्वी पर पड़े हुई सड़े मांस पर लगी रहती है, ठीक उसी प्रकार से जो लोग वेद, शास्त्र की, योग और त्याग की बातें करते हैं किन्तु उनकी दृष्टि संसार के पद और पदार्थों में लगी रहती है, वे लोग गृद्ध दृष्टि वाले कहे जाते हैं। इस प्रकार के लोगों की भर्त्सना करते हुए उपनिषद् कहती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पंडितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

(मुं० १-२-८)

अविद्या में स्थित होकर स्वयं को बुद्धिमान् और पण्डित मानने वाले वे मूढ़ लोग बारम्बार कष्ट सहन करते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के द्वारा चलाए जाने वाला अन्धा। इसलिए वेद का आदेश है ''**मा गृधः**'' गृद्ध-लालची, अविद्या का पुजारी मत बन!

इसका एक यह भी अभिप्राय है कि जो तुम्हें मिला है उसी का भोग कर, उसी में सन्तुष्ट रह, लालची मत बन। अर्थात् दूसरे के वैभव को, दूसरे के सुख को, दूसरे के अधिकार को देखकर लालच मत कर! सन्त कबीर ने कहा है—

देख पराई चूपड़ी मत ललचाओ जीह ।

जब हम दूसरे के अधिकार को, दूसरे के भोग, दूसरे के ऐश्वर्य को वा यूँ कहिए कि दूसरे को मिले हुए अभिनय के अधिकार को देखने लगते हैं तो अपने यथार्थ को भूल जाते हैं। वेद हमें इस भूल से बचने के लिए सावधान करते हुए आदेश दे रहा है—''**मा गृधः**'' गृध मत बनो, आसक्त मत बनो, लालची मत बनो, दूसरे के अधिकार की ओर मत देखो, दूसरे के सुख की ओर मत देखो। यह 'मा गृधः' शब्द मानवमात्र के लिए वेद का महान् आदेश है। इसको सदैव हृदय में धारण करना चाहिए। परमार्थ-पथ के अभिलाषी के लिए यह बहुत ही आवश्यक है।

इस मन्त्र का अन्तिम वाक्य है—''**कस्य स्वित् धनम्**'' अभिप्राय यह कि विचार करो—धन, भोग्य पदार्थ किसका है? यह एक चिन्तन का विषय है। संसार में जो कुछ भी पदार्थ है वह ईश्वर से परिपूर्ण है, ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धन, ऐश्वर्य, भोग, पदार्थ भी ईश्वर से परिव्याप्त होने से यह सब-कुछ ईश्वर का ही है। यदि इतनी बात समझ में आ जाए तो स्वभावतः धन के प्रति गृद्ध-दृष्टि, आसक्ति वा लालच कभी पैदा ही नहीं हो सकता। जिस किसी भोग्य पदार्थ की मन में चाह उठे, उसे पाने की कामना हो तो तुरन्त ही मन्त्र के इस अन्तिम वाक्य को स्मरण करके चिन्तन करना चाहिए—''**धनम् कस्य स्वित्**'' यह धन किसका है? स्मरण होते ही उसके प्रति उठी हुई वासनात्मक वृत्ति स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। आगे इस अंश की विशेष व्याख्या कल की जाएगी।

इस मन्त्र के सम्बन्ध मे अब तक जो कुछ भी बताया गया है उसकी व्याख्या उतनी ही नहीं है। वेद परमात्मा की वाणी है; यह दिव्यात्मा, पवित्रात्मा ऋषियों के अन्तःकरण में अवतरित हुई है। ईश्वरीय वाणी की व्याख्या किसी व्यक्ति के द्वारा होना सम्भव नहीं। यदि कोई साधक उच्चतम अवस्था में पहुँचकर उसके यथार्थ का अनुभव भी कर ले तो उसे पूर्णतया व्यक्त करना सम्भव नहीं हो पाता। यदि वह कुछ मात्रा में उसको व्यक्त भी करना चाहे तो उसको सुनने वा ग्रहण करने वाले सही पात्र श्रोता भी मुश्किल से ही मिलते हैं। मेरे विचार से तो यदि पूर्ण बात समझ में न आवे, फिर भी इस प्रकार के वैदिक विज्ञान से सम्बन्धित कुछ शब्द श्रवण करने को मिल जाएँ, तब भी कुछ-न-कुछ लाभ होता ही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि करुणानिधान भगवान् अपनी करुणा से ही आप सबको अपने इस दिव्य ज्ञान को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्रदान करेंगे। आप सब की जिज्ञासा और प्रभु-कृपा का ही यह परिणाम है कि वेद के सार तथा ब्रह्मविद्या के आदिस्रोत ईशोपनिषद् के मन्त्रों के चिन्तन और उनमें निहित अर्थ के उद्घाटन की प्रभु ने प्रेरणा और कृपाप्रसाद-रूप शक्ति प्रदान की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप लोग इससे लाभान्वित होंगे।

□□

४

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

सनातन धर्म के मूलाधार वैदिक विज्ञान के सारभूत औपनिषदिक ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में आप लोगों को कुछ बातें बताई जा रही हैं। ईशोपनिषद की व्याख्या चल रही है जिसके प्रथम मन्त्र के प्रथम अंश—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

इसकी व्याख्या हो गई है। मन्त्र के दूसरे चरण **"तेन त्यक्तेन भुंजीथा"** के विषय में कल संक्षेप में कुछ बातें समझाई गई थीं, जिसमें यह बताया गया है कि उस परमात्मा के द्वारा जो कुछ भी मिला है उसका भोग करें। भोग शब्द का अर्थ होता है अनुभूति। आचार्य पतञ्जलि ने कहा है—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

(यो० सू० २।१८)

प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील यह त्रिगुणात्मक जगत्, जो कि विषयों और इन्द्रियों के रूप में प्रकट है, वह भोग और अपवर्ग के लिए है। इससे यह निश्चित होता है कि जगत् का प्रयोजन भोग और मोक्ष दोनों का सम्पादन कराना है। जगत् के कार्य-कारण-सम्बन्ध की अनुभूति करा कर जीव को उससे विरत कर उसके नित्य सच्चिदानन्द-स्वरूप में प्रतिष्ठित कराना ही प्रकृति का प्रयोजन है। जब तक जगत् के कार्य-कारण-स्वरूप की अनुभूति नहीं होगी, तब तक उससे विरति नहीं होगी। विरति के लिए अनुभूति अर्थात् भोग आवश्यक है, इसलिए वेद का आदेश है **"तेन त्यक्तेन भुंजीथा"**। यहाँ भुंजीथा शब्द में जगत् की यथार्थता का अनुभव करने के लिए आदेश दिया गया है। जगत् की अनुभूति दो रूपों में होती है—सुखात्मक और दुःखात्मक। 'है' का प्रयोग वा भोग सुखात्मक होता है और जो नहीं है उसकी कामना दुःखात्मक होती है।

प्रायः दुःख के दो ही कारण दिखाई देते हैं—एक भुक्तभोग की स्मृति और दूसरी अभुक्त भोग की चाह। जो भोग के साधन पहले कभी थे, आज नहीं हैं, उनकी याद दुःख में कारण बनती है; और जो भोग-पदार्थ दूसरों के पास हैं, अपने पास नहीं हैं उनकी चाह दुःख में कारण बनती है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि या तो वह अतीत में जीता है या अनागत में, यही उसके दुःख का कारण है। सुख अतीत

की स्मृति और अनागत की कामना में नहीं है, सुख की स्थिति तो सदैव वर्तमान में ही हुआ करती है क्योंकि वर्तमान ही परमात्मा का स्वरूप है जो समस्त सुखों का स्रोत है। यदि मनुष्य वर्तमान में रहने लगे तो उसे दुःख के दर्शन ही न हों। वेद हमें आदेश देता है **''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''** परमात्मा द्वारा दिए हुए का भोग करो अर्थात् तुम अपने वर्तमान में जीओ, जो प्राप्त है, उपलब्ध है उसका भोग करो। जो बीत गया है उसकी चिन्ता मत करो, जो अभी नहीं है उसकी चाह में दुःखी मत होवो। जो प्राप्त है उसका भोग करो, **''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''** जो मिला है वह परमात्मा को अर्पण कर उसका भोग करो इसी में शान्ति और प्रसन्नता है। जो कुछ है वह परमात्मा द्वारा दिया गया है ऐसा समझकर उसे स्वीकार करने में वा उसे भोगने में आसक्ति नहीं होती क्योंकि उस अवस्था में भोग्य पदार्थ परमात्मा का प्रसाद हो जाता है और यदि प्राप्त पदार्थों को अपने पुरुषार्थ का परिणाम मानेंगे तो उसमें आसक्ति होना स्वाभाविक है और उसके भोग में, उसके क्षय होने, उसके नाश होने की चिन्ता भी बनी रहती है। आसक्ति और चिन्ता ही समस्त दुःखों की जन्मदात्री है। इन दोनों से मुक्त होने के लिए केवल एक ही उपाय है, जिसका उपदेश वेद कर रहा है—**''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''**।

यहाँ एक बात और समझ लेनी है कि भोग जीव का सहज स्वभाव है, वह उससे कभी रहित नहीं हो सकता। गीता में भगवान् ने कहा है—

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । (गीता १३। २०)

सुख और दुःख के भोग में पुरुष ही हेतु कहा गया है। जैसा कि मैने अभी बताया कि भोग का अभिप्राय अनुभूति से है और अनुभूति ज्ञान का विषय है, ज्ञान चेतन का सहज स्वरूप है। चेतन में ज्ञान और ज्ञान में अनुभूति वा भोग स्वभावतः निहित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे गति वायु का धर्म है, प्रकाश तेज का धर्म है, वैसे ही अनुभूति वा भोग चेतन का धर्म है। चाहे वह अनुकूल हो वा प्रतिकूल, सुखद हो वा दुःखद, जीव उसकी अनुभूति वा भोग करेगा ही। यदि वह भोग्य पदार्थों के साथ आसक्त नहीं हो तो वह भोग उसके लिए विरति में कारण बनता है और विरति के पश्चात् ही स्वस्वरूप में स्थिति हो पाती है, अन्यथा नहीं। स्वस्वरूप-स्थिति ही मोक्ष की प्राप्ति है, वही परमानन्द का स्रोत है। वेद में उसे ही स्वराज्य कहा गया है। मनु कहते हैं—**''सर्वं आत्मवशं सुखम्''** स्वराज्य ही समस्त सुखों का स्रोत है। ब्रह्मविद्या उसी सुख के स्रोत तक पहुँचाने के लिए साधन रूप में आदेश देती है—**''तेन त्यक्तेन भुंजीथा''**।

वेद में भोग के लिए वर्जना नहीं है, मनाही नहीं है क्योंकि वह जीव का स्वभाव है, उससे वह विरत नहीं हो सकता। वर्जना केवल आसक्ति की है। भोग्य पदार्थों में भगवद्प्रदत्त भावना होने से आसक्ति का स्वतः अभाव हो जाता है। दुर्गा सप्तपदी में

प्रसंग आया है जिसमें यह बताया गया है **''ददाति प्रतिगृह्णाति''** जिसका अभिप्राय यह है कि साधक के पास जो कुछ है वह भगवती को समर्पित कर दे और पुनः उसका प्रसाद समझकर उसे स्वीकार कर उसका प्रयोग करे। इससे वह भोगजन्य आसक्ति से आबद्ध नहीं होगा।

महाराष्ट्र में एक महान् सन्त हुए हैं, जिनका नाम था समर्थ गुरु रामदास। वे महाराज शिवाजी के गुरु थे। शिवाजी जब हिन्दू राज्य की संस्थापना और उसकी व्यवस्था करने लगे तो एक दिन समर्थ गुरु रामदास ने उनके महल में जाकर भिक्षा के लिए 'जय जय समर्थ रघुवीर' की आवाज लगाई। समर्थ गुरु रामदास भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त थे। महाराष्ट्र में लोग उन्हें भगवान् मारुति का अवतार मानते हैं। ''श्रीराम जय राम जय जय राम'' १३ अक्षर का महामन्त्र उनकी साधना का सर्वस्व था। भिक्षा में जैसे संन्यासी 'नारायण हरि' कहता है, उसी रूप से समर्थ जी महाराज सदैव ''जय जय समर्थ रघुवीर'' कहा करते थे। समर्थ गुरु रामदास की जय-ध्वनि सुन कर शिवाजी बाहर आए; देखा, गुरुदेव खड़े हुए हैं भिक्षा के लिए। भिक्षा में उन्हें क्या दिया जाए? सब-कुछ तो उन्हीं के आशीर्वाद का परिणाम है। यह सोचते हुए महाराज शिवाजी एक कागज पर अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को लिखकर उनकी झोली में अर्पण कर चरणों में गिर गए। गुरुदेव ने शिवा के भाव को देखा और उस कागज़ को लेकर मुस्कराते हुए बोले—अरे, मैं भिक्षा माँगने आया हूँ और तू मुझे कागज़ दे रहा है! इसको लेकर मैं क्या करूँगा? शिवाजी ने कहा—प्रभो! मेरे पास देने के लिए है ही क्या? यह शिवा तो स्वयं आपका प्रसाद है। समर्थ गुरु रामदास ने बड़े प्यार से शिवा के सर पर हाथ फेरते हुए कहा—तुम्हारी दी हुई इस भिक्षा को मैंने स्वीकार किया। अब यह प्रसाद-रूप में मैं तुम्हें दे रहा हूँ, इसे ग्रहण करो। शिवाजी ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की, अपने सम्पूर्ण राज्य को गुरु-प्रसाद के रूप में स्वीकार कर स्वयं एक सेवक के रूप में उसकी व्यवस्था और राज्य का संचालन किया। उनके सुव्यवस्थित राज्य की महिमा आज भी लोग गाते हैं। इसी प्रकार से वेद कहता है—जो कुछ भी तुम्हें मिला है उसे प्रभु का प्रसाद समझकर भोग करो इससे तुम उसके बन्धन से विमुक्त रहोगे—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथा।'** आगे का शब्द है **'मा गृधः'** आसक्त मत होओ, लालची मत बनो, गृद्ध मत बनो!

जीवन के उत्थान और पतन के साधन के रूप में दो पक्षियों का उदाहरण दिया जाता है—एक गृद्ध, जो आकाश में बहुत ऊँचा उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर पड़े मांस पर अपनी दृष्टि रखता है। दूसरा पक्षी है चकोर, जो पृथ्वी पर रहते हुए भी आकाश में स्थित चन्द्रमा पर अपनी दृष्टि रखता है। इसी रूप से संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं—बुभुक्षु और दूसरे मुमुक्षु। बुभुक्षु गृद्ध-वृत्ति वाले होते हैं, वे विभिन्न प्रकार के यज्ञ-यागादि कर्मों को करते हुए भी अपनी दृष्टि भोगप्रद पदार्थों पर ही टिकाए रखते

हैं। दूसरे मुमुक्षु हैं, जोकि सामान्यतः छोटे-से-छोटा कार्य करते हुए भी अपनी अन्तरदृष्टि को उस परमात्मा में ही लगाए रखते हैं। वेद का आदेश है—तुम चकोरवत् अपनी दृष्टि रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र वा चन्द्रमौलि में ही लगाओ। गीध मत बनो! गीधवत् संसार के भोगों में, ऐश्वर्य में आसक्त मत होवो। **'मा गृधः'** वेद के इस आदेश को यदि हृदय में धारण कर ले तो मनुष्य स्वयं को महापतन से सुरक्षित रखते हुए उस परमतत्त्व को प्राप्त करने की दिशा में सुगमता से अग्रसर हो सकता है।

यह याद रखो तुम वहाँ नहीं हो जहाँ तुम्हारा शरीर है, बल्कि वहाँ हो जहाँ तुम्हारी अन्तर्दृष्टि है, तुम्हारा मन है। गीध का शरीर भले ही आकाश में हो, किन्तु उसकी दृष्टि पृथ्वी पर है इसलिए वह पृथ्वी पर ही है। चकोर भले ही पृथ्वी पर रहता हो, किन्तु उसकी दृष्टि आकाश-स्थित चन्द्रमा पर है इसलिए वह अमृतमय चन्द्र-किरणों के रस का पान करते हुए उसमें ही तन्मय हो उससे अभिन्नता की अनुभूति करता है। यही स्थिति मनुष्य की है शरीर से वह कहीं भी रहता हो, कुछ भी करता हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; यथार्थतः जहाँ उसका मन है वहीं वह है।

दो मित्र नृत्य देखने की कामना से रंगस्थल पर जा रहे थे। रास्ते में पता चला कि कोई विद्वान् सन्त धर्मशास्त्र पर व्याख्यान दे रहे हैं; विचार किया कि चलो सुनते चलें। सत्संग-सभा में गए तो देखा, कोई विरक्त सन्त धर्मशास्त्र का उपदेश कर रहे थे। एक ने कहा कि व्याख्यान सुनने योग्य है, मेरी राय है कि सुनना चाहिए, नृत्य तो फिर भी कभी देख लेंगे। दूसरे ने कहा कि अच्छा है, तुम यहाँ सत्संग सुनो किन्तु मैं तो नृत्य देखने ही जाऊँगा और उसे वहीं छोड़कर वह नृत्यशाला में पहुँच गया। नृत्य देखते हुए वह सोचने लगा—मैं कितना बुद्धिहीन, भाग्यहीन हूँ कि महापुरुष के दर्शन और व्याख्यान का तिरस्कार कर यहाँ आकर एक वेश्या का नृत्य देख रहा हूँ! कितनी मलिन बुद्धि है मेरी! मित्र मेरा भाग्यशाली है जो कि समय का सदुपयोग कर भगवान् की पावन कथा का श्रवण कर रहा होगा। धिक्कार है मेरे को और मेरी इस बुद्धि को! वह नृत्यशाला में स्वयं को कोसता रहा; किन्तु उसका ध्यान महात्मा और उनके उपदेश की कल्पना में ही लगा रहा। उधर उसका दूसरा साथी जो सत्संग में बैठा था, वह मन-ही-मन सोचने लगा भला, आज मुझे क्या हो गया, अच्छा-भला मित्र के साथ नृत्य देखने जा रहा था, यहाँ सत्संग में आकर बैठ गया; क्या अभी यह मेरी अवस्था सत्संग की है! अभी तो यह युवावस्था, खाने-पीने, दुनिया के ऐश-आराम करने, नृत्य संगीत आदि में आनन्द लेने की अवस्था है। सत्संग आदि तो वृद्धावस्था में ही अच्छा होता है। मृत्यु से पूर्व ही ईश्वर का चिन्तन-भजन उपयोगी होता है। अभी तो मृत्यु बहुत दूर है। भला मैं अभी से महात्माओं की बातें सुनकर क्या करूँगा? मेरा मित्र इस विषय में अधिक समझदार है, तभी तो वह अपना समय इन व्यर्थ की बातों में न लगाकर नृत्यशाला में नृत्य देखते हुए जीवन का आनन्द ले

रहा होगा। मैं यहाँ कहाँ आकर फँस गया। सत्संग में बैठा हुआ व्यक्ति नृत्यशाला की कल्पना और नृत्याङ्गना का चिन्तन कर रहा है, जबकि नृत्यशाला में बैठा हुआ व्यक्ति महात्मा और उनके दिव्य उपदेश का, और अपने चिन्तन के अनुसार ही वे दोनों एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत फल के पात्र बन रहे हैं। भगवान् ने गीता में कहा है—**''यो यच्छ्रद्धः स एव सः''** जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वही है। इसलिए वेद आदेश देता है **''मा गृधः''**। मनुष्य के उत्थान के लिए इससे श्रेष्ठ और कोई आदेश नहीं हो सकता। संसार में रहते हुए भी चित्त की वृत्ति को भगवान् में लगाए रखने का यह अनुपम आदेश है। जहाँ तुम्हारा मन है वहीं तुम हो, जो कुछ तुम्हारा मन कर रहा है वही तुम कर रहे हो, ऐसा समझकर सतर्कता के साथ स्वयं के मन को सम्भालो।

सर्वरूप में परमात्मा परिव्याप्त है, जो कुछ मिला हुआ है वह परमात्मा का प्रसाद है, ऐसा स्वीकार करते हुए उसका भोग करो, उसकी यथार्थता का अनुभव करो, लालची मत बनो, यह कितना सरल, सुगम, व्यावहारिक तथा उपयोगी उपदेश है! शरीर कहाँ है, क्या कर रहा है, इसकी कोई महत्ता नहीं। मन कहाँ है, क्या कर रहा है, यही महत्त्वपूर्ण है। गीता का यही मुख्य उपदेश है। ब्रह्मविद्या की यही साधना है। हम व्यवहार में भी यही देखते हैं कि क्रिया का नहीं, भाव का ही फल मिलता है। यदि कोई व्यक्ति किसी का वध कर दे तो उसे फाँसी की सज़ा मिलती है, किन्तु एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों का वध करके आता है तो उसे सम्मान के साथ वीर-चक्र प्रदान किया जाता है। इसमें क्या कारण है? क्रिया की समानता होते हुए भी भाव की, उद्देश्य की भिन्नता ही इसमें कारण है। यदि कोई व्यक्ति किसी का वध करता है और दूसरा वध का आदेश देता है तो कानून की दृष्टि से दोनों ही सज़ा के पात्र होते हैं; किन्तु मृत्युदण्ड सुनाने वाला न्यायाधीश है और जल्लाद अपराधी को फाँसी पर चढ़ाता है। बाह्य दृष्टि से देखा जाए तो न्यायाधीश और जल्लाद की क्रिया भी उसी प्रकार की है जैसे कि अपराधी और उसके प्रेरक की; किन्तु क्रिया की समानता होने पर भी न्यायाधीश और जल्लाद अपराधी की श्रेणी में नहीं आते क्योंकि वे दोनों जो कुछ भी करते हैं वह द्वेष, अमर्ष, शत्रुता वा स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं शासन-स्वीकृत न्याय का पालन करने के लिए ही करते हैं। क्रिया एक है लेकिन भाव अलग हैं, इसलिए उसका परिणाम भी भिन्न है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रिया का नहीं कर्त्ता को नीयत का ही फल प्राप्त होता है। इसलिए वेद कहता है—अपनी नीयत खराब मत करो! सदैव भगवद्भाव से भावित होकर मिले हुए का उपभोग करो—**''मा गृधः''** लालची मन बनो, आसक्त मत होवो।

इस मन्त्र का आखिरी शब्द है **''कस्य स्वित् धनम्''** धन किसका है यह विचार करो। इस वाक्य में दो प्रकार के भाव हैं। इसमें आदेश भी है और उपदेश

भी है। विचार करो, यह धन किसका है?—यह तो आदेश है। यह धन किसका है, किसके साथ गया, किसके काम आया, किसका हुआ; अभिप्राय यह है कि यह किसी का नहीं हुआ, अन्त में किसी के काम नहीं आया, किसी के साथ नहीं गया, यह उपदेश है। तत्त्वतः विचार करने पर जो वस्तु जिससे प्रकट होती है, वह उसी की होती है। जैसे मिट्टी से घड़ा बना है तो घड़ा मिट्टी का है। लोहे का यन्त्र बना है तो यन्त्र लोहे का है। उसी प्रकार से विश्व का समस्त भोग-वैभव पंचमहाभूतों से बना है, इसलिए यह पंचमहाभूतों का ही है। पंचभूत प्रकृति के और प्रकृति परमात्मा की ही अभिन्न शक्ति है, इस दृष्टि से यह सब-कुछ परमात्मा का ही है। ऐसा विचारकर सर्व रूप में परमात्मा को स्वीकार करते हुए, परमात्मा के दिए हुए पदार्थों को भोगो; इनमें आसक्त मत होओ, यही इस मन्त्र का मुख्य आदेश है।

दूसरी दृष्टि से यह धन किसी का भी नहीं है, न किसी का हुआ और न किसी का होगा ही। जिस पदार्थ को आज तुम अपना समझ रहे हो, कल यह किसी और का था और पुनः क्या पता कल यह किसका हो जाए। इसलिए इसमें आसक्ति करना दुःख को ही निमन्त्रित करना है। भारत में आज जहाँ चण्डीगढ़ शहर बसा हुआ है, कुछ वर्ष पूर्व वहाँ बंजर ज़मीन थी, कुछ इधर-उधर वृक्ष लगे हुए थे, उसमें कई छोटे-छोटे गाँव बसे थे। किसी प्रभावशाली व्यक्ति की वह ज़मीन थी, इसलिए उसकी प्रेरणा से वहाँ एक नया नगर बसाने की योजना तैयार की गई और नगर का निर्माण प्रारम्भ हो गया। बहुत-से लोगों ने प्लाट खरीदे और उसके मालिक के रूप में स्वयं को मानते हुए मकान बनाए और उनमें रहने लगे। कुछ वर्ष पूर्व किसी सरकारी कार्य से वहाँ खुदाई होने लगी। कुछ नीचे जाकर उसमें से पुराने अवशेष मिले। पुरातत्त्व विभाग ने उसे अपने हाथ में लेकर उसकी खुदाई करवाई जिससे यह ज्ञात हुआ कि चार हज़ार वर्ष पूर्व उस स्थान पर एक विशाल और सुव्यवस्थित नगर बसा हुआ था। ज़रा कल्पना कीजिए—चार हजार वर्ष पूर्व जो लोग वहाँ रहते होंगे, उन्होंने भी अपनी-अपनी कोठियाँ बनाई होंगी, स्वयं को उनका मालिक समझते होंगे और भूमिखण्ड के लिए एक-दूसरे से लड़ाई भी किए होंगे। जिनकी कोठियाँ थीं, जो उनके मालिक थे उनका वहाँ नाम-निशान तक शेष नहीं है। तो क्या जो आज मालिक बने हुए हैं उनकी यह मलकियत सदा कायम रहेगी? नहीं, सर्वथा असम्भव है। सूरदासजी ने एक पद में लिखा है—

वसुधा काहु की न भई ।

यह पृथ्वी किसी की भी नहीं हुई। समस्त भोग, ऐश्वर्य, धन का स्रोत यह पृथ्वी ही है। यहाँ जितने भोग के पदार्थ हैं या अमूल्य रत्न हैं, सब पृथ्वी के ही परिणाम हैं। वह पृथ्वी आज तक न तो किसी की हुई है और न आगे किसी की होगी। तुलसीदासजी के शब्दों में—

सहसबाहु दस बदन आदि नृप बचे न काल बलीते ।
हम हम कही धन धाम संवारे अन्त चले उठि रीते ।।

अभिप्राय यह कि सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ मनुष्य के उपयोग के लिए हैं। जीव का उन पर प्रयोगाधिकार मात्र है, सत्त्वाधिकार नहीं। इसलिए वेद कहता है—''**धनम् कस्य स्वित्**'' धन किसका है?

बच्चेपन में एक कहानी सुनी थी। एक बार भगवान् शंकर पार्वतीजी के साथ चले जा रहे थे। देखा-एक जगह गेहूँ का ढेर लगा हुआ था। एक बकरा दौड़ता हुआ आया, उस ढेर में मुँह मार कर गेहूँ खाने लगा। किसान जो गेहूँ की रखवाली कर रहा था, लाठी लेकर दौड़ा और उस बकरे पर प्रहार कर दिया। बकरा चिल्लाता हुआ भागा। इस दृश्य को देखकर भगवान् शंकर हँसने लगे। भगवती पार्वती ने पूछा—प्रभो! इस निर्दयी किसान ने उस बेजुबान बकरे पर लाठी का प्रहार किया और इस दुःखद घटना को देखकर आप हँस रहे हैं, इसका कारण क्या है? भगवान् शंकर बोले—प्रिये! यह बकरा उस किसान का बाप है। इसने बेईमानी करके अपने भाई की ज़मीन हड़प ली थी। उस पाप के परिणाम में मृत्यु के बाद इसे बकरे की योनि प्राप्त हुई है क्योंकि यह अपने पाप का फल भोगने के लिए इस योनि में आया है, इसलिए इसे पूर्वजन्म की स्मृति बनी हुई है। जिस भूमि के लिए बेईमानी की थी, उसी भूमि में उत्पन्न हुआ यह गेहूँ का ढेर है। अपना अधिकार समझकर बकरा गेहूँ खाने के लिए दौड़कर गया और ग्रास मुँह में भरकर खाने लगा, किन्तु उसके लड़के को इसका पता नहीं है कि यह बकरा उसका बाप है। वह उसे गेहूँ खाते देखकर लाठी लेकर दौड़ा और मार दिया। लाठी की चोट से बकरा चिल्लाते हुए अपनी भाषा में कह रहा है—अरे मूर्ख! मुझे क्यों मार रहा है? मैंने तो तुम्हारे लिए ही इतना बड़ा पाप करके यह भूमि प्राप्त की थी। क्या इसमें से थोड़ा-सा भी गेहूँ खाने का मेरा अधिकार नहीं है? भगवान् शंकर ने कहा—मुझे बकरे की बात पर हँसी आ रही है कि देखो, जिसके लिए इसने इतना महान् पाप किया, मनुष्य से बकरे की योनि प्राप्त की, वही पुत्र उसे लाठी से मार रहा है और वह बड़बड़ाता हुआ जो कुछ भी कह रहा है; भला, उस पशु की भाषा वह मनुष्य कैसे समझ सकता है? इस कहानी से यह सीख मिलती है कि यहाँ पर अज्ञानता और प्रमादवश दुनिया के भोगों में आसक्त होकर मनुष्य जो भी कुछ करता है, उसका परिणाम उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। तो जिस धन के लिए वह पाप में प्रवृत्त होता है वह कभी भी उसका नहीं हो पाता। इसीलिए वेद का उपदेश है ''**कस्य स्वित् धनम्**'' यह धन किसका है?

प्रायः देखा जाता है मनुष्य में धन के प्रति जो आसक्ति है वह केवल अपने लिए ही नहीं, अपने प्रियजनों के लिए ही हुआ करती है। स्त्री, पुत्र, परिवार के लिए

ही वह अनेक प्रकार के भोगमय पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है। इस सत्य का उद्‌घाटन करते हुए गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन भगवान् से कहता है—

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ (गीता १।३३)

जिनके लिए मुझे राज्य, भोग, सुख, धन चाहिए वे सभी अपने सुख और जीवन का मोह त्यागकर युद्ध के लिए खड़े हुए हैं, इसलिए वह कहता है—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। (गीता १।३२)

हे कृष्ण! हमें राज्य नहीं चाहिए, सुख नहीं चाहिए। अपने लिए तो अर्जुन जैसा आदमी सोचता है—

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। (गीता २।५)

"मेरे लिए तो इस लोक में भिक्षा माँगकर जीवन यापन करना ही श्रेयस्कर है।" यह जो धन-वैभव की कामना है वह मनुष्य अपने लिए ही नहीं, बल्कि अपने प्रियजनों के लिए ही करता है। विचारणीय बात यह है कि जिन प्रियजनों के लिए वह कामना में, लोभ में आसक्त हो जाता है वे प्रियजन कौन हैं? किससे सम्बन्धित हैं? क्या उनका सम्बन्ध नित्य है? इसकी यथार्थता को समझने के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी को दिया गया उपदेश चिन्तन करने योग्य है, मनन करने योग्य है। पति द्वारा प्रदत्त विपुल वैभव की उपेक्षा करते हुए मैत्रेयी महर्षि के चरणों में अमृतत्त्व प्राप्ति की जिज्ञासा लेकर उपस्थित होती है। उसकी पात्रता को देखते हुए, उसकी जिज्ञासा के देखते हुए याज्ञवल्क्य उससे कहते हैं—अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं, आत्मा के प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के लिए स्त्री प्रिय नहीं, आत्मा ही के लिए स्त्री प्रिय होती है। पुत्र के लिए पुत्र नहीं, आत्मा के लिए ही पुत्र प्रिय होता है। धन के प्रयोजन के लिए धन प्रिय नहीं, आत्मा के लिए ही धन प्रिय होता है। लोकों के प्रयोजन के लिए लोक प्रिय नहीं, आत्मा के लिए ही लोक प्रिय होते हैं। अन्त में कहा-सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, आत्मा के प्रयोजन के लिए ही सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्याः, श्रोतव्यं, मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं च"** इसलिए आत्मा ही दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय है और वही ध्यान करने के योग्य है। अभिप्राय यह कि विश्व के सारे सम्बन्ध, विश्व का सम्पूर्ण वैभव आत्मा के नाते ही प्रिय होता है। शरीर के सम्बन्धी तथा उसकी सुविधा के साधन रूप धन सम्पत्ति में आसक्त हो आत्मा का ही पतन कर देना कितनी दुःखद बात है!गीता में भगवान् का कथन है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। (गीता ६।५)

मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं अपनी आत्मा का उद्धार करे। उसको पतित न करे।

धन-सम्पत्ति-वैभवादि में आसक्त हो मनुष्य आत्मा का उत्थान नहीं, बल्कि पतन कर देता है। परिवार में आसक्त हो प्रियजनों की सुख-सुविधा की व्यवस्था की कामना में पड़कर व्यक्ति अपना विनाश कर लेता है। इसलिए मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिए। जो कुछ भी हम कर रहे हैं वह क्यों कर रहे हैं, किसके लिए कर रहे हैं, यह विचारते रहना चाहिए।

रामायण में एक कथा आती है—भगवान् श्री राम बाली का वध कर देते हैं। उसकी स्त्री तारा पति के मृत शरीर को लेकर विलाप करने लगती है। तारा को विलाप करते हुए देख प्रभु उससे पूछते हैं—तारा! तू क्यों और किसके लिए विलाप कर रही है? तारा कहती है—प्रभो! आपने मेरे पति का वध कर दिया और फिर मुझ-से पूछते हैं कि मैं क्यों रो रही हूँ? किसके लिए रो रही हूँ? प्रभु पूछते हैं—तारा! तुम अपना पति किसे मानती हो? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से बना शरीर यदि तुम्हारा पति है तो वह तो तुम्हारी गोद में है, उसके लिए रोने की बात ही नहीं; और यदि इसमें रहने वाले जीव को तुम अपना पति मानती हो तो वह तो नित्य है, शाश्वत है, जन्म-मृत्यु के प्रपंच से सर्वथा परे है, उसके लिए विलाप करना व्यर्थ है। जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेती है। इस शरीर में आने से पहले वह तुम्हारा पति नहीं था, इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् भी अब वह तुम्हारा पति नहीं है। जिस शरीर के नाते वह तुम्हारा पति था, वह शरीर तुम्हारी गोद में है। आत्मा के नाते वह शाश्वत, सनातन, नित्य है, वह न किसी का पति है न पत्नी, न किसी का पुत्र है न पिता। शरीर के जितने भी सम्बन्ध हैं वे शरीर तक ही रह जाते हैं। शरीर से विलग होने पर किसी का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। भगवान् का यह उपदेश सुन कर तारा को यथार्थ बोध हो गया और उसने प्रभु के चरणों में समर्पित हो परमभक्ति का वरदान प्राप्त किया।

मैं आप लोगों को समझा रहा था कि यह विश्व का व्यापार आत्मा के ही नाते चल रहा है और वह आत्मा सृष्टि-प्रवाह में अब तक अनन्त योनियों में जन्म लेकर अनन्त माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष, पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धों को स्वीकारते और छोड़ते हुए इस सृष्टि-क्रम में विविध प्रकार के उत्थान-पतन को प्राप्त होता हुआ चला आ रहा है। शरीरगत सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित रह जाते हैं। शरीरान्त के पश्चात् नए शरीर प्राप्त होने पर पुनः नए सम्बन्धी बन जाते हैं। जिन पुत्र-कलत्र आदि सम्बन्धियों के व्यामोह में पड़कर तुम विविध प्रकार के धन-सम्पत्ति के संग्रह में लगे रहते हो, क्या इससे हमारा या उनका कुछ किंचित् मात्रा में भी हित होता है वा हो सकता है? यदि नहीं तो फिर हम व्यर्थ में अपने अमूल्य जीवन का विनाश क्यो करते हैं? जिस आत्मा के नाते सारे सम्बन्ध स्फुरित होते हैं, व्यामोह में पड़ कर, आसक्ति में पड़कर उस आत्मा का पतन करना बुद्धिशील मनुष्य के लिए सर्वथा

अनुचित एवं अशोभनीय है, क्योंकि इस धन पर सत्त्वाधिकार अपना और अपने सम्बन्धियों में से किसी का भी नहीं हो सकता। अब तक जितने जीव हो गए हैं सभी इसका उपयोग करते हुए इसमें ममत्व कर दुःख-सुख के भाजन बनते रहे हैं, कितने उनमें से ईश्वरीय भाव से भावित हो इसका प्रयोग कर अपने को कृतकृत्य भी कर चुके हैं। भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः । (गीता ४।१०)

बहुत-से जीव ज्ञानरूपी तप के द्वारा पवित्र होकर ईश्वरीय भाव को प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए वेद का आदेश है कि जो कुछ तुम्हें ईश्वरीय विधान से मिला है उसका उपभोग करते हुए, उपयोग करते हुए आत्मोद्धार में निरत रहो। आसक्त मत बनो! विचार करो यह धन किसका है? **''मागृधः कस्यस्विद् धनम् ।''**

तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने इस सृष्टि के रहस्य को अच्छी प्रकार से समझा है। इसका अनुसंधान करके इसे परखा है, देखा है। स्वयं के अनुभूत सत्य का ही मानव के लिए उपदेश दिया है और यह समझाया है कि यदि कोई विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर अधिकार कर ले, तो भी उसकी आवश्यकता के लिए तो बहुत थोड़ा-सा पदार्थ ही उपयोगी होता है। सुबह से शाम तक दिन-रात जो लोग धन बटोरने में लगे हुए हैं, आखिर उससे उन्हें क्या लाभ होता है? सुख के साधन इकट्ठा करते ही ज़िन्दगी बीत जाती है, किन्तु उस सुख का वे दर्शन नहीं कर पाते। गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में कहा है—

डासत ही गई बीती निसा सब
कबहूँ न नाथ नींद भरि सोयो ।

''हे नाथ! बिस्तर लगाते-लगाते ही सारी रात्रि बीत गई, नींद-भर सोने के लिए कभी समय ही नहीं मिला।'' अभिप्राय यह कि सुख के साधन बटोरते-बटोरते ही ज़िन्दगी बीत गई, किन्तु सुख के कभी दर्शन नहीं हुए।

गम्भीरता से विचार करें तो अपने कृत्यों को देखकर स्वयं ही अपने पर ग्लानि होती है। मनुष्य की आयु की सीमा यदि १०० साल की भी मान लें तो उसमें से प्रारम्भ के २० साल लड़कपन में ही बीत जाते हैं, बाद के २० साल वृद्धावस्था में और बीच के बचे हुए जो ६० वर्ष होते हैं उसमें से आधा समय तो सोने में ही चला जाता है, शेष जो आधा बचता है यानि कुल मिलाकर ३० वर्ष, उसमें से भी कुछ जीविका अर्जन करने में और कुछ शारीरिक क्रिया-कलाप में। भला हिसाब लगाकर देखें तो कितना समय मिलता है सुखोपभोग के लिए? यदि सावधानी से विचार करें तो सूरदासजी के शब्दों में यही बात समझ में आएगी कि सारा जीवन नाचने में ही, भटकने में ही समाप्त हो जाता है। सूरदासजी कहते हैं—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।

काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।।

सारांश यह कि काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सरादि से प्रेरित हो इन साधनों को अपनाकर मनुष्य का सारा जीवन नाचते-भटकते ही समाप्त हो जाता है। जीवन के इस यथार्थ को व्यक्ति यदि समझ ले तो वह लालच से, आसक्ति से विमुक्त हो वेद के यथार्थ उपदेश को जीवन में धारण करके स्वयं को विमुक्त कर कृतकृत्य हो सकता है। अन्यथा भोग से, ऐश्वर्य से, धन से न तो कभी किसी की भूख मिटी है, न मिटती है और न मिटेगी। भर्तृहरि के शब्दों में—

भोगाः न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः।।
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

भोग को हमने नहीं भोगा, भोग ने हमें भोग लिया, काल को हमने पास नहीं किया, काल हमें पास कर गया; तप हमने नहीं तपा, हम स्वयं ही तप गए, तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, किन्तु हम ही बूढ़े हो गए। इसलिए जगत् और जीवन की यथार्थता को समझ कर हमें सदैव वेद के इस संदेश को हृदयंगम करना है **''मागृधः कस्य स्वित् धनम्''**। जिस मन्त्र की आप लोग व्याख्या सुन रहे हैं एक बार पुनः उसके सारांश को समझ लें। इस जगत् में जो कुछ भी है उसमें ईश्वर बसा हुआ है। उस ईश्वर के द्वारा दिए गए साधनों का भोग करें। आसक्त न हों, लालची न बनें, सदैव सावधान रहें! यह धन किसका है? इस मन्त्र को याद कर लेना चाहिए और सदैव इसके अर्थ का चिन्तन करते रहना चाहिए—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुंजीथा ।
मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।
हरि ओम् तत् सत् ।

□ □

५

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

विश्व के प्राचीनतम दार्शनिक विज्ञान के आधारभूत ब्रह्मविद्या के उद्घाटक वैदिक साहित्य के शिरोभाग ईशोपनिषद् की व्याख्या की जा रही है। कई दिनों से आप लोग इसके प्रथम मन्त्र की व्याख्या सुन रहे हैं, जिसमें विविध प्रकार के उदाहरणों से इस बात को समझाने का प्रयत्न किया गया है कि यह सारा विश्व ईश्वर से परिपूर्ण है। जो कुछ भी जड़-चेतन चराचर दिखाई दे रहा है, इसमें कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ पर ईश्वर विद्यमान न हो; इसलिए जो कुछ भी ईश्वर का दिया हुआ है उसे ईश्वर को समर्पित करते हुए उसका भोग करें। गृद्ध न बनें! लालची न बनें सदैव यह सोचते रहें—धन किसका है? इस पर जब आप गम्भीरता से विचार करेंगे तो आपको यह बोध हो जाएगा कि धन जिससे है उसी का है। यह सारा ईश्वर से है, ईश्वर में है, ईश्वर की महिमा को प्रकट करने के लिए है। वेद का कथन है—**''एतावानस्य महिमा''** यह सब उसकी महिमामात्र है **''ततोज्यायांश्च पूरुषः''** वह परमेश्वर तो इससे अनन्त गुणा महान् है। जो परमेश्वर से है, परमेश्वर में है, परमेश्वर की महिमा को प्रकट करने के लिए है, उसके ऊपर अपना सत्त्वाधिकार समझना बहुत बड़ी भूल है। जब हम किसी वस्तु को, पद-पदार्थ को अपने द्वारा निर्मित वा अपने प्रयत्न का परिणाम मानने लगते हैं तो उसमें हमारी आसक्ति हो जाती है। जब हम किसी वस्तु में आसक्त हो जाते हैं तो उस अवस्था में हम अपने को एक सीमा में बाँध लेते हैं, अर्थात् वह आसक्ति हमारे लिए बन्धन का कारण बन जाती है और वहीं से नाना प्रकार के दुःखों का, संतापों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। यदि हम इस दुःख से, सन्ताप से बचना चाहते हैं तो वेद के **''मा गृधः कस्य स्वित् धनम्''** इस आदेश का चिन्तन करें, मनन करें और उस परम सत्य को समझें जिसे आस्तिकों की भाषा में ईश्वर कहा जाता है। उसकी सत्ता और महत्ता को समझकर हम इस आसक्ति के बन्धन से विमुक्त हों।

जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, इस दृश्य का अवश्य ही कोई कारण होगा क्योंकि जो दीख रहा है वह कारण नहीं, कार्य है। कुछ लोग इसके कारणरूप में परमाणुओं को स्वीकार करते हैं, वे आरम्भवादी हैं। कुछ लोग प्रकृति को स्वीकार करते हैं, वे परिणामवादी हैं। कुछ लोग इसके कारणरूप में ब्रह्म को स्वीकार करते

हैं, वे विवर्तवादी हैं। वेदान्त इस समस्त चराचर जगत् के कारण को ब्रह्म की अंशाभिव्यक्ति मानता है। वेदान्त की दृष्टि से जब आप जगत् के कार्य-कारण सम्बन्ध का चिन्तन करेंगे तो आपको यह बोध हो जाएगा कि सर्व रूप में एक ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। महाभारत का एक श्लोक है जिसमें भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

यस्मिन् सर्वं, यतो सर्वं, यः सर्वं, सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयोनित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

"जिसमें यह सब-कुछ है, जिससे यह सब-कुछ है, जो इस सर्वरूप में प्रकट है, जो सर्वत्र सब-कुछ है, जिसके द्वारा यह सब-कुछ व्याप्त है उस सर्वात्मा के लिए मेरा नमस्कार है।" अभिप्राय यह कि शास्त्रीय दृष्टि तथा वर्तमान की वैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति और तर्क के द्वारा आप लोग इसको अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं कि यह सारा विश्व एक ही सत्ता का परिणाम है। उस सत्ता को हम अपनी भाषा में ब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा कहते हैं, अन्य लोग उसको और भी कोई नाम दे सकते हैं। उस एक तत्त्व का ही यह सारा विस्तार है, इसलिए इसमें अपना कहने को कुछ भी नहीं; अपना मानना ही भूल है, अविद्या है, अज्ञान है।

किसी वस्तु को व्यक्ति अपना तभी कह सकता है यदि वह उसके द्वारा निर्मित हो, किन्तु दुनिया में एक तिनका भी तो अपना बनाया हुआ नहीं है। विश्व के सारे वैज्ञानिक मिलकर एक तिनके का निर्माण भी नहीं कर सकते, जन-सामान्य की तो बात ही क्या है! विज्ञान हमें केवल इतना ही बता सकता है कि तिनके में कौन-कौन सा तत्त्व विद्यमान है, किन्तु उन तत्त्वों को मिलाकर वह स्वयं एक तिनका बना नहीं सकता। वैज्ञानिक यह बता सकता है कि आम के फल में कौन-कौन से रासायनिक तत्त्व कितनी मात्रा में हैं, किन्तु उन रासायनिक तत्त्वों को उतनी मात्रा में ही इकट्ठा करके आम का एक फल बनाने में सक्षम नहीं है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि जिसको हम बना नहीं सकते अथवा जिसका निर्माण करना हमारे सामर्थ्य से परे की बात है उसे अपना मानना, उस पर अपना अधिकार मानना अज्ञानजन्य भूल के सिवा और कुछ नहीं। हम से पहले इस पृथ्वी पर अनेकों लोग हो गए हैं और सभी ने इसको अपना मानने की भूल की और उसी भ्रम में वे काल के गाल में विलीन हो गए; उनका निशान तक भी शेष नहीं है, इसलिए हमें ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए।

यद्यपि सृष्टि का प्रवाह नित्य है, फिर भी इसके आविर्भाव और तिरोभाव की एक बड़ी लम्बी सीमा है, जिसको इस ब्रह्माण्ड की आयु कहा जाता है। इसको आप लोग संक्षेप में इस प्रकार समझ लें। हमारे यहाँ सृष्टि की आयु को कल्प कहते हैं और कल्प की गणना इस प्रकार से की जाती है—रात और दिन को मिलाकर २४ घण्टे के परिमाण वाला एक दिन होता है, १५ दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष। इस

वर्ष के हिसाब से चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष का कलियुग, आठ लाख चौंसठ हज़ार वर्ष का द्वापर, बारह लाख छयानवे हज़ार वर्ष का त्रेता और सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार वर्ष का सतयुग होता है। इस प्रकार से चारों युगों के काल को एक महायुग कहते हैं। इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तर में एक मनु, एक इन्द्र, सप्तर्षि और मनुपुत्र होते हैं। मन्वन्तर जब पूरा हो जाता है तो उस समय खण्ड प्रलय होता है। खण्ड प्रलय का अभिप्राय है पंचमहाभूतों की स्थिति ऐसी ही रहती है, किन्तु उसमें जो जैवी सृष्टि है उसका विनाश हो जाता है। पश्चात् दूसरा मन्वन्तर प्रारम्भ हो जाता है। उसमें पुनः नए मनु, इन्द्र, सप्तऋषि एवं मनु की सन्तानें होती हैं।

इस प्रकार से चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। वह कल्प ब्रह्मा का एक दिन है। कल्प पूरा होने पर ब्रह्मा अपनी सृष्टि को समेट लेता है। उस क्रम में पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश उस ईश्वर के संकल्प में, संकल्प ईश्वर के अहं में, अहं महतत्त्व में, महतत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है और वह प्रकृति परमात्मा के आश्रित हो प्रशान्त हो जाती है, इसे प्रलय कहते हैं। एक कल्प का ब्रह्मा का दिन और उतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि, इस दिन-रात्रि के क्रम से ब्रह्मा के भी पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष होते हैं और उस वर्ष के परिमाण से ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु है। ब्रह्मा के अवसान हो जाने पर महाप्रलय होता है।

ब्रह्मा की स्थिति एवं प्रलय आदि नारायण के अंश से अवतीर्ण हुए महाविष्णु के दिन एवं रात्रि कहे जाते हैं और उसी क्रम से सौ करोड़ वर्ष की महाविष्णु की स्थिति है, और फिर महाविष्णु का लय हो जाता है। महाविष्णु की जो आयु है वह आदि विराट् का एक दिन है; उसी प्रकार से आदि विराट् भी अपनी सौ करोड़ वर्ष की आयु का भोग कर अपने अंश मायोपाधिक नारायण में लीन हो जाते हैं। विराट् की जो आयु है वह आदिनारायण का दिवस है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है; उसी काल-मान से आदिनारायण की भी सौ वर्ष की आयु है; अन्त में उनका त्रिपाद् विभूतिस्थ महानारायण में लय हो जाता है और ब्रह्मा से लेकर आदिनारायण की आयु-पर्यन्त काल महानारायण का केवल एक निमेष मात्र है और उनके उन्निमेष से मूल अविद्यांश का आवरण-सहित लय हो जाता है। वह मूल अविद्या ही ब्रह्म के अविद्या पाद के नाम से कही जाती है। उसी में अनन्त अवस्थाओं में अनन्त सृष्टि का आविर्तिरोभाव का यह क्रम चलता रहता है।

मूल अविद्या ही तम नाम से कही गई है। वह उस ब्रह्म की अनिर्वचनीया शक्ति है। वही त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नाम से भी जानी जाती है। गुणों की प्रशान्त अवस्था ही मूल प्रकृति का परमात्मा में लय है और गुणों का सक्रिय हो सृष्ट्योन्मुख होना ही अनन्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में कारण है। जिस प्रकार से पिण्डगत मनुष्य में चित्त और

चेतन के प्रकाश से उसमें स्फुरित हुए अहं से ही आगे इन्द्रियों और विषय आदि का आविर्भाव होता है, ठीक यही क्रम अविद्योपहित आदिनारायण से लेकर मनु-पर्यन्त चलता रहता है। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है कि एक ब्रह्माण्ड के लय हो जाने पर भी अनन्त ब्रह्माण्डों की स्थिति बनी रहती है, और यह तब तक रहती है जब तक कि आदिनारायण का महानारायण में लय नहीं हो जाता। आदिनारायण का आविर्भाव और तिरोभाव उस महानारायण के निमेष और उन्मेष अर्थात् आँख खोलने और बन्द करने से ही सम्बन्धित है। ये जो बातें आपको समझाई गई हैं इनका विस्तृत विवेचन महानारायणोपनिषद् में प्राप्त होता है।

परमात्मा के संकल्प से ही यह अनन्त तेजयुक्त आकाश प्रकट होता है, जो कि अनन्त ऊर्जा का स्रोत है। उस आकाश में ही गति होने पर वायु का आविर्भाव होता है जिसे परमेश्वर का प्राण कहा गया है। आगे आकाश में वायु की गति से ही अनन्त ब्रह्माण्डों का आविर्भाव होता है। वायु के प्रबल प्रवाह से धूलकणों का समूह बवण्डर का रूप धारण करके आकाश में गोल आकृति बना लेता है। उसमें वायु और धूल के मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। ठीक उसी प्रकार से प्राण और ऊर्जा, जिसे उपनिषदों में रयी कहा गया है, के संयोग से महाकाश में अनन्त गोलों का निर्माण हो जाता है। कालान्तर में प्रत्येक गोला एक बड़े गोले अर्थात् अण्डे की आकृति में परिवर्तित हो जाता है, इसलिए उन्हें ब्रह्माण्ड कहा जाता है। ब्रह्माण्ड माने बड़ा अण्डा। वह अण्ड भी महाकाश में गतिशील रहता है। कालान्तर में वह चेतन सत्ता के आविर्भाव से अनेक खण्डों में विभाजित हो जाता है। उसके ऊर्ध्व खण्ड को द्यु कहते हैं और अधोखण्ड पृथ्वी के रूप में परिणत होता है और मध्यखण्ड विभिन्न ग्रहों और उपग्रहों में परिणत हो जाता है। इस अभिव्यक्ति को ही वेद कहता है—**'द्यावा पृथ्वी जनत्यदेव एकः'** वेदान्त की प्रक्रिया में सृष्टि का यही क्रम है। यह जो एक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की कहानी आपको बताई गई है, इसी प्रकार से इस अनन्त आकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड जन्मते, पलते और नष्ट होते रहते हैं। जैसे यह हमारा सूर्य और उसका परिवार है, इसी प्रकार से अनन्त सूर्य हैं और उनके अनन्त परिवार हैं जिनकी हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं किन्तु देख नहीं सकते, जान नहीं सकते। जिस प्रकार से इस सूर्यमण्डल की यह पृथ्वी है और उस पर विविध प्रकार के जीव हैं, ठीक उसी प्रकार से प्रत्येक सूर्यमण्डल की पृथ्वी और उस पर विविध प्रकार के जीवों की स्थिति है। रामायण में गोस्वामी जी लिखते हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड की पृथ्वी पर अयोध्या है और प्रत्येक अयोध्या में दशरथ, कौसल्या और उनकी भक्ति से द्रवित हो अवतरित हुए भगवान् राम हैं—

प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखेऊँ बाल विनोद अपारा ॥

कहने का अभिप्राय कि सृष्टि अनन्त है, इसके एक अंश में स्थित यह ब्रह्माण्ड है

और उस ब्रह्माण्ड के अंश में स्थित यह पृथ्वी, जिस पर हम रहते हैं। उस पर कितने जीव हैं जिनकी हम गणना नहीं कर सकते, जिनको हम पूर्णतया देख नहीं सकते, जान नहीं सकते और वे सभी जीव इस पृथ्वी के ही आश्रय से रहते हैं। तो भला आप कल्पना कीजिए कि सृष्टि में हमारा अपना क्या है?

यदि गम्भीरता से मनन करेंगे तो यह ज्ञात होगा कि जिससे इसका आविर्भाव हुआ है, जिसमें यह स्थित है, जिसमें इसका लय होगा, वही इसका स्वामी है। इसलिए वेद कहता है–"**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**" यथार्थतः यह धन, यह वैभव, यहाँ जो कुछ भी है सब उस महिमावान् की अंशरूप में अभिव्यक्त हुई महिमा-मात्र है। इस रहस्य को एक पद में मैंने संकेत किया है—

स्थूल तन है पंचभूतों से बना जाना गया ।
सत रज मिला कर इन्द्रियों का तान भी ताना गया ।।
चांचरि अनेकों भाँति की है वासना कारण तहाँ ।
यह कार्य माया के सभी मैं ही नहीं मेरा कहाँ ।।

तत्त्वतः जब मैं का ही अस्तित्व नहीं है तो मेरा क्या हो सकता है? यह कितने आश्चर्य की बात है कि मैं और मेरे की भूल में पड़ कर अब तक हम अनन्त जीवन खो चुके हैं! एक वैज्ञानिक कहता है कि यदि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भींच दिया जाए तो इसका ठोस पदार्थ एक गेंद के बराबर का हो जाएगा। जब पूरे ब्रह्माण्ड का यह अस्तित्व है तो उसमें यह अपनी पृथ्वी क्या स्थान रखती है? भला सोचिए, इस ब्रह्माण्ड में अपना कहीं कोई अस्तित्व है? वाह री अविद्या! तुम्हारी बड़ी महिमा है। अविद्यान्धकार में विमोहित जीव यह समझता है कि इस सृष्टि में मैं भी कुछ हूँ। अल्पज्ञ जीव का इतना प्रबल अहंकार होता है कि वह सोचता है कि इस दुनिया में केवल डेढ़ अक्ल है, एक मेरे पास और आधी सबमें बटी है। कभी-कभी शरीरधारी मनुष्य अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर को देखता है तो सोचता है कि उसका भी सृष्टि में कुछ अस्तित्व है। वह यह नहीं जानता कि उसके शरीर का यदि सत् निकाला जाए तो एक सूई की नोक पर पड़ी हुई मिट्टी के बराबर भी नहीं होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि इस अनन्त सृष्टि का तत्त्वतः अपना कोई अस्तित्व नहीं, फिर भी इस आकृति-प्रकृति में स्फुरित होने वाली जो चेतना है, जिसको हम जीव कहते हैं, जो हमारा अपना आप है, वह उस अनन्त सत्य से सदैव एक है; दूसरे शब्दों में वह भी उसी की अभिव्यक्ति है। जैसे एक बिन्दु का, एक प्वाइंट का अपना कोई अस्तित्व नहीं, क्योंकि न उसकी लम्बाई है, न चौड़ाई है, न मोटाई है, कुछ भी नहीं है, किन्तु फिर भी वह एग्ज़िस्ट करता है, उसका अस्तित्व है। यद्यपि वह बिन्दु अनिर्वचनीय है, उसकी व्याख्या नहीं हो सकती, उसका निर्वचन नहीं हो सकता,

उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता, फिर भी वह है, इतना तो स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि दुनिया का कोई भी गणितज्ञ अब तक बिन्दु की वा प्वाइँट की व्याख्या नहीं कर सका और न कर ही सकेगा, फिर भी उसकी सत्ता से, उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह कुछ न होते हुए भी है और होते हुए भी वह कुछ नहीं है। यही स्थिति इस जीव की है। जीव क्या है? इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता फिर भी वह है; उसकी अस्ति को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। 'वह कुछ नहीं' इस दृष्टि से कहा जाता है कि उसका अनन्त से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है, और 'है' उसे इसलिए कहा जाता है कि वह अनन्त की ही अभिव्यक्ति है, अनन्त के अस्तित्व का अवबोधन कराने वाला है, इसलिए उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैसे प्वाइँट वा बिन्दु इन्फिनिटी वा अनन्त का अवबोधन कराता है, ठीक उसी प्रकार से जीव भी उस परमात्मा का अवबोधक है। जैसे प्वाइँट के अभाव में हम इन्फिनिटी को नहीं जान सकते, वैसे जीव के अभाव में हम उस परमात्मा को नहीं समझ सकते। जीवन-तत्त्व के अभाव में जगदीश वा परमेश्वर की सत्ता का बोध ही नहीं हो सकता। इसलिए हम नहीं होते हुए भी हैं और होते हुए भी कुछ नहीं हैं, इस रहस्य को समझ लेने पर अपनी यथार्थता का बोध हो जाएगा और तभी हम यथार्थतः वेद के इस आदेश को समझ पाएँगे—"**मा गृधः कस्य स्वित् धनम्**" लालची मत बनो, यह धन किसका है अर्थात् उस परमात्मा का है क्योंकि यह जिससे है उसी का है।

एक सज्जन बैठे हुए कुछ मित्रों के साथ अपने वैभव की महिमा का बखान कर रहे थे। उनका अहंकार अपने से अधिक किसी को स्वीकारने की इजाज़त नहीं दे रहा था। वे बता रहे थे, मेरी इतनी कोठियाँ हैं, इतनी मिलें हैं, इतनी ज़मीन है, इतनी सम्पत्ति है, इसी प्रकार वे बहुत देर तक अहंकार में निमग्न हो अपने वैभव की गाथा गाते रहे। कुछ दूर पर एक महात्मा बैठे हुए उनकी सारी बातें सुन रहे थे। महात्मा को उस सज्जन पर दया आई और उन्होंने सोचा कि इसे सत्य का बोध कराना चाहिए, अन्यथा यह अहंकार में डूबा हुआ दुःख का ही भाजन बनेगा। महात्मा ने उसके पास जाकर पृथ्वी का मानचित्र दिखाते हुए पूछा—प्यारे! तुम कहाँ रहते हो? अपने जिस वैभव का परिचय दे रहे हो वह कहाँ है? सज्जन ने अपना निवास-स्थान और अपने शहर का परिचय दिया। महात्मा ने पृथ्वी के मानचित्र को उनके समक्ष रखते हुए पूछा—वत्स! ज़रा मुझे इस नक्शे से समझा दो कि तुम्हारा स्थान कहाँ है? सज्जन ने कहा—बाबा! यह तो पृथ्वी का मानचित्र है, इसमें भला हमारा शहर कहाँ दिखाई देगा? इससे तो केवल अपने देश का ही पता चल सकता है। महात्मा ने दूसरा पन्ना पलटा और पूछा—वत्स! यह रहा अपने देश का नक्शा। क्या इससे तुम मुझे समझा

सकते हो कि वह तुम्हारा वैभवशाली निवास-स्थान कहाँ है? सज्जन ने कहा—नहीं, इसमें तो केवल हमारे प्रान्त का ही मानचित्र बना है। महात्मा ने प्रान्त के नक्शों में से उस प्रान्त का नक्शा निकाला और उस तरफ संकेत करते हुए पूछा—यह है तुम्हारे प्रान्त का नक्शा। क्या इसके द्वारा तुम मुझे समझा सकते हो कि तुम्हारा स्थान कहाँ है? सज्जन ने कहा कि नहीं, इसमें तो बिन्दु के रूप में हमारे शहर का केवल संकेत मात्र है।

महात्मा ने कहा—वत्स! जिस वैभव पर तुम्हें इतना गर्व है, जिन महलों, मिलों और भूमि पर तुम्हें इतना अभिमान है उनका तुम्हारे इस शहर के नक्शे में भी कहीं स्थान नहीं है। भला सोचो तो, प्रान्त, देश और पृथ्वी के नक्शे में क्या कहीं उसकी कल्पना की जा सकती है? और यह अपनी पृथ्वी भी तो इस सौर्य-मण्डल में बहुत ही तुच्छ स्थान रखती है। फिर ज़रा तुम भूगोल के साथ ही उस खगोल की तरफ भी देखो जिसमें अनन्त सूर्य, अनन्त नेबुलाज़, अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त ग्लैक्सीज़, अनन्त नीहारिकाएँ उसी प्रकार से स्थित हैं जिस प्रकार से महासागर के ऊपर छोटे-छोटे बुद्‌बुदे; और वत्स! यह जो कुछ भी है वह अनन्त प्रकृति के एक अंशमात्र में स्थित है। उससे भी परे उस प्रकृति का स्वामी परमात्मा है जिसकी प्रकृति के एक अंशमात्र में यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर लीन होते रहते हैं। तुम इसको देखो और विचारो! जब इस पृथ्वी पर ही अपना कोई अस्तित्व नहीं है तो उस नियन्ता के समक्ष अपना क्या स्थान? जिन पदार्थों की गिनती करते हुए तुम अपने अहंकार को परिपुष्ट कर रहे हो, वह तो सब उस परमात्मा की माया के ही विलास हैं। उन्हें अपना समझना, स्वीकार करना, उन पर अभिमान कर स्वयं को उनमें बाँधना अज्ञान और भूल के सिवा कुछ नहीं है। महात्मा की बात सुनकर उसे अपनी भूल का एहसास हुआ और उसने महात्मा के चरण पकड़ते हुए, अपनी भूल पर क्षमा-याचना करते हुए उनकी कृपामयी सीख को हृदय में धारण करने की प्रतिज्ञा की और अहंकार से विमुक्त हो गया।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि यदि गम्भीरता से विचार करेंगे तो यह ज्ञात होगा कि इस विराट् विश्व में अपना कोई अस्तित्व नहीं; प्राणी-जगत् में भी अपना कोई अस्तित्व नहीं, इस पृथ्वी के मानचित्र में भी अपना कोई अस्तित्व नहीं, फिर भी अपना अहंकार अपने को कुछ पदार्थों से सम्बन्धित कर अनेक प्रकार की विपत्तियों में ढकेलता रहता है। इससे बचने का केवल एकमात्र उपाय है कि हम सदैव सावधान होकर पग-पग पर वेद के इस मन्त्र का चिन्तन करते रहें और सोचते रहें—''**धनम् कस्य स्वित्**'' यह धन किसका है? अपने जैसे अनेकों इस पृथ्वी पर पैदा हुए और इसे अपना मानते रहे किन्तु यह किसी की न हुई, इसलिए उस जगदीश्वर में पूर्ण आस्था रखते हुए, उसकी शरणागत हो, उसके दिए हुए प्रसाद का उपभोग करें जिससे

यह सारा विश्व परिव्याप्त है।

परमात्मा ही तुम्हारा अपना है। उसे तुम अपना कह सकते हो जैसे हर एक बूँद को यह अधिकार है कि वह कहे सिन्धु उसका है। हर एक किरण को यह अधिकार है कि वह कहे सूर्य उसका है; ठीक उसी प्रकार से हर एक जीव को यह अधिकार है कि वह कहे कि शिव उसका अपना है, परमात्मा उसका अपना है। प्रभु के नाते ही मिले हुए पदार्थों का उपयोग करना है। प्रभु में अपनत्व की प्रतिष्ठा हो जाने पर जीव प्रत्येक अवस्था में आनन्द की ही अनुभूति करता रहता है। दुःख का कारण सुख के साधनों का न रहना नहीं है, बल्कि उनकी तृष्णा है। आचार्य शंकर अपनी प्रश्नोत्तरी में कहते हैं—**''को वा दरिद्री''**? स्वयं उत्तर देते हैं—**''यस्य तृष्णा विशाला''**। दरिद्री वह नहीं है जिसके पास कुछ नहीं, बल्कि दरिद्री वह है जिसकी तृष्णा विशाल है। एक व्यक्ति एक मन का बोझा सिर पर रखे हुए भगवान् की दिव्य लीला का चिन्तन करते हुए मस्ती में पैदल चला जा रहा है और दूसरा व्यक्ति एक बहुत कीमती कार में बैठा हुआ हज़ार मन का भार या चिन्ता अपने सीने पर लिए हुए द्रुत गति से जा रहा है। यदि आपसे पूछा जाए कि उन दोनों में किसका जीवन अधिक सुखी है? तो आप क्या बताएँगे? वह भारवाहक मज़दूर या कार में जाने वाला मालिक? भारवाहक मज़दूर। मैं आप लोगों को बता रहा था कि भगवान् को अपना स्वीकार करने वाला कहीं भी किसी भी अवस्था में रहता हुआ सुखी रह सकता है किन्तु संसार को अपना मानने वाला सुखानुभूति कर सकेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारत में बहुत-से ऐसे लोग आपको मिलेंगे जो दिन-भर श्रम करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और सायंकाल को इकट्ठे बैठकर भगवान् का भजन करते हुए आनन्द लेते हैं। उन्हें नींद के लिए किसी डाक्टर के पास जाने की ज़रूरत नहीं होती। यही कारण है कि अमेरिका जैसे वैभवशाली देश की अपेक्षा भारत में पागलों की संख्या नगण्य है। यद्यपि भारत में, लोगों के पास इतनी सुविधाएँ नहीं, इतने सुख के साधन नहीं, फिर भी अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ के नागरिक सन्तोषप्रिय और सुखी हैं क्योंकि वे ईश्वर में आस्था रखते हुए मिले हुए को ईश्वर का प्रसाद समझ कर उपयोग करते हैं और उसी में प्रसन्न रहते हैं।

भारत के शहरों में रहने वाले पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में शिक्षित लोगों की चर्चा मैं नहीं कर रहा; मैं भारत के उन ग्रामवासियों के विषय में बता रहा हूँ जिनको आज भी अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म की मान्यताओं पर आस्था और गौरव है। हमारे यहाँ प्राचीन भारत में जबकि वह विश्व का वैभवशाली देश था, उस समय के इतिहास में परिवार के पुरोहित होने की चर्चा है; परिवार के गुरु होने की चर्चा है किन्तु परिवार का कोई वैद्य व डॉक्टर होता था, ऐसी कोई चर्चा नहीं है। मानसिक रोग ही शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होता है, ऐसी हमारी मान्यता है; और इसका

समर्थन आज का वैज्ञानिक भी कर रहा है। भारत में मानसिक रोगों की मीमांसा और उसके निवारण की विधि पर ही विशेष ज़ोर दिया जाता था और लोग उसी का अनुकरण करते थे जिसके फलस्वरूप विविध प्रकार के शारीरिक रोगों से लोग विमुक्त रहते थे। इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्राचीन भारत में चिकित्सा-विज्ञान का विकास ही नहीं हुआ था। जिन छोटी-मोटी बीमारियों के लिए पश्चिमी देशों के लोग डॉक्टरों का आश्रय लेते हैं, उनका निदान तो घर की देवियाँ भी जानती हैं और कर लेती हैं। यह बात अलग है कि मुसलमानी आक्रमण के पश्चात् हमारे दैनिक जीवन-विधान में बहुत शिथिलता आ गई। शिक्षा के अभाव में प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन समाप्त हो गया। बाद में अंग्रेजी शासन ने नौकरशाही निर्माण करने की शिक्षा-प्रणाली चलाकर जो कुछ बचा था उसको भी समाप्त कर दिया किन्तु अब भी भारत के गाँवों में परम्परा एवं संस्कारगत ऐसी बहुत-सी प्रक्रियाएँ, मान्यताएँ पाई जाती हैं जो शारीरिक और मानसिक रोगों से विमुक्त होने के लिए संजीवनी के समान कार्य करती हैं। वर्तमान में पश्चिम में प्रचलित यौगिक क्रियाएँ हमारी प्राचीन उपलब्धियों का एक अंशमात्र है। हमारी यह मान्यता है कि सुख-सुविधा के साधनों को अधिक-से-अधिक मात्रा में संग्रहीत कर लेने मात्र से ही जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं मिल जाता, जीवन का सही प्रयोजन पूर्ण नहीं हो जाता। जीवन का सही प्रयोजन समझने के लिए, जीवन की समस्याओं का समुचित समाधान प्राप्त करने के लिए तो भारतीय जीवन-प्रणाली को ही यथार्थ रूप से अपनाना पड़ेगा। वैदिक विज्ञान के प्रकाश में मानव के अन्तर् का अन्धकार दूर हो सकता है और तभी वह यथार्थतः अपनी आन्तरिक चाह को पूर्ण कर पाएगा।

कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि यदि वैदिक विज्ञान इतना महान् है तो उसका अनुकरण करने वाला भारत इतना गरीब क्यों? मैं उन लोगों से निवेदन करूँगा कि भारत न तो कभी गरीब रहा है और यथार्थतः न वह आज भी गरीब है। सम्पत्ति के चार हेतु माने गए हैं—योग्यता, श्रम, प्राकृतिक स्रोत और इनके उपयोग की व्यवस्था अथवा मैनेजमेंट। इनमें से भारत में योग्यता की कमी नहीं, श्रमिकों की कमी नहीं, प्राकृतिक स्रोत की कमी नहीं; कमी है तो केवल उचित व्यवस्था की। कुछ शताब्दियों से भारत में प्रमादवश आपसी फूट के नाते विदेशियों का आक्रमण होता रहा और इसके बहुत-से हिस्से पर उनका शासन भी रहा। विशेष रूप से यूरोप के लोग दो शताब्दियों तक इसे लूटकर अपना घर भरते रहे हैं। भारत की दयनीय दशा उसी का परिणाम है। यह वैदिक विज्ञान से विमुख होने का ही परिणाम रहा है।

दो सहस्राब्दियों से भारत में अनेक पंथों का जन्म हुआ। विभिन्न महापुरुषों के नाम से, उनके अनुयायियों ने अलग-अलग पंथ चलाए और उन महापुरुषों की शिक्षा को ही प्रमुख मानते हुए वैदिक विज्ञान की अवहेलना की गई। उसके पठन-पाठन का

क्रम समाप्तप्राय हो गया। भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने वाले वैदिक विज्ञान की उपेक्षा करने के परिणाम में देश अनेक पंथों के साथ ही विभिन्न राज्यों में विभक्त हो गया जिससे यह निर्बल हो गया और उसी का परिणाम लगभग १०० वर्षों की पराधीनता रही। यदि भारत के अतीत के विषय में किसी को जानने की चाह हो तो उसे इतिहास पढ़ना चाहिए। मैं रामायण, महाभारत और पुराण पढ़ने की बात नहीं कर रहा। मैगस्थनीज़, ह्यूनसांग, फाहियान आदि विदेशियों के भारत के सम्बन्ध में लिखे गए संस्मरणों को पढ़कर उसके गौरवमय अतीत का बोध हो सकता है।

ह्यूनसांग कहता है—"भारत में कहीं कोई गरीब नहीं है, वहाँ पर कोई किसी की मज़दूरी नहीं करता, वहाँ के लोग किसी को गुलाम नहीं बनाते, वहाँ घरों की चोरी नहीं होती इसलिए लोग ताला नहीं लगाते।" वह भारत में पाँच वर्ष रहा था किन्तु वह लिखता है कि मैंने भारत में कोई भिखारी नहीं देखा। वह भारत में पश्चिमोत्तर की तरफ से आया था और पूर्व से होकर गया था। सारे भारत का उसने भ्रमण किया था। जिन दिनों वह भारत में था उन दिनों यहाँ गुप्त वंश का साम्राज्य था। मैगस्थनीज़ सैल्युकस का राजदूत था, जो चन्द्रगुप्त के समय में भारत में आकर रहा था। इन विदेशियों के संस्मरण पढ़कर भारत की महत्ता का भान हो सकता है। यह उसी भारत की महिमा है जिसमें आज हम रहते हैं। यह सभी जानते हैं कि मौर्यवंश के साम्राज्य के संस्थापक आचार्य चाणक्य वैदिक विज्ञान के एक महान् ऋषि थे। गुप्तवंश के साम्राज्यकाल में वैदिक विज्ञान का क्रियात्मक रूप सम्राट् से लेकर जनसामान्य के जन-जीवन तक प्रतिष्ठित था।

एक बार यू० के० के एक चर्च में "वेदान्त और उसका व्यावहारिक स्वरूप" के विषय में व्याख्यान दे रहा था। व्याख्यान के दौरान भारत के अतीत के गौरव से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का भी वर्णन किया। व्याख्यान के पश्चात् एक अंग्रेज सज्जन मेरे पास आये और पूछने लगे कि जिस भारत की आप बात कर रहे हो वह कहाँ है? मैं तो भारत गया था किन्तु यह सब-कुछ हमें वहाँ दिखाई नहीं दिया। मैंने उन्हें बताया कि मैं उसी भारत की चर्चा कर रहा था जिसको आपके पूर्वजों ने लगभग दो सौ वर्ष तक लूटा है, जिस भारत के वैभव से ही आपके पूर्वजों ने इस इंग्लैण्ड को सुशोभित किया है। अब आप जिस भारत को देख रहे हैं वह लगभग नौ सौ वर्ष तक लूटा हुआ, जाहिलों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किया हुआ भारत है। इसको पुनः अपने गौरवपूर्ण स्थान पर पहुँचने के लिए सम्भव है कई शताब्दियों तक संघर्ष करना पड़ेगा।

वह पूछने लगा—यदि भारत इतना सम्पन्न, इतना महान् था तो थोड़े-से विदेशियों ने जाकर उसे अधिकार में कैसे कर लिया? मैंने उसे बताया कि जब कोई जाति वा देश पूर्णतया सभ्य एवं सुसंस्कृत हो जाता है तो सम्पन्नता के साथ ही उसमें सहिष्णुता और सज्जनता का जन्म होता है। स्वभावतः उसकी अनुरक्ति दैवी गुणों में हो जाती

है और आसुरी गुणों से वह स्वयं को दूर कर लेता है। ऐसी स्थिति में उस देश वा जाति में हिंसा एवं युद्ध की वृत्ति का अभाव हो जाता है जिससे वह आसुरी प्रवृत्ति वाले हिंसारत लोगों से संघर्ष में सफल नहीं हो पाता। यह तो सभी लोग जानते हैं कि सैंकड़ों सुसभ्य सज्जनों के समाज में यदि एक जाहिल, दुष्ट वृत्ति का व्यक्ति शस्त्र लेकर चला जाए तो वह सभी को मौत के घाट उतार सकता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह सैंकड़ों सज्जनों से अधिक समझदार वा ज्ञानी है। यही स्थिति भारत की रही है। गुप्त वंश के चार सौ वर्ष के शासनकाल में भारत का वैभव विश्व में अपना मूर्धन्य स्थान बना चुका था। भागवत धर्म की शिक्षा ने भारतीय जनता को सद्धर्मरत, सज्जन, सुशील एवं सहिष्णु बना दिया था। सम्पत्ति और संस्कृति के सांमजस्य से ही भारतीय जन-जीवन उच्चतम आदर्शों से जीते हुए दैवी गुणों का समाश्रय बन चुका था। बाद में भी हर्षवर्धन जैसे सम्राट् ने उसके वैभव और विभूति में अभिवृद्धि की। वैभव विलास को जन्म देता है और विलास प्रमाद को। धीरे-धीरे कुछ शताब्दियों में ही भारतीय जनता विलासी हो प्रमादरत हो गई।

यह तो आप जानते ही हैं कि यदि कोई व्यक्ति वा समाज सम्पत्ति और ज्ञान दोनों से परिपूर्ण हो तो वह अपनी आने वाली सन्तान के लिए सम्पत्ति तो विरासत में दे सकता है, किन्तु ज्ञान भी विरासत में दे जाएगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह ज्ञान उत्तराधिकार में नहीं बल्कि तपस्या वा साधन से ही प्राप्त होता है। वैभव और विलास में निरत प्रमाद को प्राप्त हुई भारतीय जनता ने वैदिक विज्ञान की उपेक्षा की, जिसके परिणामस्वरूप उसको लगभग ९०० वर्षों तक नारकीय जीवन भोगना पड़ा है। सज्जनता के संस्कार उसे सम्पत्ति के साथ ही उत्तराधिकार में मिले थे जिसके कारण जाहिल आक्रमणकारियों का संगठित हो सामना न कर सका। इस सत्य को समझने के लिए एक छोटा-सा ही उदाहरण काफी है। मैंने उस अंग्रेज़ सज्जन से कहा—एक दिन वह था कि यहाँ से साढ़े छः हज़ार मील दूर भारत जाकर यहाँ के लोगों ने निरपराध लोगों को मौत के घाट उतारकर शासन किया, उन्हीं की सन्तानें आज यहाँ पर अपने ही देश के एक भाग आयरलैंड को अपने अधीन नहीं कर पा रहीं। इसमें कारण क्या है? उस सज्जन ने कहा कि पहले के लोग हिंसा में विश्वास करते थे, बल-प्रयोग में विश्वास करते थे किन्तु अब हम लोग उसमें विश्वास नहीं करते।

मैंने उसे बताया कि दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी आप लोग भारत की बराबरी नहीं कर सकते, जबकि भारत अपनी वह महत्ता खो चुका है। फिर भी आपमें अब हिंसा की भावना, बल-प्रयोग की भावना, युद्ध की भावना को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। आज आप सज्जनता से, विचार-विमर्श से, सहानुभूति से सभी समस्याओं को सुलझाने में विश्वास रखते हैं। भारत तो सहस्राब्दियों से ही

ऋषियों का देश रहा है। वह भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, आचार्य शंकर, रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ, रामानन्द, कबीर, चैतन्य महाप्रभु, ज्ञानदेव, नामदेव, नरसी, नानकदेव आदि अनेकों पवित्रात्माओं, महात्माओं, दार्शनिकों, आचार्यों, सन्तों की जन्मभूमि रहा है। वहाँ की जनता में यदि सात्त्विक संस्कारों के प्राबल्य से असभ्य, अर्द्धसभ्य, जाहिल आक्रमणकारियों से युद्ध करने में अरुचि तथा उसका उनके छल-कपटमय व्यवहारों से पराजित हो उनकी अधीनता की बेड़ी में जकड़ा जाना कौन-से आश्चर्य की बात है? यह तो आप समझते ही हैं कि सौ पूर्ण प्रज्ञ शुद्ध-सात्त्विक-सदाचारी विद्वानों को एक दुर्जन, दुराचारी, दुष्ट पिस्तौल की नोक पर अपने वश में करके बन्दी बना सकता है, इसमें आश्चर्य की तो बात ही नहीं। तो भारतीय जनता को, जो कि उस समय सम्पत्ति और सज्जनता के शिखर पर प्रतिष्ठित थी; यदि मुट्ठी-भर आक्रमणकारियों ने अपने आसुर-कृत्यों से जीत लिया तो इसमें आश्चर्य क्या है?

यह महान् आश्चर्य अवश्य है कि जिस क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम की आँधी में सारे विश्व की प्राचीनतम सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ, सिद्धान्त अपनी जड़ से उखड़ गए, समाप्त हो गए, यूनान, रोम, मिस्र, बैबिलोनिया, सीरिया, चार्डिया, मैसोपोटामिया आदि देशों की प्राचीन संस्कृतियों, सभ्यताओं, सिद्धान्तों का कहीं नाम-निशान नहीं रहा उस क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम की आँधी एक-दो दिन नहीं, लगभग ९०० वर्ष तक अपने भयंकर वेग से पूरा ज़ोर लगाती रही, किन्तु फिर भी आज भी प्राचीन भारत की सभ्यता, संस्कृति, दर्शन जीवित ही नहीं बल्कि गौरव के साथ प्रतिष्ठित है। यह आश्चर्य क्यों घटित हुआ? इसके उत्तर में मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि इसके मूल में शाश्वत वैदिक विज्ञान सुप्रतिष्ठित है। तो मैं आप लोगों को बता रहा था कि आपको अपने उस गौरवयुक्त अतीत के साथ-साथ अपनी उस दिव्य वैदिक विचारधारा को स्मरण रखना है और वेदान्त के इस अनुपम सन्देश को सदैव हृदय में धारण करना है जिसके प्रकाश में हमें शाश्वत जीवन मिला है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ।।

अब इससे आगे ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्रार्थ का चिन्तन किया जाएगा।

□□

६

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोग ईशोपनिषद् पर विचार सुन रहे हैं। आज आप लोगों को उपनिषद् के दूसरे मन्त्र पर विचार दिया जाएगा। मन्त्र है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। (ईशा०।२)
कर्माणि कुर्वन् एव शतम् समाः जिजीविषेत् ।
एवं कर्म त्वयि नरे न लिप्यते इतः अन्यथा न अस्ति ।।

इस प्रकार से इस मन्त्र का अन्वयार्थ किया जाता है। सरल शब्दों में—''कर्मों को करते हुए ही इस जगत् में १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार किए जाने वाले कर्म तुझ मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे, इससे अन्यथा कोई मार्ग नहीं है।'' श्रुति भगवती ने इस मन्त्र में मनुष्य को कर्म विज्ञान की सीख दी है। यह सीख उन लोगों के लिए नहीं है जो जीवन के यथार्थ को समझकर जीवन के प्रलोभन तथा मृत्यु के भय से विमुक्त हो चुके हैं, जिनके लिए कोई प्राप्तव्य, कर्तव्य एवं ज्ञातव्य अब शेष नहीं रह गया है; उनके लिए इस प्रकार के कर्म का आदेश नहीं। इस मन्त्र में ''**जिजीविषेत् शतम् समाः**'' यह वाक्य इस भाव को प्रकट कर रहा है कि जिनको जीने की कामना है, जीने की चाह है, जो मृत्यु से भयभीत हैं, जिनको अभी आत्म-तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं हो पाया है, उनके लिए ही यह आदेश है ''**कर्माणि कुर्वन् एव शतम् समाः जिजीविषेत्**''। इस आशंका पर कि कर्म बंधन के कारण बनेंगे श्रुति का कथन है—''**त्वयि नरे कर्म न लिप्यते**'' 'तुझ नर में कर्म लिप्त नहीं होंगे।' नर शब्द का अर्थ होता है नेतृत्व करने वाला वा द्रष्टा। कर्म जड़ हैं, इसलिए वे चेतन नेतृत्व करने वाले द्रष्टा में लिपायमान नहीं होते। भगवान् का कथन है—मनुष्य स्वयं ही अपने अज्ञानता-जन्य अहंकारवश कर्म में लिप्त होता है—''**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**'' क्या कर्म के सिवा इस जीवनाभिलाषी मनुष्य के लिए और कोई दूसरा रस्ता नहीं है? श्रुति कहती है कि नहीं ''**इतः अन्यथा न अस्ति**'' इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। संक्षेप में, मानव के लिए जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए इससे उत्तम और कोई उपदेश नहीं दिया जा सकता। कर्म द्वारा ही व्यक्ति स्वयं का विकास कर सकता है; कर्महीन जीवन में सार्थक गति एवं

विकास के लिए सम्भावना ही नहीं है, वेद का यही मन्तव्य है। ईशोपनिषद् का यह मन्त्र गीतोपनिषद् के कर्म-विज्ञान का मूल आधार है—ऐसा विद्वानों का कथन है।

यह सर्वविदित है कि श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का ही सार है। भगवान् वेदव्यास ने स्वयं ही इस सत्य की घोषणा की है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

(गीता महात्म्य-६)

सारी उपनिषदें गौएँ हैं, गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण दोग्धा यानि दूध निकालने वाले हैं और अर्जुन बछड़ा है। जैसे बछड़े को लगाकर ग्वाला गौओं का दूध निकालता है, इसी प्रकार से अर्जुन की जिज्ञासा को माध्यम बनाकर भगवान् गोपालनन्दन श्रीकृष्ण ने उपनिषदों के साररूप गीतारूपी दुग्धामृत को निकाला, दूहा। किसके लिए? 'सुधीर्भोक्ता' सुष्ठु बुद्धि वाले यानि सात्त्विक बुद्धि वाले विद्वानों को उपनिषद्-सार इस गीतामृत का पान कराने के लिए ही भगवान् ने इसका दोहन किया है। अभिप्राय यह कि गीता उपनिषदों का सार है, वह उपनिषद्रूपी गऊओं का भगवान् के द्वारा दूहा हुआ, निकाला हुआ दूध है। जिस प्रकार से दूध स्वस्थ व्यक्ति के लिए शरीर और बुद्धि दोनों को विकसित कर पुष्टि प्रदान करता है ठीक उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धि वाले परमतत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए यह गीता-अमृत बाह्य एवं आन्तरिक पुष्टि एवं तुष्टि प्रदान करता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि गीता के कर्म-विज्ञान को समझने के लिए उसके आधाररूप उपनिषदों का अध्ययन-मनन द्वारा समझा जाना अति आवश्यक है। जिस प्रकार से गाय के अभाव में दूध की चाह निरर्थक है, ठीक उसी प्रकार से उपनिषदों के यथार्थ बोध के अभाव में गीता को यथार्थतः समझने की कल्पना ही निरर्थक है, क्योंकि गीता का समग्र ज्ञान वेद के शिरोभाग उपनिषदों का ही सार-सर्वस्व है, उन्हीं पर आधारित है। गीता के कर्म-विज्ञान का आधार ईशोपनिषद् का दूसरा मन्त्र है, जिसकी व्याख्या आगे हम आप लोगों को सुनाने जा रहे हैं। एक बात यहाँ पर फिर आप लोगों को स्पष्ट कर दूँ कि वेद आदेशात्मक है और गीता उपदेशात्मक। आदेश प्रभु के द्वारा और उपदेश हितैषी प्रिय मित्र के द्वारा प्राप्त होता है। आदेश के पालन में नमुनच की गुंजायश नहीं होती; उसमें अपनी रुचि के लिए स्थान नहीं होता; आदेश वा आज्ञा तो सदैव पालनीय ही हुआ करती है। आदेश देने का अधिकार प्रभु, गुरु, माता-पिता, स्वामी को ही होता है और इनके आदेश का पालन करना ही परम-धर्म बताया गया है। प्रभु के द्वारा मिला हुआ आदेश सम्भव है हमारी समझ में अनुचित-सा प्रतीत होता हो, किन्तु उसमें यथार्थतः हमारा हित ही निहित होता है इसलिए वह सर्वथा पालनीय है। उपदेश मित्रसम्मत हुआ करता है। जिस प्रकार से एक साधु मित्र हमारे कल्याण के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों से

हमें सद्धर्म पर चलने की सीख देता है किन्तु उसे पालन करना वा न करना हमारी रुचि पर ही छोड़ देता है, उसी प्रकार से गीता का उपदेश मित्रसम्मत उपदेश है। अर्जुन को समस्त उपदेश देने के पश्चात् अन्त में भगवान् कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। (गीता १८।६३)

"इस प्रकार गोपनीय से भी अत्यन्त गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कह दिया है। इसको पूर्णतया अच्छी प्रकार विचारकर जैसा चाहता है वैसा ही कर तथा जैसी तेरी इच्छा हो वैसा ही कर।" गीता मित्रसम्मत उपदेश देती है इसलिए उसमें सोचने, विचारने, समझने और तदनुसार उसे आचरण में लाने की छूट है; किन्तु वेद के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह सृष्टि के आदिकाल में मानवमात्र के कल्याण के लिए परमात्मा के द्वारा दिया गया आदेश है, उसका पालन करना मानवमात्र का परम कर्तव्य है। जिस प्रकार से—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।
आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।
सत्यान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।
यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानिसेवितव्यानि।
नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि।
तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।
ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्।
श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्।
भिया देयम्। संविदा देयम्।
(तैत्तिरीय० १।११)

"सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय से कभी प्रमाद मत करो। आचार्य के लिए दक्षिणा में वांछित धन लाकर दो। सन्तान-परम्परा का उच्छेद न करो। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए, धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। शुभ कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। उन्नति के साधनों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन और उनके प्रवचन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। देवकार्य तथा पितृकार्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए।

माता में देवबुद्धि रखने वाले बनो। पिता को देवरूप समझने वाले बनो। आचार्य को देवरूप समझने वाले बनो। अतिथि को देवरूप समझने वाले बनो। जो निर्दोष कर्म हैं उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए; दूसरे कर्मों का नहीं। हमारे जो अच्छे आचरण हैं उनका ही तुमको सेवन करना चाहिए; दूसरों का नहीं। जो कोई भी हमसे

श्रेष्ठ विद्वान् आएँ उनको तुम्हें आसन-दानादि के द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिए। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए। बिना श्रद्धा के नहीं देना चाहिए। सम्पत्ति के अनुसार दान देना चाहिए। लज्जा से देना चाहिए। भय से भी देना चाहिए। विवेक पूर्वक देना चाहिए आदि''। शिष्य को उपदेश देने के पश्चात् अन्त में आचार्य कहता है–

एष आदेशः। एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् एतदनुशासनम् ।
एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

''यह वेद का आदेश है। यही मेरा उपदेश है। यही वेदों का रहस्य है। यही शिक्षा है, इसी प्रकार तुम्हें उपासना करनी चाहिए अर्थात् इसी प्रकार यह अनुष्ठान भी करना चाहिए।'' इस तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा में ऋषि कहता है—यही वेद का आदेश है और यही मेरा उपदेश है। गुरुजनों के द्वारा मिलने वाला उपदेश, वेद के आदेशसम्मत होने से सदैव आचरणीय है। यह याद रखना चाहिए कि जो उपनिषदें ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग की हैं उनमें सर्वत्र आदेशरूप से संहिताभाग के मन्त्रों को ही उद्धृत किया गया है। यह तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का अंश है। इसमें आया हुआ 'एष आदेशः' वाक्य वेद-आज्ञा की तरफ ही निर्देश करता है, क्योंकि आगे स्पष्ट करते हुए ऋषि कहता है–''**एषा वेदोपनिषत्**'' यह वेद की रहस्यमयी विद्या है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल के तत्त्वद्रष्टा ऋषि भी वेदवाक्य को ईश्वरीय आदेश स्वीकार कर स्वयं उसका पालन करते थे और अपने शिष्यों को भी उसके पालन का उपदेश देते थे। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, ईश्वरीय वाणी है, उसमें मनुष्य के कल्याणार्थ यह आदेश है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।

''कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर।'' अभिप्राय यह कि कर्म छोड़कर वा निकम्मा होकर एक क्षण भी जीना उचित वा उपयोगी नहीं है। यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ कि वेद का यह आदेश कल्याणाभिलाषी जिज्ञासु साधक के लिए है जो अभी मृत्यु के भय और जीवन के प्रलोभन से विमुक्त नहीं हो पाया, किन्तु होने की इच्छा रखता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ''**शतम् समाः जिजीविषेत्**'' सौ वर्षों तक जीने की इच्छा कर—ऐसा क्यों कहा? इसका सामान्य अर्थ तो केवल इतना ही है कि मनुष्य का आयुमान सौ वर्ष का ही स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में इस प्रकार की प्रार्थना का हमें दर्शन होता है–

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।। (यजु० ३६।२४)

इस मन्त्र में भगवान् सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम सौ वर्ष तक देखें, जीवित रहें,

सुनें, बोलें, सौ वर्ष तक दीनता-रहित रहें। सौ शरद् ऋतुओं को पूर्ण करते हुए अधिक काल तक स्थित रहें। इससे यह आशय निकलता है कि मनुष्य शतायु पूर्ण-आयु कहा जाता है, किन्तु उससे अधिक जीने की भी सम्भावना है, अस्वीकार नहीं किया गया। उपनिषदों में जीव को शतक्रतु भी कहा गया है। पुराणों का कथन है कि जब मनुष्य शतक्रतु हो जाता है अर्थात् सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है तो वह इन्द्रपद का अधिकारी हो जाता है। उपनिषदों में इन्द्र शब्द का अर्थ तत्त्वज्ञ, द्रष्टा वा परमात्मा भी किया गया है अतः सौ वर्ष की आयु की आवश्यकता मनुष्य के लिए शतक्रतु के अनुष्ठान को पूर्ण करने के लिए है। उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि जीवात्मा यजमान है, सप्त ज्ञानेन्द्रियाँ ही सप्त ऋषि हैं। प्राकृतिक पदार्थों को ग्रहण कर ये सप्त ऋषि सदैव यजमान के कल्याण के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करते रहते हैं और यदि यह यज्ञ सौ वर्ष पर्यन्त निर्विघ्न चलता रहे तो यजमान शतक्रतु अर्थात् इन्द्रपद को प्राप्त कर लेता है। जीवन के विकास के लिए सौ वर्षों तक सत्कर्म का अनुष्ठान करते हुए मनुष्य को जीने की इच्छा करनी चाहिए, यही वेद का आदेश है। इसके विपरीत क्षणमात्र का जीवन भी व्यर्थ और अनुपयोगी है।

कर्मानुष्ठान की वेद द्वारा दी गई आज्ञा के रहस्य को समझने के लिए हमें यह भी समझना होगा कि कर्म किसे कहते हैं? कर्म के सम्बन्ध में विविध प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ पूर्व काल में भी हमें देखने को मिलती हैं। भगवद्गीता में भी कर्म से सम्बन्धित विविध प्रकार की मान्यताओं का दर्शन होता है। भगवान् का कथन है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । (गीता ३।२७)

तेरहवें अध्याय में भी कहा है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । (गीता १३।२१)

अभिप्राय यह है कि प्राकृतिक गुणों की गति अथवा मूवमेंट ही कर्म के नाम से यहाँ वर्णित है। प्रकृति स्वभावतः गतिशील है। प्रकृति से उत्पन्न हुए बुद्धि से लेकर शरीर-पर्यन्त सभी पदार्थ प्रतिपल गतिशील रहते हैं, क्योंकि प्रकृति में प्रतिपल गति है, प्रवाह है। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी इस सत्य का अनुभव किया है। दुनिया में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें प्रतिपल गति एवं परिवर्तन न होता हो। वैज्ञानिकों का कथन है कि एक सेकण्ड में एक लाख चौरासी हज़ार मील की गति से एक परमाणु में गति हो रही है। कल्पना कीजिए, यह सारा दृश्य जगत् परमाणुओं का ही संघात है। फिर इसमें स्थिरता की कल्पना कैसे की जा सकती है? जिस पृथ्वी पर हम रह रहे हैं यह भी प्रतिपल गतिशील ही है, किन्तु हम इसकी गति को समझ नहीं पाते, सामान्यतः अनुभव नहीं कर पाते। जैसे एक नाव में बैठा हुआ व्यक्ति स्वयं को स्थिर और सभी कुछ को चलता हुआ देखता है, वही स्थिति इस पृथ्वी पर बैठे हुए मनुष्य की है।

श्रेष्ठ विद्वान् आएँ उनको तुम्हें आसन-दानादि के द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिए। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए। बिना श्रद्धा के नहीं देना चाहिए। सम्पत्ति के अनुसार दान देना चाहिए। लज्जा से देना चाहिए। भय से भी देना चाहिए। विवेक पूर्वक देना चाहिए आदि''। शिष्य को उपदेश देने के पश्चात् अन्त में आचार्य कहता है—

एष आदेशः। एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

''यह वेद का आदेश है। यही मेरा उपदेश है। यही वेदों का रहस्य है। यही शिक्षा है, इसी प्रकार तुम्हें उपासना करनी चाहिए अर्थात् इसी प्रकार यह अनुष्ठान भी करना चाहिए।'' इस तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा में ऋषि कहता है—यही वेद का आदेश है और यही मेरा उपदेश है। गुरुजनों के द्वारा मिलने वाला उपदेश, वेद के आदेशसम्मत होने से सदैव आचरणीय है। यह याद रखना चाहिए कि जो उपनिषदें ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग की हैं उनमें सर्वत्र आदेशरूप से संहिताभाग के मन्त्रों को ही उद्धृत किया गया है। यह तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का अंश है। इसमें आया हुआ 'एष आदेशः' वाक्य वेद-आज्ञा की तरफ ही निर्देश करता है, क्योंकि आगे स्पष्ट करते हुए ऋषि कहता है—''**एषा वेदोपनिषत्**'' यह वेद की रहस्यमयी विद्या है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल के तत्त्वद्रष्टा ऋषि भी वेदवाक्य को ईश्वरीय आदेश स्वीकार कर स्वयं उसका पालन करते थे और अपने शिष्यों को भी उसके पालन का उपदेश देते थे। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, ईश्वरीय वाणी है, उसमें मनुष्य के कल्याणार्थ यह आदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।

''कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर।'' अभिप्राय यह कि कर्म छोड़कर वा निकम्मा होकर एक क्षण भी जीना उचित वा उपयोगी नहीं है। यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ कि वेद का यह आदेश कल्याणाभिलाषी जिज्ञासु साधक के लिए है जो अभी मृत्यु के भय और जीवन के प्रलोभन से विमुक्त नहीं हो पाया, किन्तु होने की इच्छा रखता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ''**शतम् समाः जिजीविषेत्**'' सौ वर्षों तक जीने की इच्छा कर—ऐसा क्यों कहा? इसका सामान्य अर्थ तो केवल इतना ही है कि मनुष्य का आयुमान सौ वर्ष का ही स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में इस प्रकार की प्रार्थना का हमें दर्शन होता है—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ (यजु० ३६।२४)

इस मन्त्र में भगवान् सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम सौ वर्ष तक देखें, जीवित रहें,

सुनें, बोलें, सौ वर्ष तक दीनता-रहित रहें। सौ शरद् ऋतुओं को पूर्ण करते हुए अधिक काल तक स्थित रहें। इससे यह आशय निकलता है कि मनुष्य शतायु पूर्ण-आयु कहा जाता है, किन्तु उससे अधिक जीने की भी सम्भावना है, अस्वीकार नहीं किया गया। उपनिषदों में जीव को शतक्रतु भी कहा गया है। पुराणों का कथन है कि जब मनुष्य शतक्रतु हो जाता है अर्थात् सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है तो वह इन्द्रपद का अधिकारी हो जाता है। उपनिषदों में इन्द्र शब्द का अर्थ तत्त्वज्ञ, द्रष्टा वा परमात्मा भी किया गया है अतः सौ वर्ष की आयु की आवश्यकता मनुष्य के लिए शतक्रतु के अनुष्ठान को पूर्ण करने के लिए है। उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि जीवात्मा यजमान है, सप्त ज्ञानेन्द्रियाँ ही सप्त ऋषि हैं। प्राकृतिक पदार्थों को ग्रहण कर ये सप्त ऋषि सदैव यजमान के कल्याण के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करते रहते हैं और यदि यह यज्ञ सौ वर्ष पर्यन्त निर्विघ्न चलता रहे तो यजमान शतक्रतु अर्थात् इन्द्रपद को प्राप्त कर लेता है। जीवन के विकास के लिए सौ वर्षों तक सत्कर्म का अनुष्ठान करते हुए मनुष्य को जीने की इच्छा करनी चाहिए, यही वेद का आदेश है। इसके विपरीत क्षणमात्र का जीवन भी व्यर्थ और अनुपयोगी है।

कर्मानुष्ठान की वेद द्वारा दी गई आज्ञा के रहस्य को समझने के लिए हमें यह भी समझना होगा कि कर्म किसे कहते हैं? कर्म के सम्बन्ध में विविध प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ पूर्व काल में भी हमें देखने को मिलती हैं। भगवद्गीता में भी कर्म से सम्बन्धित विविध प्रकार की मान्यताओं का दर्शन होता है। भगवान् का कथन है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । (गीता ३।२७)

तेरहवें अध्याय में भी कहा है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । (गीता १३।२१)

अभिप्राय यह है कि प्राकृतिक गुणों की गति अथवा मूवमेंट ही कर्म के नाम से यहाँ वर्णित है। प्रकृति स्वभावतः गतिशील है। प्रकृति से उत्पन्न हुए बुद्धि से लेकर शरीर-पर्यन्त सभी पदार्थ प्रतिपल गतिशील रहते हैं, क्योंकि प्रकृति में प्रतिपल गति है, प्रवाह है। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी इस सत्य का अनुभव किया है। दुनिया में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें प्रतिपल गति एवं परिवर्तन न होता हो। वैज्ञानिकों का कथन है कि एक सेकण्ड में एक लाख चौरासी हज़ार मील की गति से एक परमाणु में गति हो रही है। कल्पना कीजिए, यह सारा दृश्य जगत् परमाणुओं का ही संघात है। फिर इसमें स्थिरता की कल्पना कैसे की जा सकती है? जिस पृथ्वी पर हम रह रहे हैं यह भी प्रतिपल गतिशील ही है, किन्तु हम इसकी गति को समझ नहीं पाते, सामान्यतः अनुभव नहीं कर पाते। जैसे एक नाव में बैठा हुआ व्यक्ति स्वयं को स्थिर और सभी कुछ को चलता हुआ देखता है, वही स्थिति इस पृथ्वी पर बैठे हुए मनुष्य की है।

यहाँ यह शंका हो सकती है—क्या पृथ्वी की इस गतिशीलता को हमारे प्राचीन ऋषि नहीं जानते थे? यदि जानते थे तो इसका नाम अचला क्यों रखा? पृथ्वी का एक नाम अचला है। इसका सीधा-सा समाधान है—अचला शब्द का अर्थ होता है अपने स्थान से विचलित न होने वाली। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि यह पृथ्वी अपनी धुरी पर सदैव अचल है। जैसे समस्त प्राणियों को धारण करने के नाते इसको धरा कहते हैं, समस्त वैभव को धारण करने के नाते इसे वसुन्धरा कहते हैं, उसी प्रकार से अपनी धुरी पर स्थित रहने के नाते इसे अचला कहा गया है। मैं आप लोगों को समझा रहा था कि प्रकृति स्वयं गतिशील है, उसमें प्रतिपल गति के साथ विविध प्रकार के परिवर्तन भी होते रहते हैं। गीता में भगवान् ने प्रकृति की इन समस्त गतिविधियों को कर्म शब्द से अभिहित किया है। गम्भीरता से विचार करने पर इसे कर्म-संज्ञक कहना उचित एवं समीचीन लगता है। भगवान् का कथन है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (गीता ३।५)

"कोई भी व्यक्ति किसी काल में क्षणमात्र भी कर्म किए बिना नहीं रहता। निःसन्देह सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हो कर्म करते हैं।" मनुष्य केवल आत्मा नहीं और न तो वह केवल शरीर ही है। शरीर और आत्मा के संयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति है। आत्मा के सकाश में प्रकृति के गुणों में गति और गति में ही कर्म की स्थिति है। गुणात्मिका प्रकृति और ज्ञानात्मक चेतन पुरुष के संयोग का परिणाम ही यह सम्पूर्ण सृष्टि है। मनुष्य भी उस सृष्टि का एक प्राणी है। मनुष्य के रूप में प्रकृति अपने पूर्ण विकसित रूप से अभिव्यक्त होती है इसलिए बुद्धि, अहं, मन, इन्द्रियाँ और शरीरादि अवयवों से युक्त होने से मनुष्य परमात्मा की ही प्रतिमूर्ति कहा जाता है। ज्ञानस्वरूप चेतनांश के होने से जीव भोक्ता वा अनुभवकर्ता कहा जाता है और प्रकृति के अंशरूप बुद्धि से शरीर तक बाह्य तथा अन्तःकरणों से युक्त होने से उसे कर्ता भी कहते हैं। क्योंकि समस्त कर्म यद्यपि इन करणों के द्वारा ही होता है किन्तु उसमें इस प्रकार के क्रिया-कलाप का हेतु उस चेतन की सन्निधि मात्र ही है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि कोई भी शरीरधारी व्यक्ति बिना कर्म किए एक क्षण भी नहीं रह सकता। इतना अवश्य है कि चेतन की सन्निधि में प्राकृतिक गुणों द्वारा जो कुछ क्रिया-कलाप हो रहा है वह चेतन में लिप्त नहीं होता जब तक चेतन स्वयं उसमें अहंभाव करके आबद्ध न हो। यही गीता का कथन है और इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए वेद आदेश देता है कि "**त्वयि नरे कर्म न लिप्यते**"। इसमें सन्देह नहीं कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहं, बुद्धि आदि समस्त रूपों में प्रकृति ही अभिव्यक्त हुई है। गीता के शब्दों में—"**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**" कार्य, करण और कर्तृत्व इन तीनों रूपों में प्रकृति ही कारण है। विश्व में जो भी गति

वा निर्माण हो रहा है, सब प्रकृति में ही घटित हो रहा है। इसमें कहीं एक क्षण के लिए भी विश्राम वा ठहराव नहीं है। वेद के सिद्धान्तानुसार आविर्तिरोभाव की प्रक्रिया नित्य और शाश्वत है। कर्म प्रकृति का शाश्वत नियम है इसलिए यहाँ कोई भी व्यक्ति कर्म किए बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। श्वास लेना भी कर्म है, दिल की धड़कन चल रही है यह भी कर्म हैं, यदि यह कहा जाए कि कर्म में ही जीवन की स्थिति है तो कोई असंगत बात न होगी। कर्म के अभाव में एक क्षण का भी जीवन असम्भव है और जब यह निश्चित है कि कर्म अपरिहार्य तत्त्व है तो फिर उसे विवेकशील मानव अपने विवेक द्वारा अनुशासित कर क्यों न करे? इसी अभिप्राय को प्रकट करने के लिए वेद के इस मन्त्र का आदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।

मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है। जिस प्रकार से ब्रह्माण्ड का अनुशासक, नियन्ता तथा संचालक ईश्वर है, ठीक उसी प्रकार से इस पिण्ड अर्थात् शरीर का अनुशासक, नियन्ता तथा संचालक जीव है। विश्व की क्रिया को व्यवस्थित एवं सार्थक बनाना ईश्वर का कार्य है, उसी प्रकार से शरीर की क्रिया को व्यवस्थित कर सार्थक बनाना जीव का कार्य है। भगवान् का कथन है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ (गीता १६।२४)

"मनुष्य को चाहिए कि इस जीवन के द्वारा होने वाले कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र प्रमाण है, ऐसा जानकर शास्त्रविधानानुसार कहे हुए कर्म को करने के लिए ही प्रवृत्त हो।" यहाँ शास्त्र शब्द का प्रयोग वेद के ही अर्थ में किया गया है। अभिप्राय यह है कि कर्म के बिना हम रह नहीं सकते, कर्म हमारी नियति है, फिर उस कार्य को विवेक के प्रकाश में सुव्यवस्थित रूप से क्यों न किया जाए!

कर्म की और भी परिभाषाएँ हैं। कुछ लोगों की मान्यता है "**क्रियते इति कर्म**" जो किया जाए वा जो कर रहे हैं वह कर्म है। पाणिनि ने कर्म की परिभाषा करते हुए कहा—"**कर्तुरीप्सिततमं कर्म**" कर्त्ता जिसे चाहता है वह कर्म है; जो कर्त्ता करता है वह तो क्रिया है, कर्म नहीं। यहाँ पर कर्म का अर्थ क्रिया नहीं बल्कि चाह है। इसी प्रकार से कर्म के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। अर्जुन स्वयं भगवान् से गीता के आठवें अध्याय में यह प्रश्न करता है कि प्रभो!—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । (गीता ८।१)

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? क्योंकि जिस कर्मयोग की महिमा भगवान् स्वयं गा रहे हैं उसके यथार्थ स्वरूप को समझना, जानना अत्यन्त आवश्यक है। अर्जुन की इस जिज्ञासा को पूर्ण करते हुए भगवान् कहते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (गीता ८।३)

"परम अक्षर ब्रह्म है, उसका स्वभाव यानि निज की भाव अभिव्यक्ति ही अध्यात्म कहा जाता है; और प्राणियों के भाव को उद्भव करने वाला, ऊपर उठाने वाला जो विसर्ग है, त्याग है; वही कर्म नाम से कहा गया है।" सही कर्म वह है जिसके द्वारा प्राणी अपने स्तर से ऊपर उठे। विसर्ग ही कर्म है। विसर्ग शब्द का अर्थ होता है त्याग। गम्भीरता से विचार करने पर आप लोग इसके अन्तर्तम में निहित रहस्य को समझ सकते हैं। जब भी कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त होता है तो उसमें क्या करता है? केवल अपनी शक्ति का त्याग, श्वास का त्याग, समय का त्याग। शक्ति, श्वास और समय को लगाकर ही व्यक्ति कर्म कर पाता है। थोड़ी देर के लिए यदि यह कोई निश्चय करता है कि अब वह कर्म नहीं करेगा तो क्या वह अपने श्वास, समय और शक्ति को क्षय से रोक सकता है या व्यय से रोक सकता है? यदि कोई बिना किसी प्रयत्न के भी जी रहा है तो उसके जीने में भी शक्ति, श्वास और समय का तो क्षय हो ही रहा है। उसमें उसके चाहने और न चाहने का कोई महत्त्व नहीं। यदि आप कहें कि मैं नहीं चाहता इसलिए थोड़े दिन के लिए मेरी आयु का व्यय न हो, मेरे श्वास का व्यय न हो, मेरी शक्ति का व्यय न हो अर्थात् समय, शक्ति और श्वास जिस स्थिति में हैं वहीं रुक जाएँ तो क्या यह सम्भव हो सकता है? क्या इनको आप क्षय से बचा सकते हैं? नहीं, सर्वथा असम्भव है। मिली हुई शक्ति, श्वास, आयु का तो क्षरण होगा ही, विसर्जन होगा ही; इसे कोई रोक नहीं सकता।

अब विचारणीय विषय यह है कि जब क्षरण, त्याग वा विसर्ग हो ही रहा है तो फिर उसे स्वयं के नियन्त्रण में, स्वेच्छानुसार विवेक के प्रकाश में, स्वयं की उन्नति के लिए ही क्यों न किया जाए? यदि सावधानी से, सजगता से मिली हुई शक्ति, समय और श्वास का विसर्जन वा त्याग किया जाए तो वह व्यक्ति की उन्नति में कारण बनते हैं। भगवान् उसी विसर्ग को यथार्थ कर्म बताते हैं। भगवान् के ही शब्दों में इसे समझिए—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः । (गीता ८।३)

भूत माने प्राणी, भाव माने अस्तित्व, उत् माने ऊपर, भव माने होना, अभिप्राय है कि प्राणियों के अस्तित्व को ऊपर उठाने वाला विसर्ग यानी जो त्याग है उसका नाम कर्म है। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि जो विसर्ग प्राणियों के अस्तित्व को ऊपर उठाने की बजाय नीचे गिराता हो वह कर्मसंज्ञक नहीं। भगवान् ने उसे दुष्कर्म वा विकर्म कहा है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि गीता में जो कहा है—"**गहना कर्मणो गतिः**" वह कितना सार्थक प्रयोग है!

मनुष्य को सावधानी और सजगता से इस प्रकार मिले हुए साधन एवं शक्ति का प्रयोग करना चाहिए जिससे कि वह जिस स्तर पर है वहाँ से ऊपर उठ सके, आगे बढ़ सके। प्राप्त शक्ति का क्षय तो होगा ही, उसे कोई बचा नहीं सकता, काल की गति भी प्रतिपल चलती रहती है। आचार्य शंकर के शब्दों में–

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः कालःक्रीडति गच्छत्यायुः।

अभिप्राय यह है कि दिन-रात, ऋतु-वर्ष आदि रूपों में काल क्रीड़ा कर रहा है और आयु समाप्त हो रही है, आयु के साथ-साथ ही श्वास और शक्ति का भी क्षय हो रहा है। प्रमाद में पड़ा हुआ मनुष्य भले ही इस विनाश का अनुभव न कर सके, किन्तु इसके परिणाम से वह बच नहीं सकता। जन्म के साथ ही मृत्यु का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। जैसे पश्चिम में रहने वाले लोग प्रत्येक सोमवार से सप्ताहान्त की प्रतीक्षा करने लगते हैं और शुक्रवार आने पर विश्राम की सम्भावना से प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु यह नहीं सोचते कि जीवन का एक और अमूल्य सप्ताह अनन्त काल के गाल में विलीन हो गया, यही स्थिति उन लोगों की भी है जो कि प्रत्येक वर्षगाँठ पर जश्न मनाते हैं। हाँ, यदि वेद के आदेशानुसार जीवन के घड़ी, पल, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष आदि कर्मानुष्ठान में व्यतीत होते जाएँ तो अवश्य ही प्रसन्नता की बात है, महोत्सव मनाने के योग्य है, क्योंकि इस प्रकार के कर्म से वह कर्ता अपने जीवन को विकसित करता हुआ, अपना उत्थान करता हुआ शनैः-शनैः अपने लक्ष्य के निकट पहुँच रहा है। प्रभु का कथन है–

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ (गीता ६।४५)

अनेक जन्मों के प्रयत्न से चित्त शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ प्रयत्नशील अभ्यासरत योगी समस्त दोषों से, पापों से विमुक्त हो, विशुद्ध हो उस साधन के प्रभाव से परम गति को प्राप्त हो जाता है। इससे आप लोग कर्म के रहस्य और उसकी उपादेयता को अच्छी प्रकार से समझ गए होंगे। मनुष्य होने के नाते आपके ऊपर यह जिम्मेदारी है कि आप स्वयं के उत्थान के लिए शास्त्र-विहित कर्म का अनुष्ठान करें। आपके आत्मोत्थान के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। ईशोपनिषद् का यह दूसरा मन्त्र आपके लिए यही आदेश देता है और भगवान् कृष्ण का उपदेश भी इसी का समर्थन करता है। इस विषय में शेष बातें कल बताई जाएँगी।

□ □

७

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोगों को कुछ दिनों से सनातन धर्म के मूलाधार वैदिक साहित्य के सारतत्त्व ब्रह्मविद्या वा उपनिषद्-विज्ञान से सम्बन्धित ईशोपनिषद् पर विचार दिया जा रहा है। उपनिषद्-साहित्य सनातन धर्म, सनातन संस्कृति, सनातन जीवन-पद्धति का आधार है, इसलिए इसकी बड़ी महिमा है। दुनिया के पुस्तकालयों में तत्त्वज्ञान की मीमांसा करने वाला इससे प्राचीनतम और कोई साहित्य नहीं है, इसलिए भी इसकी बड़ी महत्ता है। यह तत्त्वविज्ञान-कोष भारतीय गणना के अनुसार लाखों वर्ष पूर्व तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने अनुसन्धान करके मानव-जाति के हितार्थ प्रदान किया था। ईशोपनिषद् का दूसरा मन्त्र जिसकी हम व्याख्या कर रहे हैं, वह कर्म-विज्ञान का मूल मन्त्र है। कर्म-विज्ञान का अभिप्राय होता है कर्म का कारण, स्वरूप और उसके प्रयोजन का यथार्थ बोध। गम्भीरता से विचार करने पर प्रकृति-पुरुष का संयोग ही कर्म का मूल कारण है; उस संयोग से अभिव्यक्त हुआ अहं वा जीवत्व की गति ही कर्म का स्वरूप है। विवेक के प्रकाश में प्रकृति-पुरुष के यथार्थ स्वरूप का बोध और जीवत्व का ईश्वरत्व में पर्यवसान ही कर्म का प्रयोजन है। कर्म के प्रयोजन की पूर्ति के लिए अचल, एकरस विवेक का उदय अत्यावश्यक है। विशुद्ध बुद्धि में ही विवेक का उदय होता है, इसलिए बुद्धि को विशुद्ध बनाने की समस्त साधनाओं को भी कर्म नाम से अभिहित किया जाता है।

जैसा कि कल के प्रवचन में समझाया गया था कि जिस त्याग से मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठ सके, उस त्याग की ही कर्म संज्ञा है। क्योंकि जीवन प्रवाह में यह त्याग प्रतिपल हो रहा है, इसलिए जीना भी स्वयं में एक प्रकार का कर्म ही है जो कि चाहने वा न चाहने पर भी ईश्वरीय विधान से हो रहा है। वेद का आदेश है—कर्म अपरिहार्य है, उसके बिना तुम रह नहीं सकते इसलिए सावधानी, सतर्कता एवं बुद्धिमानी के साथ उसे करते हुए आत्मोत्थान की साधना में निरत रहो। यदि कर्म में असावधानी बरती तो वह तुम्हें महान् दुःख के गर्तरूप नरक में ढकेल देगा।

जैसा कि मैंने पहले भी बताया है कि वेद के इस मन्त्र में कर्म-विज्ञान का सूत्र है। यदि उसकी विस्तृत विवेचना जाननी वा समझनी हो तो हमें गीता का आश्रय लेना

होगा। गीता कर्म-विज्ञान का अनुपम कोष है, इसकी बराबरी का विश्व साहित्य में अन्य कोई ग्रन्थ नहीं। वेद परमात्मा का आदेश है; उसमें कहा है कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करना चाहिए; किन्तु वह कर्म किस प्रकार से करना चाहिए, क्यों करना चाहिए, किसलिए करना चाहिए, इन प्रश्नों का विस्तृत समाधान भगवद्गीता प्रस्तुत करती है। गीता की घोषणा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३।४)

"कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता।" दूसरे शब्दों में, कर्म उसका सहज स्वभाव है क्योंकि वह अहं की गति है। जो स्वभावजन्य कर्म हो रहा है उसमें बन्धन की सम्भावना नहीं। प्राकृतिक गुणों में सदैव गति है, परिवर्तन है, उनके द्वारा इस प्रकार के कर्म होते ही रहते हैं। जो प्राकृतिक नियम से कर्म होते हैं उनमें जीव का अहं-भाव नहीं होता, इसलिए वे बन्धनकारक नहीं होते। बन्धन में वे कर्म कारण होते हैं जिनमें जीव का अहं-कर्तृत्व का भाव होता है अर्थात् 'मैं करता हूँ' ऐसी मान्यता होती है।

कर्म-विज्ञान का उपदेश उन जीवों के लिए ही दिया गया है जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व की भावना से बँधे हुए हैं। दूसरे शब्दों में जिनका स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से आत्मीय सम्बन्ध है। इसीलिए तो वेद कहता है **"जिजीविषेच्छतꣳ समाः कुर्वन्नेवेह कर्माणि"** सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए, किन्तु यहाँ कर्म करते हुए ही। जिस कर्म को करने का आदेश वेद दे रहा है, भगवान् गीता में उस कर्म की गहनता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। (गीता ४।१६)

"कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में त्रिकालदर्शी तत्त्ववेत्ता ऋषिगण भी मोहित हैं, इसलिए तेरे लिए उस कर्म का तत्त्व अच्छी प्रकार से कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जाएगा अर्थात् उसके बन्धन में नहीं पड़ेगा।" इससे अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।। (गीता ४।१७)

"कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म को भी अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए, जान लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत गहन है।" इन दो श्लोकों में भगवान् ने कर्म के तात्त्विक रहस्य का उद्घाटन करते हुए यह बताया कि कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनों के यथार्थ स्वरूप को जानकर, इनके भेद को अच्छी प्रकार से समझकर ही कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। साथ ही भगवान् यह भी संकेत करते हैं कि इनके भेदों को समझ लेना

कोई आसान बात नहीं है, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है। इसके सम्बन्ध में श्रेष्ठ बुद्धिमान् लोग भी मोहित हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि जिस कर्म को हम सत्य समझते हैं, धर्म समझते हैं; वही अधर्म बन जाता है; और कभी-कभी जिस कर्म को हम अधर्म समझते हैं वही कर्म धर्मसम्मत हो जाता है। सही क्या है गलत क्या है, सत्य क्या है असत्य क्या है, धर्म क्या है अधर्म क्या है, बाह्य रूप देख कर इनका निश्चय करना कठिन ही नहीं, असम्भव है; केवल जन-सामान्य के लिए ही नहीं, श्रेष्ठ बुद्धिमानों के लिए भी।

पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ पढ़ने को मिलती हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि सही और गलत का निर्णय करना बड़ा ही दुरूह है। यदि सत्य-भाषण से किसी प्राणी की हत्या हो रही हो तो वह सत्य धर्म नहीं अधर्म है और यदि मिथ्याभाषण से किसी प्राणी की रक्षा हो रही हो तो वह असत्य-भाषण अधर्म नहीं धर्म बन जाता है। इसीलिए महाभारत में महात्मा नारद ने कहा—

यत्भूतहितमत्यन्तं स सत्यं इति मे मति ।

जिसमें जीव का अत्यन्त हित निहित हो वही सत्य है। केवल सत्य ही नहीं समस्त अन्तः तथा बाह्य करणों के सम्पूर्ण व्यापार की यही गति है। यदि कोई कार्य लोकहित, जनहित वा ईश्वर-अर्चना की दृष्टि से किया जाए तो वह बाह्यरूप से देखने में भले ही गलत लगता हो, पर यथार्थतः वह सही, धर्मसंगत ही कहा जाएगा। देशसेवा में रत सैनिक आक्रमणकारी के ऊपर दया करता है तो वहाँ पर दया धर्म नहीं, अधर्म में ही कारण होगी। गोस्वामीजी ने लिखा है— **''रिपु पर कृपा परम कदराई''**। खरदूषण को सावधान करते हुए भगवान् श्रीराम स्वयं कहते हैं—शत्रु पर कृपा करना वीरता नहीं, परम कायरता है। हम अपने अतीत के इतिहास को पढ़कर इसकी यथार्थता को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। पृथ्वीराज चौहान द्वारा आततायी मुहम्मद गौरी को अनेक बार बन्दी बना कर पुनः उसे छोड़ देना हमारे देश, जाति और समाज के लिए कितना भयंकर सिद्ध हुआ है, इस तथ्य को सभी इतिहासवेत्ता जानते हैं। देशरक्षक वीर सैनिक यदि तथाकथित अहिंसा के पुजारी हो जाएँ और विदेशी आक्रान्ताओं को आक्रमण करते हुए देखकर यदि वे सोचने लगें कि इन पर शस्त्र-प्रहार करना हिंसाप्रद कार्य है और इसलिए वे युद्ध से विरत हो जाएँ तो उसका परिणाम क्या होगा, यह आप लोग स्वयं समझ सकते हैं।

अहिंसा परम धर्म है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसका प्रयोग कब, कहाँ, किसके लिए करना चाहिए, यह जान लेना अति आवश्यक है। यदि आततायी एवं आक्रमणकारी के प्रति अहिंसा-व्रत का प्रयोग किया जाए तो वह धर्म नहीं, अधर्म में ही कारण बनेगा। आततायी को दण्ड देना हिंसा नहीं, अहिंसा की प्रतिष्ठा में हेतु बनता है, यही वैदिक ऋषियों का सन्देश है। वैदिक विज्ञान दण्ड और हिंसा को सर्वथा भिन्न स्वीकार

करता है। इसमें सन्देह नहीं कि दण्ड में दण्डित व्यक्ति को पीड़ा मिलती है जो कि हिंसा का ही स्वरूप है, किन्तु दण्डदाता न्यायाधीश यदि न्यायसंगत दण्ड नहीं देता तो वह धर्म नहीं, अधर्म का ही पात्र बनता है। जब किसी अपराधी को अपराध के बदले में न्याययुक्त दण्ड दिया जाता है तो वह दण्ड उसके कर्म का ही परिणाम होता है, इसलिए वह दण्ड धर्मसम्मत कहा जाता है। यदि अपराधी को दण्ड का भय न हो तो यह सारी मानवता नष्ट-भ्रष्ट हो जाए, सबल दुर्बल को लूटकर खा जाए। शास्त्र कहता है कि राजा और राजदण्ड परमात्मा की ही विभूति हैं, धर्म के रक्षक एवं प्रतिष्ठापक हैं। मानव एवं मानवता की रक्षा के लिए दुष्टता का दमन आवश्यक है। भगवान् स्वयं अपने अवतार का हेतु बताते हुए कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। (गीता ४।८)

अभिप्राय यह कि धर्म की संस्थापना में सज्जन की रक्षा ही नहीं, दुष्कृति का विनाश भी आवश्यक है। इसलिए सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा, संग्रह-त्याग आदि जो धर्म वा अधर्म से सम्बन्धित कृत्य वा भाव कहे गये हैं इनके विषय में सदैव सजग रहने की आवश्यकता है, अन्यथा पृथ्वीराज की तरह दया एवं धर्म के व्यामोह में पड़कर अपने लिए ही नहीं, अनेक के लिए दुःख को ही आमन्त्रित करना होगा।

इतिहास में हम पढ़ते हैं कि मुहम्मद गौरी ने गौओं का झुण्ड आगे करके पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था और गऊ-हत्या के भय से पृथ्वीराज ने बाणों का प्रयोग नहीं किया;परिणाम में वह बन्दी बना लिया गया। केवल पृथ्वीराज ही नहीं बल्कि उसके साथ ही भारत के वैभव और उसकी स्वतन्त्रता की भी हत्या हो गई और आज दिन तक असंख्य गौओं को मृत्यु के घाट उतारा जा रहा है। इसलिए मैं आप लोगों को समझा रहा था—कर्म क्या है, विकर्म क्या है, अकर्म क्या है, इसका निर्णय करना बड़ा मुश्किल है, बड़ी ही सावधानी से इस पर विचार करना चाहिए। कर्म ही करणीय है और उस कर्म का स्वरूप क्या है इसको समझाते हुए कहा है— **''भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः''** प्राणियों के अस्तित्व को ऊपर उठाने वाला त्याग ही कर्म कहा जाता है। ऐसा जो भगवान् ने बताया है उसे सदैव ध्यान में रखते हुए कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। सरल शब्दों में कर्म वह है जो कि मनुष्य को उत्थान की दिशा में अग्रसर करे। जिस कर्म से मनुष्य पतन को प्राप्त होता है वह कर्म नहीं, विकर्म है। विकर्म शब्द का अर्थ होता है—विकृत कर्म वा विपरीत कर्म। दूसरे शब्दों में, जो शास्त्र द्वारा समर्थित तत्त्वद्रष्टा मनीषियों द्वारा उपदिष्ट नहीं है वही विकर्म है। उसके अनुष्ठान से मनुष्य का उत्थान नहीं, पतन होता है। श्रीमद्भागवत के अवधूतोपाख्यान के प्रसंग में भगवान् उद्धव को समझाते हुए कहते हैं—

प्रंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ।। (भाग०११-७।८)

"जो अयुक्त पुरुष हैं अर्थात् जिनका चित्त अस्थिर है, असंयत है, उन्हीं के लिए विश्व में गुण-दोषयुक्त अनेकत्व, नानात्व का भ्रम होता है। वे ही 'यह गुण है और यह दोष है' इस प्रकार की कल्पना करते हैं; और जो इस प्रकार की भेदबुद्धि से युक्त हैं अथवा जिनकी बुद्धि में गुण और दोष का भेद दृढ़ हो गया है, उन्हीं के लिए कर्म-अकर्म और विकर्म आदि का प्रतिपादन हुआ है।" अर्थात् जो लोग अभी अद्वैत की स्थिति में नहीं पहुँचे, जिन्हें यथार्थतः आत्मतत्त्व का बोध नहीं हुआ, अद्वैतानुभूति नहीं हुई, उनके लिए ही वेद में—करणीय कर्म तथा त्याज्य विकर्म और विहित कर्म के अभावरूप अकर्म आदि का उपदेश दिया गया है। क्योंकि मानव साधक है, सिद्ध नहीं, इसलिए वेद उसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' का आदेश देता है और भगवान् स्वयं अकर्म और विकर्म से विमुक्त हो कर्मयोग के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने का उपदेश देते हैं। उनका कथन है, कर्म वह है जिससे व्यक्ति, समाज वा राष्ट्र उन्नति को प्राप्त होता है।

जैसा कि पहले समझाया गया है, व्याकरण की दृष्टि से कर्ता जिसे चाहता है वह कर्म है, निरुक्त की दृष्टि से व्यक्ति जो कर रहा है वह कर्म है, सांख्य की दृष्टि से प्राकृत गुणों की गति एवं परिवर्तन को ही कर्म कहा जाता है, किन्तु भगवान् यहाँ उपर्युक्त समस्त सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए भी कर्म के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए उसके रहस्य का उद्घाटन करते हैं और बताते हैं विहित कर्म 'कर्म' है, विधि के विपरीत कर्म 'विकर्म' है और विधि-विहीन कर्म 'अकर्म' है। मनुष्य के लिए अकर्म और विकर्म दोनों ही त्याज्य हैं और कर्म ही अनुष्ठेय है अर्थात् कर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए। विहित कर्म केवल वही है जिससे जीव अपने स्तर से ऊपर उठ सके।

गीता में भगवान् ने करणीय कर्मों में यज्ञ, दान और तप की महत्ता का गान किया है। उनका कथन है—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। (गीता १८।५)

यज्ञ-दान और तप ये त्रिविध कर्म अवश्य ही करणीय हैं, ये किसी भी अवस्था में त्यागने योग्य नहीं हैं क्योंकि ये कर्म मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं। उसी कर्म की ओर संकेत करते हुए भगवान् ने पाँचवें अध्याय में कहा है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये । (गीता ५।११)

योगी-जन भी आत्मशुद्धि के लिए आसक्ति-रहित होकर कर्म का अनुष्ठान करते हैं। आत्मशुद्धि के साधनरूप कर्म का वर्णन करते हुए बताया है कि यज्ञ, दान और तप

रूप ही वे कर्म हैं जो योगियों वा मनीषियों को भी पवित्र करते हैं इसलिए १८वें अध्याय में भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। (गीता १८।६)

"आसक्ति और फल का त्याग करके यज्ञ-दान-तपरूप कर्म करना चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।" यज्ञ-दान-तपरूप कर्म को ही भगवान् ने सत्कर्म कहा है—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। (गीता १७।२७)

यज्ञ-तप और दान में जो स्थिति है वही सत् है—ऐसा कहते हैं और उस सत् के लिए जो भी कुछ कर्म किया जाता है वह भी सत् है। अभिप्राय यह कि सत्कर्म में सत्-स्वरूप परमात्मा की ही स्थिति है और जो कुछ भी परमात्म-भाव से किया जाता है वही कर्म सत्कर्म हैं। यज्ञ, दान और तप ये त्रिविध कर्म उस परम ब्रह्म परमात्मा से ही सम्बन्धित हैं इसलिए—**"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"** इस वेदवाक्य में कर्माणि शब्द यज्ञ-दान और तपरूप कर्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

यज्ञ शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है—

एषहवै यज्ञो योऽयंपवते । एषह यन्निदं सर्वं पुनाति । यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेश एव यज्ञ । तस्यमनश्चवाक्चवर्तनि ।

(छां० ४।१६।१)

"यह जो गतिमान् है निश्चय यज्ञ ही है; यह चलता हुआ निश्चय ही सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है क्योंकि यह गमन करता हुआ समस्त संसार को पवित्र कर देता है, इसलिए यह यज्ञ है। मन और वाणी ये दोनों इसके मार्ग हैं।" छान्दोग्य के इस मन्त्र में पवन की यज्ञरूप में उपासना का आदेश दिया गया है और यज्ञ की महत्ता के विषय में बताया गया है कि इसकी गति से सम्पूर्ण विश्व पवित्र होता है इसलिए यह यज्ञ है। उपनिषदों में यज्ञ के विविध रूपों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसका संक्षिप्त वर्णन मैंने **"भारत की आत्मा"** नामक पुस्तक में किया है। गीता में प्रभु ने स्वयं यह कहा है कि प्रजा की सृष्टि के साथ ही प्रजापति ने यज्ञ की भी सृष्टि की है और यज्ञ के द्वारा दैवी शक्तियों की प्रसन्नता और देवों की प्रसन्नता से मानव के विकास की व्यवस्था दी है। प्रजापति ने सृष्टि-रचना के साथ ही उसमें सर्वत्र समर्पण का विधान निहित किया है। समर्पण ही यज्ञ है। समर्पण के अभाव में सृष्टि की स्थिति और जीवन के विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। गीता के चौथे अध्याय में भगवान् ने यज्ञात्मक कर्म की प्रशंसा करते हुए कहा है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। (गीता ४।२३)

"आसक्ति से रहित हो ज्ञान में स्थित चित्त वाले यज्ञार्थ आचरण करते हुए मुक्त पुरुष के समस्त कर्म-विलीन हो जाते हैं।" कहने का अभिप्राय यह है कि वे कर्म उसके लिए बन्धनकारक नहीं होते। यज्ञार्थ कर्म किस प्रकार से किया जाता है, इसकी विवेचना चौथे अध्याय के २४ से लेकर ३२ श्लोकों तक बड़े ही विस्तार से की गई है। सारांश रूप में यह समझाया गया है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया ही यज्ञात्मक क्रिया है। यज्ञ किसी विशेष क्रिया का ही नाम नहीं है। जैसा कि आप लोगों को पहले समझाया गया है कि जो क्रिया स्वयं को वा समाज को पवित्र करने वाली है वही यज्ञ है। इस दृष्टि से, यहाँ तक कि खाना-पीना, चलना-फिरना, लेना-देना, बात करना एवं श्वास तक लेना भी यज्ञमय हो सकता है यदि यह सब-कुछ ईश्वर से सम्बन्धित वा लोक-कल्याण से सम्बन्धित हो तो।

वेद में यज्ञात्मक कर्म की बड़ी महिमा है। बुद्धिशील प्राणी होने से मनुष्य के द्वारा ही विधिपूर्वक यज्ञ का सम्पादन हो सकता है। मनुष्य से इतर प्राणियों के द्वारा भी यज्ञात्मक क्रियाएँ हो रही हैं, किन्तु उनका सम्पादन प्रकृति स्वयं करा रही है। अपने आहार की ओर आप ध्यान दें, विचार करने पर आपको ज्ञात होगा कि आपका भोजन करना भी एक प्रकार का विशिष्ट यज्ञ ही है। जैसे आप जानते हैं प्रज्वलित अग्नि में स्रुवा के साथ यजमान के द्वारा हव्य का समर्पण ही यज्ञ है, ठीक उसी प्रकार से आपका उदर कुण्ड है और उसमें भूख ही प्रज्वलित अग्नि है और भूख के द्वारा जो मुँह सूखता है वही उस अग्नि का धुआँ है। आपका हाथ ही स्रुवा है, उससे जो भक्ष्य पदार्थ उठाते हैं वही हव्य है और उस हव्य का मुख-द्वार से उदररूपी कुण्ड में समर्पण ही यज्ञ है। इस यज्ञ के द्वारा वैश्वानर भगवान् की उपासना होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आप जो कुछ खाते हैं वह वैश्वानर भगवान् की पूजा है। यदि आपकी यह दृष्टि बन जाए कि आपका आहार वैश्वानर भगवान् की पूजा है तो आप कभी भी अभक्ष्य पदार्थ को, दूषित पदार्थ को अपने उदर में नहीं डाल सकते और न ही आप पशु के समान चलते-फिरते, खड़े होकर, अपवित्र तथा अव्यवस्थित रूप में कोई आहार ही ग्रहण करेंगे। वेद का कथन है—आहार-शुद्धि से ही चित्त की शुद्धि होती है, विशुद्ध चित्त में ही निश्चल स्मृति का उदय होता है और निश्चल स्मृति के द्वारा ही जीव जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

यह याद रखो, आदान-प्रदान की क्रिया ही यज्ञ है; श्वास-प्रश्वास के रूप में यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। अनन्त आकाश में परिपूर्ण परमात्मा की दिव्य जीवनी शक्ति को ऑक्सीजन के रूप में हम श्वास द्वारा ग्रहण कर रहे हैं और अपने अन्दर से कार्बन-डाई-ऑक्साइड को बाहर निकाल रहे हैं। इस विश्व में बहुत-से ऐसे

जीव हैं जिन्हें जीवित रहने के लिए कार्बन-डाई-ऑक्साइड ही उत्तम आहार है। यह आदान-प्रदान की क्रिया जन्म से ही हमारे साथ लगी हुई है। यही तो सृष्टि के साथ परमात्मा के द्वारा उत्पन्न किया हुआ यज्ञ है। यह सम्पूर्ण सृष्टि आदान-प्रदान-रूप यज्ञ पर ही अवलम्बित है। वैदिक साहित्य में इसका बहुत ही विस्तार के साथ विवेचन प्राप्त होता है। एक बात यहाँ पर सदैव स्मरण रखनी है कि मनुष्य से इतर अन्य प्राणियों से प्राकृतिक विधान द्वारा यज्ञ होता है, किन्तु मनुष्य यज्ञ का कर्ता है। यदि उसकी भावना दूषित है, स्वार्थमय है तो उसके द्वारा होने वाली क्रिया यज्ञमय नहीं, अयज्ञमय ही होगी, क्योंकि यज्ञ वही है जिससे स्वयं के सहित यह सारा विश्व पवित्र हो। जिससे अपवित्रता तथा अप्रियता का प्रसार होता है वह यज्ञ नही है, वह कर्म नहीं है। इस प्रकार के कर्म का आदेश वेद-विहित नहीं, इसलिए उसे विकर्म की संज्ञा दी गई है। वेद कहता है—अयाज्ञिक के लिए न तो यहीं सुख है और न मरने के बाद ही। यही बात गीता में भगवान् भी कहते हैं—"**न तत्प्रेत्य नो इह**" यज्ञहीन पुरुष को न तो मरने के पश्चात् सुख मिलता है न जीते-जी ही। यदि हमें अपनी आन्तरिक चाह को पूर्ण करना है, शाश्वत सुख को प्राप्त करना है तो वेद के आदेशानुसार हमें यज्ञमय कर्म का अनुष्ठान करना ही होगा, यही वेद का आदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।

यहाँ एक बात और याद रखनी है, जिस क्रिया से समाज का अहित होता हो उससे कर्ता का कभी हित नहीं हो सकता, या इसे यूँ समझ लीजिए कि व्यक्ति की जिस क्रिया से समाज की हानि होती हो उससे व्यक्ति को कभी लाभ नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग स्वार्थ में अन्धे होकर समाज के हित-अहित का विचार किए बिना केवल अपने सुख की कामना से प्रेरित होकर अनर्थकारी कर्मों का आश्रय लेते हैं, वे कभी भी शान्ति और सुख का भाजन नहीं बन पाते। मनुष्य का समस्त कर्म-व्यापार समाज से सम्बन्धित होता है। यदि वह स्वार्थरत हो समाज का अहित करता है तो उससे पहले ही अपने अहित को निमन्त्रित कर लेता है। जैसे बिना चोर बने कोई चोरी नहीं कर सकता, बिना झूठा बने कोई झूठ नहीं बोल सकता, बिना बेईमान बने कोई बेईमानी नहीं कर सकता, ठीक इसी प्रकार बिना अपना अहित किए समाज का अहित नहीं कर सकता। किन्तु स्वार्थ में मदान्ध हो व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वह अपने हाथों अपना सर्वनाश कर रहा है।

शास्त्र का आदेश है "**देवभूत्वा देवं यजेत्**" देवता बनकर देवता की उपासना करें। यही बात भगवान् ने गीता में भी बताई है—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।। (गीता १७।४)

देवता सतोगुणमय हैं इसलिए सतोगुण का आश्रय लेकर ही देवता की उपासना होती है, इसी प्रकार से यक्ष-राक्षस रजोगुण और भूतप्रेतादि तमोगुणमय हैं। उनके गुणानुसार चित्त की अवस्था होने पर ही उनकी उपासना में व्यक्ति प्रवृत्त होता है, यही शास्त्र का सिद्धान्त है। व्यक्ति के उत्थान और पतन के जितने साधन हैं, वे सब उसके कर्म से ही सम्बन्धित हैं। कर्म का मूलाधार संकल्प है और संकल्प का मूलाधार विचार; इसलिए श्रुति कहती है—मनुष्य जैसा सोचता है वैसा संकल्प करता है और जैसा संकल्प करता है वैसा ही कर्म करता है। इससे यह निश्चय होता है कि विचार ही मूलतः कर्म का आधार है। विचार-शुद्धि से ही कर्म-शुद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। अब तक जो कुछ भी आप बने हैं अपने विचार से ही बने हैं और आगे भी जो कुछ बनना चाहेंगे विचार से ही बन पाएँगे। इसलिए विचार-शुद्धि पर ही उपनिषदों में बार-बार ज़ोर दिया गया है। शास्त्र का कथन है, जो कुछ तुम करना चाहते हो, पहले स्वयं को उसके अनुसार बना लो, यानी स्वयं में उसके लिए क्षमता उत्पन्न कर लो।

अब तक के विवेचन से आप लोग समझ गए होंगे कि वह क्रिया, जिससे आपका तथा समाज का उत्थान होता है, वह कर्म है और बिल्कुल इसके विपरीत, जिससे आपका तथा आपके साथ समाज का भी पतन होता है वह विकर्म है। कर्म-विकर्म के पश्चात् भगवान् ने अकर्म शब्द का भी प्रयोग किया है। गम्भीरता से मनन करने पर अकर्म का प्रयोग दो अर्थों में किया गया प्रतीत होता है—एक तो निरर्थक कर्म के लिए और दूसरा कर्म का अभाव वा कर्म-त्याग के लिए। विवेकशील व्यक्ति को इस विषय में भी सावधानी से समझ लेना चाहिए। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखने वाले को ही भगवान् ने मनुष्यों में बुद्धिमान् योगी तथा सर्वविध कर्मों का कर्ता बताया है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।। (गीता ४। १८)

भगवान् कहते हैं "कर्म में ज़ो अकर्म को देखता है, अभिप्राय यह कि कर्म प्रकृति के द्वारा ही हो रहे हैं, तत्त्वतः पुरुष स्वयं अकर्ता है—ऐसी अनुभूति ही कर्म में अकर्म को देखना है। कर्तापन का अभाव ही कर्म में अकर्म की स्थिति है; और अकर्म में जो कर्म देखता है, इसको कहने का अभिप्राय यह कि अज्ञानी व्यक्ति द्वारा कर्तव्य कर्मों का त्याग अर्थात् कर्म न करने का निश्चय वा 'मैं अब कर्म नहीं करूँगा' इस प्रकार की धारणा में अकर्म में भी कर्म की स्थिति है। अभिप्राय यह कि ऐसा जो देखता वा जानता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् समत्व बुद्धिरूप योग से युक्त और सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता है।"

भगवदर्पण बुद्धि से किया जाने वाला कर्म, कर्म होते हुए भी अकर्म है और अहंकारवश कर्म-त्याग अकर्म होते हुए भी कर्म है—इस प्रकार का बोध ही कर्म में

अकर्म और अकर्म में कर्म का दर्शन है। यह दर्शन-दृष्टि सिद्धावस्था में ही उपलब्ध होती है। गीता के पाँचवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं कहा है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । (गीता ५।८)

तत्त्ववित् योगी ही ऐसा मानता है कि मैं कुछ नहीं करता। यह सम्पूर्ण कर्तृत्व मुझमें नहीं, प्रकृति में है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। (गीता १३।२९)

यह सारा कर्तृत्व प्रकृति में है, आत्मा में नहीं; आत्मा सदैव अकर्ता है—इस प्रकार की दृष्टि रखने वाला यथार्थ तत्त्ववेत्ता है, वह समस्त कर्म-बन्धनों से विमुक्त हो सदैव आत्मानन्द का ही उपभोग करता है। आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मतुष्टि उसका सहज स्वभाव हो जाता है। शास्त्र कहता है—ऐसा तत्त्ववेत्ता योगी सदैव धर्ममेघ समाधि में स्थित रहता है। अभिप्राय यह कि जैसे मेघ जल की वृष्टि करता है ठीक उसी प्रकार से इस अवस्था में पहुँचे हुए योगी के द्वारा धर्म की वृष्टि होती है अर्थात् उसके जीवन से स्वभावतः सदैव धर्ममय कृत्य ही हुआ करते हैं। दूसरे शब्दों में वह सदैव लोकहित में ही निरत रहता है।

यह तो आप सभी जानते हैं कि मनुष्य की वासनाएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ ही उसे विकर्म तथा अकर्म की तरफ प्रेरित करती रहती हैं। जो निर्वासनिक है, जो अकाम है, उसके जीवन में लोकहित के सिवाय अन्य प्रकार के कर्मों की सम्भावना ही कहाँ? ऐसे तत्त्ववेत्ता योगी के लिए भगवान् ने कहा—

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः । (गीता ५।२५)

कर्मानुष्ठान के द्वारा ही क्रमशः विकास करते हुए आप इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को जानकर, इसकी पहेली को समझकर आप अपने-आपको कर्मानुष्ठान में लगावें, धीरे-धीरे विकास करते हुए एक दिन उस अवस्था को अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे जहाँ पहुँचकर कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का दर्शन कर सकेंगे। उस अवस्था तक पहुँचने के लिए शास्त्र-विहित कर्म ही एकमात्र साधन है। इसलिए वेद का आदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। (ईशा० २)

'एवं त्वयि' का अभिप्राय है कि "तुम साधक के लिए इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।" यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि यह सन्देश सिद्ध के लिए नहीं, साधक के लिए है।

दुनिया में जितने प्राणी हैं उन सभी के चित्तों को पाँच अवस्थाओं में विभाजित किया गया है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मूढ़ चित्त वह है जो तमोगुण

से आच्छादित है, जिसमें बोधात्मक प्रकाश की सम्भावना ही नहीं है। क्षिप्त चित्त वह है जो इन्द्रियों की पूर्ति में ही निरत रहता है, अपने सीमित अहं और उससे उत्पन्न विविध प्रकार के सम्बन्धों में ही जकड़ा रहता है। इस प्रकार से मूढ़ और क्षिप्त इन दोनों के लिए शास्त्र का आदेश और उपदेश कुछ भी अर्थ नहीं रखते। जो शरीरासक्त हैं वे मूढ़ हैं और जो इन्द्रियासक्त हैं वे क्षिप्त। मूढ़ चित्त वालों के लिए शास्त्र नहीं है क्योंकि वे समस्त अर्थों में विपरीत बुद्धि ही रखते हैं। भगवान् कहते हैं—

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी । (गीता १८।३२)

नीतिशास्त्र में ऐसे व्यक्तियों के लिए कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुविभारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण, धर्म आदि दिव्य भाव नहीं हैं वे लोग इस पृथ्वी पर भार हैं और मनुष्य की आकृति में पशुवत् विचरण करते हैं। ऐसे लोगों के लिए शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं।

इनसे थोड़ी-सी विकसित अवस्था है क्षिप्त चित्त वालों की, जो इन्द्रियों तथा उनसे सम्बन्धित संसार में ही सदैव निरत रहते हैं। ऐसे लोग तम-मिश्रित राजसिक बुद्धि वाले होते हैं। इस प्रकार के लोगों के लिए एक दिन मैंने बताया था कि वे लोग ऐसा समझते हैं कि दुनिया में केवल डेढ़ अक्ल है—एक मेरे पास और आधी सबमें बँटी हुई है। क्षिप्त चित्त वाले अपने अहं और उससे सम्बन्धित संसार की पूर्ति में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। ऐसे लोगों के लिए दुनिया के विषयों की प्राप्ति के सिवा और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं होता। गीता के १६वें अध्याय में भगवान् ने ऐसे लोगों के लिए ही असुर शब्द का प्रयोग किया है और बताया है कि—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ (गीता १६।११)

मृत्युपर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं से युक्त, विषय-भोगों में आसक्त, इतना मात्र ही आनन्द है ऐसा मानने वाले होते हैं। इस प्रकार के संसारासक्त लोगों को न तो कोई समझा सकता है और न ही इससे अधिक इन्हें कुछ समझने की चाह ही होती है, क्योंकि उनके चित्त अनेक प्रकार के भ्रमों में ही उलझे रहते हैं—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ (गीता १६।१६)

भ्रमित चित्त वाले मोहरूपी जाल में फँसे हुए विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए लोग घोर अपवित्र नरक में ही गिरते हैं। क्षिप्त चित्त वालों की यही नियति है। इनकी

शास्त्र में न कोई आस्था ही होती है और न इनके लिए उसका कोई प्रयोजन ही।

चित्त की तीसरी अवस्था वाले विक्षिप्त कहे जाते हैं। विक्षिप्त चित्त वह है जो संसार से ऊब चुका है, जिसे संसार में कहीं कोई सुख दिखाई नहीं देता और संसार से परे स्वर्गादि के सुख से भी तृप्ति की सम्भावना प्रतीत नहीं होती। वे लोग इस जीवन से परे भी कुछ है, ऐसा स्वीकार करते हुए उस 'है' की जानकारी के लिए व्यग्र रहते हैं। संसार से विरत और उससे परे जो कुछ है उसको जानने के लिए व्यग्र जीवन के कारण उसके स्वरूप तथा प्रयोजन को समझने के लिए आतुर, इस प्रकार के लोग ही विक्षिप्त चित्त कहे जाते हैं। इन्हीं के लिए शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र एवं सद्गुरु के आश्रय से ही ऐसे लोग सही दिशा में अग्रसर हो प्रयत्नशील होते हैं। यथार्थ में इस प्रकार के लोगों के लिए ही मानव शब्द सार्थक होता है।

चित्त की चौथी अवस्था एकाग्र की है। एकाग्र चित्त वह है जो कि सद्गुरु और शास्त्र के बताए हुए रास्ते पर चल पड़ा है और लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। एकाग्र चित्त वालों के लिए शास्त्र की विशेष उपयोगिता है। जैसे राही के लिए सड़क पर लगा हुआ माइल-स्टोन (मील का पत्थर) उसे यह सूचित करता है कि वह सही रास्ते पर जा रहा है, उसका इतना रास्ता तय हो गया है और इतना शेष है, ठीक उसी प्रकार से परमार्थ-पथ के पथिक साधक के लिए शास्त्र सदैव उसकी स्थिति तथा प्रगति का अवबोधन कराता रहता है, क्योंकि शास्त्र पूर्णत्व को प्राप्त हुए परमर्षियों की अनुभूति का कोष है। वह साधक के लिए सुपथ पर चलने की दिशा और प्रेरणा दोनों ही प्रदान करता है।

पाँचवीं अवस्था वाले चित्त को निरुद्ध चित्त कहते हैं। वह पूर्ण प्रज्ञ का चित्त है। उस अवस्था में पहुँचे हुए योगी के लिए शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। ऐसे लोगों के लिए भगवान् ने बताया है—

यावानार्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। (गीता २।४६)

"सर्वत्र जल की बहुलता होने पर जिस प्रकार से जलाशय का प्रयोजन होता है, ठीक उसी प्रकार से सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने पर ब्राह्मण के लिए वेद की स्थिति होती है।" अभिप्राय यह कि सर्वत्र जल के सुलभ हो जाने पर जैसे जलाशय प्रयोजन-शून्य निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार से ब्रह्मानुभूति होने पर तत्त्वज्ञ के लिए भी वेद का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। जब तक सर्वत्र जल सुलभ नहीं, तभी तक कूप की महत्ता एवं उपयोगिता है; उसी प्रकार से जब तक ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तब तक ही शास्त्र की उपयोगिता रहती है। तत्त्वबोध हो जाने पर उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। आचार्य शंकर कहते हैं—

विज्ञातेऽपिपरे तत्त्वे शास्त्रधीतिस्तु निष्फला।

"परमतत्त्व के बोध हो जाने पर शास्त्रीय बुद्धि की उपयोगिता नहीं रह जाती।"

अब इस विवेचन से आप लोग यह समझ गए होंगे कि वेद का आदेश किस प्रकार के लोगों के लिए है। जो अपने तथा अपने समाज के उत्थान के लिए आतुर हैं, जो इस दुनिया के परे जो कुछ है उसे जानने, समझने के जिज्ञासु हैं, जो जीवन के स्वरूप और प्रयोजन को समझ कर उसकी पूर्ति के लिए लालायित हैं, उन शुभेच्छु जिज्ञासुओं के लिए ही वेद का यह आदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।

कर्म करते हुए ही तुम १०० वर्ष तक जीने की आकांक्षा करो। "**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति**" तुम्हारे लिए इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

'तुम्हारे कल्याण के लिए और कोई अन्य रास्ता नहीं है' इससे यह ध्वनित होता है कि कभी-कभी साधक भ्रमवश इसके विपरीत मार्ग का भी आश्रय ले लेता है। जिस प्रकार से अर्जुन धर्म के व्यामोह में पड़कर कर्म-त्याग रूप संन्यास में ही अपने जीवन की सार्थकता समझने लगा था और भगवान् से स्पष्ट रूप में कह दिया था कि—

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके । (गीता २।५)

"इस जीवन में भिक्षामय जीवन निर्वाह करना ही मैं श्रेयस्कर समझता हूँ।" भगवान् के द्वारा उसकी इस मान्यता का समर्थन न होने पर वह अपने कल्याण के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो वह मुझे समझाइए—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे । (गीता २।७)

भगवान् उसके लिए वेद के आदेशानुसार कर्मयोग की सीख देते हैं, किन्तु फिर भी उसे समझ में नहीं आता और स्पष्ट शब्दों में प्रभु से पूछता है—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (गीता ५।१)

"हे कृष्ण! आप कर्मसंन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं, इससे मेरा चित्त भ्रमित-सा हो जाता है, अतः इन दोनों में एक जो सुनिश्चत किया हुआ मेरे कल्याण का साधन हो, वही मेरे लिए कहिए।" अर्जुन की इस जिज्ञासा पर भगवान् ने उसे समझाते हुए कहा—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गीता ५।२)

"कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग दोनों ही मनुष्य के लिए कल्याणकारक हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही विशेष श्रेयस्कर है।"

कर्मयोग क्यों श्रेष्ठ है? इस सम्बन्ध में प्रभु कहते हैं—कर्म मानव का स्वभाव है, जीव का जीवत्व है। कर्म बिना मानव रह नहीं सकता, इसलिए सर्वथा कर्म का

त्याग नहीं हो सकता। कर्मसंन्यास की अवस्था साधक की नहीं, सिद्ध की अवस्था है। इस अवस्था में स्वयं को प्रकृति से परे केवल द्रष्टामात्र अनुभव करते हुए शरीर, इन्द्रियादि के द्वारा होने वाले समस्त कर्मों को प्रकृति में ही देखता है। कर्मसंन्यास की अवस्था सिद्ध की अवस्था है। मानव सिद्ध नहीं, साधक है। उससे एकाएक कर्तृत्व का अभिमान जा नहीं सकता। यदि वह कर्म का त्याग करता है तो त्याग भी एक कर्म हो जाता है। सोना भी कर्म है, जागना भी कर्म है, श्वास लेना भी कर्म है, श्वास त्यागना भी कर्म है, क्योंकि इन समस्त क्रियाओं के साथ मानव का अहं जुड़ा हुआ होता है। इसलिए प्रभु कहते हैं कि कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग की साधना ही श्रेष्ठ एवं सुगम है। उसी का अनुष्ठान करना चाहिए। भगवदर्पण-बुद्धि से किया हुआ कर्म चित्तशुद्धि का साधक होता है। शुद्ध चित्त में ही विवेकख्याति और तत्त्वबोध की प्राप्ति होती है, इसलिए वेद का आदेश है–**''एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति''** इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह बात याद रखनी है कि जहाँ हम रहते हैं वह मर्त्यलोक है। मर्त्यलोक ही कर्मलोक कहा जाता है। देवलोक कर्मलोक नहीं है, वह भोगलोक ही कहा जाता है। मर्त्यलोक में किए हुए शुभ कर्मों का परिणाम भोगने के लिए स्वर्गलोक तथा अशुभ कर्मों के परिणाम को भोगने के लिए नरक की व्यवस्था है। इसलिए कर्मलोक वा कुरुक्षेत्र होने के नाते मानव के लिए कर्मयोग ही एकमात्र श्रेष्ठतम साधन है। यहाँ पर एक बात और याद रखनी है कि सांख्यशास्त्र में **''चतुर्दशविधाभूतसर्गाः।''** अर्थात् १४ प्रकार की प्राणी-सृष्टि का विवेचन किया गया है जिनमें जड़ योनि, सरिसृप योनि, कृमि योनि, पक्षी योनि और पशु योनि—ये पाँच योनियाँ मनुष्य से नीचे की हैं; छठा मनुष्य है और आठ योनियाँ मनुष्य से ऊपर की हैं। मनुष्य से नीचे की योनियों को नरक तथा मनुष्य से ऊपर की योनियों को स्वर्ग कहा जाता है। सांख्यशास्त्र में इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है और उपनिषदों मे भी इसकी वृहद् व्याख्या मिलती है। मनुष्य विकर्म के द्वारा निम्न योनियों को प्राप्त करता है और शुभ कर्मानुष्ठान से ही स्वर्गादि को प्राप्त करता है। यथार्थतः मनुष्य का प्राप्तव्य नरक और स्वर्ग नहीं है, मोक्ष है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए भी कर्मयोग से श्रेष्ठ और सुगम मनुष्य के लिए कोई दूसरा साधन नहीं है। इसलिए वेद कहता है **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः''** कर्म करते हुए भी १०० वर्ष तक जीने की इच्छा कर **''एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति''** तुम्हारे लिए इससे अन्यथा और कोई उपाय नहीं है। अन्तिम वाक्य है **''न कर्म लिप्यते नरे''** **''त्वयि नरे कर्म न लिप्यते''** तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होंगे। अब इसकी व्याख्या कल की जाएगी। □□

८

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

प्रभु का मंगलमय विधान सदैव आपके कल्याण का सृजन करे, यही मेरी शुभ कामना है। कल के सत्संग में ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र पर विचार करते हुए आप लोगों को समझाया गया था कि कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस मानव-शरीर में जीवन-विकास के लिए वा आत्मोद्धार के लिए इससे अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यदि यह आशंका हो कि 'कर्म करने से बन्धन में पड़ेगा' तो वेद का आश्वासन है—**"त्वयि नरे कर्म न लिप्यते"** तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होंगे। अभिप्राय यह कि कर्म स्वयं में जड़ है, वह चेतन मनुष्य में लिप्त नहीं हो सकता। कर्म स्वयं में प्रकृति का कार्य है, कार्य सदैव अपने कारण के साथ ही सम्बन्धित होता है; वह अपने कारण से कभी भी किसी भी अवस्था में विलग नहीं होता और न ही वह कारण के अतिरिक्त किसी का आश्रय ही ले सकता है। चेतन होने से द्रष्टा आत्मा कर्म से सर्वथा अतीत है, पृथक् है। वह कर्म और उसके कारण दोनों का ही द्रष्टा है, इसलिए यह निश्चित है कि कर्म कभी उसमें लिप्त नहीं हो सकता। इसी रहस्य को उद्घटित करते हुए वेद कहता है—**"न कर्म लिप्यते नरे"**। यदि कर्म-विज्ञान के यथार्थ स्वरूप को समझकर विवेक के प्रकाश में अनासक्त हो मनुष्य कर्म करता रहे तो इस स्थिति में कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होगा। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि फिर कर्म मनुष्य के लिए बन्धन कारक क्यों होता है? इसके उत्तर में वेद वाक्य की यह ध्वनि अर्थ विशेष को प्रकट करती हुई संकेत कर रही है कि कर्म तो मनुष्य में लिप्त नहीं होता; किन्तु मनुष्य ही अज्ञानतावश कर्म में लिप्त हो जाता है क्योंकि अहंकारजन्य विमूढ़तावश मनुष्य स्वयं को ही कर्ता मान लेता है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते । (गीता ३।२७)

प्रकृतिजन्य गुणों के प्रवाह में ही कर्म स्वभावतः हो रहे हैं, किन्तु अज्ञानतावश स्वयं को कर्ता मानकर प्रकृतिजन्य कर्मों के साथ स्वयं को जोड़कर मनुष्य उसमें आसक्त हो जाता है, लिप्त हो जाता है। कर्म में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह तुम्हें पकड़ सके, तुम्हें बाँध सके, तुम में लिप्त हो सके। आसक्तिवश तुम स्वयं ही कर्म को पकड़ते, उससे बँधते हो और उसमें लिप्त हो जाते हो। जिस प्रकार मकान मनुष्य को नहीं

पकड़ता, धन मनुष्य को नहीं पकड़ता, सम्बन्धी मनुष्य को नहीं पकड़ते, मनुष्य स्वयं ही इन सबको पकड़े हुए रहता है, ठीक उसी प्रकार से कर्म भी मनुष्य को नहीं पकड़ता, मनुष्य ही उसे पकड़े हुए होता है।

शास्त्र में चित्त जड़ ग्रन्थि की विस्तृत व्याख्या की गई है; चेतन आत्मा का जड़ गुणों के साथ ग्रन्थि पड़ जाना, यह असम्भव बात है, क्योंकि ग्रन्थि सदैव सजातीय में ही पड़ती है, विजातीय में नहीं जैसे रस्सी और खम्भे मे ग्रन्थि नहीं पड़ सकती, रस्सी और रस्सी में ही गाँठ बाँधी जाती है। चेतन एक अद्वैत निरवयव है; वहाँ ग्रन्थि पड़ने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण स्वयं में जड़ हैं, ये स्वयं चेतन को बाँध नहीं सकते। हाँ, ये आपस में स्वयं ही एक-दूसरे को लपेटे हुए होते हैं, इसलिए इनको गुण कहा जाता है। गुण शब्द का एक अर्थ बटी हुए रस्सी भी होता है। जैसे धागे के समान तन्तु एक-दूसरे के साथ बटे हुए होने से एक रस्सी का रूप धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार से सत्-रज-तम ये तीनों गुण आपस में उलझ कर विशाल विश्व का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे तन्तुओं को रस्सी रूप में परिणत करने वाला चेतन व्यक्ति स्वयं उससे अलग होता है, ठीक उसी प्रकार से इन तीनों गुणों को विश्वरूप में परिणत करने वाला परमचैतन्य सच्चिदानन्द परमात्मा सदैव इनसे परे रहता है। वेदान्त की दृष्टि से जो सम्बन्ध इस विश्व के साथ विश्वेश्वर का है, ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध विश्व के अंशरूप इस शरीर के साथ विश्वेश्वर के अंशरूप जीव का है। अभिप्राय यह है कि जैसे विश्वेश्वर और विश्व में कभी गाँठ नहीं पड़ती, ठीक उसी प्रकार से इस शरीर और शरीरी में भी कभी गाँठ नहीं पड़ सकती, किन्तु अल्पज्ञता एवं भ्रान्तिवश यह जीव स्वयं को इस जड़ शरीर के साथ बँधा हुआ स्वीकार कर लेता है।

इस रहस्य को एक अकथ कहानी के रूप में समझाते हुए सन्तवर गोस्वामी तुलसीदास जी अपनी रामायण में उत्तरकाण्ड के गरुड़-भुशुण्डि-संवाद में इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

सुनहु तात यह अकथ कहानी । समुझत बनइ न जाइ बखानी ।।
ईश्वर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुख रासी ।।
सो माया बस भयउ गोसाईं । बँध्यो कीर मरकट की नाईं ।।
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ।।

भुशुण्डि जी कहते हैं—प्रिय खगेश! यह अकथ कहानी अत्यन्त अद्भुत है; समझते ही बनती है; किन्तु कही नहीं जाती। अविनाशी जीव ईश्वर का अंश है और चेतन है, अमल है, सहज सुख की राशि है, किन्तु वह भ्रमवश माया से विमोहित हो तोते और बन्दर के समान इस संसार से बँध गया है। अत्यन्त आश्चर्य की बात है, जड़-चेतन में ग्रन्थि पड़ गई है। इस असम्भव के सम्भव होने की कल्पना भी यद्यपि

मिथ्या है, फिर भी इस मिथ्या ग्रन्थि का छूटना अत्यन्त कठिन हो गया है। जड़-चेतन की ग्रन्थि किस प्रकार से पड़ी है? इसके उदाहरण में गोस्वामी जी ने तोते और बन्दर की गति का संकेत किया है। जिस प्रकार से तोता मुक्त होता हुआ भी भ्रमवश स्वयं को पकड़ा हुआ मानकर बन्धन में पड़ जाता है, जिस प्रकार बन्दर स्वतन्त्र होता हुआ भी स्वयं को पकड़ा गया मानकर परिणाम में यातना का पात्र बनता है, ठीक उसी प्रकार की दशा इस जीव की भी है।

तोते को पकड़ने वाला बहेलिया किसी बगीचे के पास पहले दो बाँस गाड़ देता है और एक पोले बाँस के बीच से रस्सी निकाल कर उन दोनों बाँसों में रस्सी बाँध देता है और पोले बाँस के नीचे चारा डाल देता है; स्वयं दूर जाकर बैठ जाता है। चारा चुगने के लिए तोते उड़ते हुए आते हैं और उस पोले बाँस के ऊपर बैठ जाते हैं। जब वे चारा चुगने के लिए नीचे झुकते हैं तो वह पोला बाँस घूम जाता है। उसके घूमने से भयवश उस बाँस को पंजों में पकड़े हुए तोते नीचे लटक जाते हैं। उस समय यदि तोते पोंगी छोड़ कर उड़ जाएँ तो उड़ सकते हैं, क्योंकि वहाँ उनको कोई पकड़ने वाला नहीं होता। वे स्वयं ही उस बाँस की पोंगी को पकड़े हुए होते हैं, किन्तु वे भ्रमवश भयभीत हो स्वयं को पकड़ा हुआ जान उससे लटके ही रहते हैं, छोड़कर उड़ नहीं पाते। यही गति जीव की है। सतोगुण तथा तमोगुण, ये दोनों बाँस के खम्भे के समान हैं और रजोगुण उस बाँस की पोंगी के समान है। यह जीवरूपी तोता रजोगुण का आश्रय लेकर संसार के विषयरूपी चारे को चुगना चाहता है और भ्रमवश स्वयं ही उस रजोगुण-रूपी पोगी को पकड़कर। लटका रह जाता है। उसे किसी ने बन्धन में डाला नहीं है; वह स्वयं ही उसे पकड़े हुए है। जैसे पोंगी से लटके हुए तोतों को पकड़कर बहेलिया पिंजड़े में बन्द कर देता है उसी प्रकार से इस जीवरूपी तोते को वासनावश रजोगुण के साथ आसक्त हो जाने पर कालरूपी बहेलिया पकड़कर भिन्न-भिन्न योनिरूपी पिंजड़ों में डाल देता है। कीर (तोते)के उदाहरण से गोस्वामीजी ने जीव की इसी दुर्गति की ओर संकेत किया है। गुणों ने जीव को नहीं बाँधा; जीव स्वयं अपने को उनसे बँधा हुआ मानकर दुःखी होता है।

दूसरा उदाहरण मरकट (बन्दर) का है। बन्दर को पकड़ने वाले एक बहुत सँकरे (तंग) मुँह वाले घड़े को लेकर उसमें खाने के पदार्थ को डाल कर जहाँ अधिक बन्दर होते हैं वहाँ रख आते हैं। बन्दर स्वभाववश आकर उस घड़े में हाथ डाल देता है और उसमें पड़ी हुई वस्तु को मुट्ठी में पकड़कर बाहर निकालना चाहता है। घड़े का तंग मुँह होने के नाते उसकी मुट्ठी बाहर निकल नहीं पाती और वह उसी में फँस जाता है। बन्दर यदि चाहे तो घड़े की वस्तु को उसी में छोड़कर अपना हाथ निकाल सकता है और उससे मुक्त हो सकता है, किन्तु वह अज्ञानता एवं लालचवश ऐसा नहीं कर पाता। बाद में उसे दुर्गति में पहुँचाने वाला मदारी आता है और पकड़ कर

बन्धन में डाल अनेक प्रकार के नाच नचाता है। बन्दर जैसी गति ही इस जीव की भी है। यह संसार एक सँकरे मुख का घड़ा है, विविध प्रकार के विषय-भोग ही इसमें पड़े हुए पदार्थ हैं। मरकट के समान यह जीव संसार के भोगों को भोगने के लिए उन्हें लेकर अपने अधीन करना चाहता है, किन्तु इन भोग-पदार्थों को संसार से बाहर निकालकर अपने अधीन नहीं कर पाता और इसी में फँस जाता है। जैसे घड़े में पड़े हुए पदार्थ बन्दर को नहीं पकड़ते बल्कि बन्दर ही उस पदार्थ को पकड़कर चिल्लाता, छटपटाता हुआ उसमें उलझ जाता है, ठीक उसी प्रकार से ये संसार के भोग-पदार्थ जीव को नहीं पकड़ते; जीव स्वयं इन्हें पकड़कर इनमें उलझा हुआ दुःखी हो रहा है। बन्दर की मुट्ठी वाली कहावत बहुत प्रसिद्ध कहावत है। प्रलोभनवश बन्दर मुट्ठी खोल नहीं पाता और उसी में फँसकर सदा के लिए मदारी के अधीन हो जाता है; उसी प्रकार से यह जीव किसी के द्वारा पकड़ा हुआ नहीं है, संसार के विषय-भोगों को उसने स्वयं ही पकड़ रखा है। यदि वह चाहे तो इन्हें त्याग कर मुक्त हो सकता है, किन्तु प्रलोभन एवं आसक्तिवश छोड़ना नहीं चाहता और परिणाम में कालरूपी मदारी के अधीन हो अनेक योनियों में भटकता हुआ विविध प्रकार के नाच नाचता रहता है।

इस प्रकार तोते और मरकट के उदाहरण से जीव की दुर्गति का वर्णन किया है और समझाया है कि बन्धन का कारण स्वयं उसकी अज्ञानता है, उसे बाँधने वाला कोई दूसरा नहीं है। इस प्रकार के बन्धन से विमुक्त होने के लिए केवल एक ही साधन है और वह है ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानता का नाश। ज्ञान का प्रकाश विशुद्ध बुद्धि में ही हुआ करता है और बुद्धि की विशुद्धता कर्मयोग की साधना पर ही अवलम्बित है। जैसाकि पहले बताया गया है कि यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म मनीषियों की बुद्धि को भी पवित्र करते हैं। यज्ञ के विषय मे बहुत कुछ समझाया गया है, दान और तप की भी शास्त्रों में बड़ी महिमा है। गोस्वामी जी ने तो यहाँ तक अपनी रामायण में लिखा है—

येन केन विधि दीन्हें दान करइ कल्याण ।

और तप की महिमा में उनका कथन है—

तप ते अगम न कछु संसारा ।

उपनिषदों में भी दान और तप की महिमा का विस्तृत विवेचन मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिष्य को उपदेश करता हुआ आचार्य कहता है—

श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम् ।

(तैत्तिरीय० १/११/३)

और उसी उपनिषद् में कहा है—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति ।

तप से तत्त्वतः ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है। यज्ञ, दान, तपमय कर्म

ही मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं। ये कर्म मनुष्य की विमुक्ति में साधन बनते हैं, बाँधते नहीं। इसीलिए वेद का कथन है—**''त्वयि नरे कर्म न लिप्यते।''** इससे आप लोग समझ गए होंगे कि मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होते; मनुष्य स्वयं कर्मों में लिप्त हो जाता है। यहाँ पर 'नरे' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है नेतृत्व करनेवाला। नर नेतृत्व करने वाला द्रष्टा है, कर्म का स्वामी है, वह कर्म का नेता है, इसलिए कर्म इसमें कभी लिप्त नहीं हो सकता अथवा कर्म इसे नहीं बाँधता; यह स्वयं कर्म में बँध जाता है। इससे छूटने का उपाय अज्ञानता की निवृत्ति ही है, और दूसरा कोई साधन नहीं।

कुछ लोग नासमझीवश बिना जीव-ईश्वर की एकता की अनुभूति किए, साधना द्वारा बिना इस रहस्य को समझे, केवल वाक्य-ज्ञान द्वारा ही इस मोहजन्य बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, जो कि सर्वथा असम्भव है। गोस्वामी जी ने विनय-पत्रिका में कहा है—

वाक्य ग्यान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई ।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्ति नहीं होई ।।

वाक्य-ज्ञान में अत्यन्त निपुण होने पर भी इस संसार से पार जाना सम्भव नहीं। जैसे रात्रि में घर के अन्दर बैठ कर दीपक की व्याख्या करने मात्र से वहाँ के अँधेरे को दूर नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार से **''अहं ब्रह्मास्मि वा सोऽहमस्मि''** की बातें करने मात्र से ब्रह्मानुभूति वा चित्त-जड़ ग्रन्थिरूपी भ्रम से विमुक्ति नहीं हो जाती।

तोते को भ्रमवश फँसा हुआ देख कर एक महात्मा को दया आ गई। उन्होंने सोचा तोते तो बड़े समझदार होते हैं; जो कुछ सिखाया जाए सीख लेते हैं। इनको यदि सिखाया जाए कि बाँस की पोंगी छोड़ो उड़ जाओ तो अवश्य इसे सीख लेंगे और बन्धन से बचकर विमुक्त हो जाएँगे। एक दिन तोतों को पिंजड़े में बन्द कर बहेलिए को ले जाते हुए देखा और उसको बुलाकर पूछा—इनको तुम कहाँ ले जा रहे हो? बहेलिए ने उत्तर दिया—स्वामी! इन्हें बाज़ार में बेचकर मैं अपनी जीविका कमाऊँगा। महात्मा ने कहा—पिंजड़े सहित इन तोतों को मेरी कुटिया पर पहुँचा दो, वहाँ से तुम्हें इच्छित द्रव्य मिल जाएगा। बहेलिया पिंजड़े सहित तोतों को महात्मा की कुटिया में पहुँचाकर मूल्य लेकर चला गया। सन्त ने उन तोतों को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। पहला सबक सिखाया—''पोंगी छोड़ो, उड़ जाओ।'' थोड़े ही दिनों में तोतों ने उसे रट लिया। अब जब भी महात्मा कहीं बाहर से आते तो उन्हें देखकर तोते अपने पाठ को दुहराने लगते—''पोंगी छोड़ो, उड़ जाओ''-''पोंगी छोड़ो, उड़ जाओ।'' महात्मा ने सोचा, यह पाठ तो इन्होंने याद कर लिया, किन्तु ये संख्या में बहुत कम हैं; अब ये तो बन्धन से बच जाएँगे किन्तु इनके जैसे अन्य तोते अज्ञानता

के शिकार होते रहेंगे। यदि इनको एक पाठ और पढ़ा दिया जाए कि ''जो कुछ सीखा है दूसरे तोतों को भी बताओ'' तो सम्भव है इनके द्वारा और भी तोते इनके ज्ञान से लाभान्वित हों। अब महात्माजी ने ''पोंगी छोड़ो, उड़ जाओ'' के साथ ही दूसरा सबक सिखाना प्रारम्भ कर दिया''यह तुम दूसरे तोतों को भी बताओ।'' थोड़े दिनों में ही दूसरा सबक भी तोतों ने रट लिया। महात्मा जी को सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी सुयोग्य शिष्य को देखकर गुरु को प्रसन्नता होती है। उन्होंने सोचा कि अब ये तोते अच्छी प्रकार से शिक्षित हो गए हैं, अब इनको पिंजड़े से छोड़ देना चाहिए जिससे अन्य तोतों में भी इस प्रकार का प्रचार कार्य कर सकें। ऐसा निश्चय कर तोतों को पिंजड़े से मुक्त कर दिया और तोते ''पोंगी छोड़ो उड़ जाओ और यह दूसरे तोतों को भी बताओ'' इस प्रकार से गान करते हुए कुटिया से उड़ गए। संयोगवश एक जगह बहेलिया उसी प्रकार से बाँस की पोंगी का शिकंजा लगाए बैठा हुआ था। सभी तोते बाँस पर जाकर बैठ गए और नीचे पड़े हुए चारे को चुगने के लिए ज्योंही झुके, वह बाँस की पोंगी घूम गई और वे सारे उलट गए। उलटे-उलटे पूर्वाभ्यासवश बोलने लगे—''पोंगी छोड़ो उड़ जाओ, यह अन्य तोतों को भी बताओ'', यह कहते हुए भी तोते पोंगी से लटके ही रह गए और बहेलिए ने पकड़कर सभी को पिंजड़े में डाल दिया। यही गति उन लोगों की भी होती है जो लोग बिना अनुभव के, बिना बोध के, बिना अनुसंधान के, **''अहं ब्रह्मास्मि वा सोऽहमस्मि''** आदि का नारा लगाते रहते हैं और अज्ञानतावश काल-कर्म-स्वभाव के अधीन हो भटकते रहते हैं। मैं आप लोगों को समझा रहा था कि केवल वाक्यज्ञान से बात नहीं बनने की; प्रमाद को छोड़ सावधानी के साथ, वेद के आदेशानुसार कर्मयोग की साधना में प्रवृत्त होना होगा और धीरे-धीरे उस दिशा में अग्रसर होना होगा जिसमें चलकर अपने जीवन की सार्थकता को सिद्ध किया जा सके। यदि तोतों की तरह संसाररूपी पोंगी को पकड़े भी रहें और साथ में 'अहं ब्रह्मास्मि' का नारा भी लगाते रहें तो इससे कोई बात बनने वाली नहीं है। साधक के लिए वेद की आज्ञानुसार कार्य-कर्म का ही सदैव अनुष्ठान करते रहना चाहिए और वेद के इस आदेश को हृदय में धारण कर लेना चाहिए—**''न कर्म लिप्यते नरे।''**

कर्म-विज्ञान के रहस्य को समझाने के लिए भगवान् ने गीता में चार सूत्र बताए हैं; वे चार सूत्र एक श्लोक के ही चार चरण हैं। इस युग के महान् विद्वान श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' में इस श्लोक को ही कर्म-विज्ञान का मूल मन्त्र बताया है। श्लोक है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। (गीता २।४७)

यह श्लोक अनुष्टुप छन्द में है। अनुष्टुप छन्द में चार चरण होते हैं, एक चरण आठ

अक्षरों का होता है। इस प्रकार से पूरे श्लोक मे ३२ अक्षर होते हैं। कर्म-विज्ञान के गूढ़ रहस्य को भगवान् ने इन ३२ अक्षरों में ही इतनी कुशलता से सन्निहित कर दिया है कि जो स्वयं में अनुपम एवं अद्वितीय है। जैसा कि मैंने पहले ही बताया है कि ईशोपनिषद् का दूसरा मन्त्र कर्म-विज्ञान का आदि-आधार है और गीता में उसकी विस्तृत विवेचना की गई है। गीता का यह श्लोक कर्मविज्ञान का सूत्र है। संक्षिप्त रूप में इस श्लोक में कर्म से सम्बन्धित सभी उपयोगी बातें साधक को बता दी गई हैं। इस श्लोक की संक्षेप में थोड़ी-सी व्याख्या भी आप लोग समझ लें, यह आप लोगों के लिए अत्यन्त उपयोगी होगा। इस श्लोक का पहला चरण है— **''कर्मण्येवाधिकारस्ते''** **''ते कर्मणि एव अधिकार:''** तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है; दूसरा चरण है **''मा फलेषु कदाचन''**, **''फलेषु कदाचन मा''** जिसका अभिप्राय है फल में कभी नहीं; तीसरा चरण है **''मा कर्मफलहेतुर्भूः''** **''कर्मफल हेतुः मा भूः''** कर्मफल का हेतु मत हो; चौथा चरण है **''मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि''** **''ते अकर्मणि सङ्गः माऽस्तु''** तेरी अकर्म में आसक्ति न होवे। इस श्लोक के ये चार चरण ही चार सूत्र हैं जो मनुष्य के लिए यथार्थ कर्म-विज्ञान का उपदेश करते हैं। तुम्हारा कर्म में अधिकार है, फल में कभी नहीं; कर्म का हेतु मत हो और अकर्म में भी तुम्हारी आसक्ति न हो। इन सूत्रों को आप लोग अच्छी प्रकार से समझ लें।

तुम्हारा अधिकार कर्म में है—इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि में अन्य जितने प्राणी हैं उनका अधिकार कर्म में नहीं है, क्योंकि उनके पास वे साधन नहीं हैं जिनके द्वारा वे कर्म का अनुष्ठान कर सकें। इसीलिए उन प्राणियों के लिए न तो किसी प्रकार के शास्त्र का उपदेश है, न तो कोई नियम है और न उसकी व्यवस्था ही। शेर किसी जानवर को मारकर खाता है तो उसे पापी करार नहीं दिया जा सकता। यदि कोई पशु किसी व्यक्ति को मार डाले तो उसके बदले में उसे फाँसी की सज़ा नहीं दी जा सकती। आप लोगों ने सुना होगा कि यदि पालतू कुत्ता किसी को काट ले तो उस कुत्ते को कोई सज़ा नहीं बल्कि उसके मालिक को उसका अपराधी माना जाता है। ऐसा क्यों है? इसलिए कि पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि योनियों में रहने वाले जीवों को स्वतन्त्र कर्म करने की पात्रता नहीं है। उनके द्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है वह प्रकृति-वशात् होती है। कर्म के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वे साधन उन्हें उपलब्ध नहीं हैं।

उपनिषद् कहती है पुरुष संकल्पमय है। जिस प्रकार का संकल्प करता है तदनुसार ही कर्म में प्रवृत्ति होती है। पहले हम कुछ विचार करते हैं फिर संकल्प करते हैं, फिर कर्म करते हैं। हमारे शरीर की रचना में भी प्रथम स्थान मस्तिष्क का है, फिर हृदय का और फिर हाथ का। पहले हम बुद्धि से विचार करते हैं, फिर अहं में कर्तृत्व भाव से युक्त हो 'मन' से संकल्प करते हैं और फिर इन्द्रियों का प्रयोग करके उस कार्य

को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार से योजनाबद्ध कर्म करने की सुविधा अन्य योनियों में जीवों को नहीं है। इसलिए उन जीवों की क्रियाएँ नेचुरल इन्सटिंक्ट वा स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा ही हुआ करती हैं। कर्म का अधिकार न होने के नाते ही वे जीव स्वभावतः होने वाली क्रियाओं के परिणाम में नहीं बँधते। ईश्वरीय विधानानुसार वे क्रमशः विकास की दिशा में ही बढ़ते रहते हैं और उसी विधान से विकसित होते हुए मनुष्य-शरीर को प्राप्त कर लेते हैं। अभिप्राय यह कि एक सैल के प्राणी अमीबा से विकास को प्राप्त होता हुआ यह जीव मनुष्यता तक की यात्रा प्रकृति के सहारे ही पूरी कर लेता है। प्रकृति माँ उन जीवों को अपनी गोद में उठाकर मनुष्यत्व तक पहुँचा देती है। मनुष्य-शरीर के साथ ही पाँच कर्म-इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्च विषय, पञ्च महाभूत इन सबसे युक्त कर मनुष्य को परमात्मा की प्रतिमूर्ति बना, उसे आगे परमात्मा तक पहुँचाने की सुविधा प्रदान कर स्वतन्त्र कर देती है। इसीलिए मनुष्य परमात्मा की प्रतिमूर्ति कहा जाता है। वेद कहता है—**''सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषः''** पुरुष परमात्मा की प्रतिमूर्ति है। जैसे परमात्मा प्रकृति के समस्त वैभव का स्वामी है, वैसे ही मनुष्य भी प्रकृति के समस्त गुणों से युक्त हो उसका स्वामी हो जाता है। इसीलिए मनुष्य की पुरुष संज्ञा होती है। यह संज्ञा मनुष्येतर अन्य योनियों में रहने वाले जीवों को प्राप्त नहीं है। इसीलिए व्यासदेव ने कहा है—**''न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्''** इस सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। चौरासी लाख योनियों को पार करता हुआ जीव ईश्वरीय विधानानुसार जब मनुष्य-शरीर को प्राप्त कर लेता है तो उसे स्वेच्छानुसार कर्म करने की सारी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं, इसलिए उसमें कर्म करने की पात्रता आ जाती है और फिर वह कर्मानुसार मनुष्यत्व से देवत्व और ईश्वरत्व को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। मनुष्य की इस विशिष्टता की ओर संकेत करते हुए ही भगवान् कह रहे हैं—**''कर्मण्येवाधिकारस्ते।''**

अधिकार शब्द के दो अर्थ होते हैं—'पात्रता एवं प्रभुत्व'। इस सूत्र में भगवान् का यह निर्देश है कि मनुष्य होने के नाते तुममें कर्म करने की पात्रता, योग्यता भी है और उस कर्म पर तुम्हारा प्रभुत्व भी है अर्थात् तुम उसके जिम्मेदार भी हो। हम बोल-चाल की भाषा में भी अधिकार शब्द का प्रयोग इन दोनों अर्थों में करते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी प्रकार का विशेष कार्य करता है या किसी विशिष्ट योग्यता से युक्त होता है तो उसके लिए हम कहते हैं कि यह व्यक्ति अमुक प्रकार के पुरस्कार वा अमुक प्रकार के पद का अधिकारी है, अभिप्राय यह कि उस व्यक्ति में पुरस्कार वा पद प्राप्त करने की योग्यता है; और जब हम किसी वस्तु वा व्यक्ति पर अपना प्रभुत्व समझते हैं तब कहते हैं, मेरा इस पर अधिकार है वा हम इसके अधिकारी हैं। भगवान् कहते हैं, कर्म के सभी साधन तुम्हें प्राप्त हैं, कर्म करने की पात्रता भी तुममें है और उस पर अधिकार भी तुम्हारा है। अब जैसा कर्म करोगे, उसके अनुसार ही

तुम्हें फल की प्राप्ति होगी। इस भाव को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी ने अपनी रामायण में कहा है—

नर तन भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।
जो न तरइ भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ।।

यह मनुष्य-शरीर संसार-सागर से पार जाने के लिए बेड़ा-रूप है। सद्गुरु ही इस बेड़े के कर्णधार हैं और भगवत्कृपा ही अनुकूल वायु है। यह दुर्लभ साज मनुष्य को भगवत्कृपा से ही सुलभ हुआ है। इस मनुष्य शरीररूपी दुर्लभ साधन को प्राप्त करके भी जो संसार-सागर से नहीं तरता, वह मन्दबुद्धि निन्दा का पात्र हो आत्महत्यारे की गति को ही प्राप्त होता है। जहाँ पर अन्य जीव प्रकृति के अधीन हैं, वहाँ मनुष्य स्वयं के उत्थान और पतन का जिम्मेदार है। देव-दुर्लभ साज को प्राप्त कर यदि वह अपनी जिम्मेदारी को पूर्ण रूप से नहीं निभाता तो वह आत्महत्यारा ही कहा जाएगा।

गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। (गीता ६।५)

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने प्राप्त साधनों द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसको पतन के गर्त में न ले जाए, क्योंकि मनुष्य का साधा हुआ अन्तःकरण ही उसका बन्धु है और असंयमित अन्तःकरण ही उसका शत्रु है। बन्धु शब्द का अर्थ होता है जो बन्धन को काटने में सहयोगी हो। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपने उत्थान-पतन का मनुष्य स्वयं ही जिम्मेदार है। प्रकृति माँ ने उसे समस्त साधनों से सुसज्जित कर स्वतन्त्र कर दिया है। यदि वह अपने इस प्राप्त अधिकार का, योग्यता का उचित रूप में प्रयोग नहीं करता तो वह उससे छीन लिया जाएगा, इसमें सन्देह नहीं। यही आशय भगवान् के इस उपदेश से ध्वनित होता है—**''कर्मण्येवाधिकारस्ते''**।

इसके आगे का चरण है—**''मा फलेषु कदाचन'' ''फलेषु कदाचन मा''** फल में कभी भी नहीं। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार से कर्म की योग्यता और कर्म पर तुम्हारा प्रभुत्व है, कर्म तुम्हारे अपने वश में है, ऐसी स्थिति फल में नहीं है। कर्म के पश्चात् फल के विषय में तुम स्वाधीन नहीं, पराधीन हो। फल तुम्हारे अधीन नहीं, वह दैवी विधान के अधीन है। इसको एक उदाहरण से आप लोग समझ लें—जैसे आपको भूख लगी है और उसकी शान्ति के लिए, तृप्ति के लिए आपको आहार लेना है। तो किस प्रकार का आहार लेना चाहिए, इसमें आप स्वतन्त्र हैं। आप अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए उदर में भक्ष्य पदार्थ भी डाल सकते हैं और अभक्ष्य पदार्थ भी डाल सकते हैं। आप अन्न-फल, दुग्धादि के द्वारा भी अपनी क्षुधा-निवृत्ति कर सकते

हैं और उसमें सड़ी हुई मांस-मछली और निकृष्ट तत्त्व अण्डे भी डाल सकते हैं। भोजन एक कर्म है, यह पहले भी आप लोगों को बताया जा चुका है। इस कर्म को करने में आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं, किन्तु इसके पाचन में आप स्वतन्त्र नहीं। पाचन के द्वारा जो इसके परिणाम में रसादि बनेगा वह सारा आपके अधिकार की सीमा से परे है। उसमें आप कोई उलट-फेर नहीं कर सकते। वस्तु को उदर में डालना आपके अधिकार में है और उसका हज़म होना, उसके रस-रक्तादि रूप में परिणत होना, यह आपके अधिकार में नहीं है। जैसे मादक पदार्थ को पान करने में तो आप स्वतन्त्र हैं किन्तु उसके परिणाम में मादकता व नशे पर आपका कोई अधिकार नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि आपके चाहने पर ही मादकता आवे और न चाहने पर न आवे; यह एक अटल सिद्धान्त है, जिसका उपदेश भगवान् कर रहे हैं।

शास्त्रों में बताया गया है कि किया हुआ कर्म छूटे हुए तीर के समान है। जैसे छूटे हुए तीर पर तीरन्दाज़ का कोई अधिकार नहीं होता, ठीक उस प्रकार से किए हुए कर्म पर कर्त्ता का कोई अधिकार नहीं रह जाता। वह कर्म ईश्वरीय विधानानुसार अपना उचित फल देता है। कुछ लोग इस चरण का यह अर्थ करते हैं कि मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं। आशय यह कि फल की कामना नहीं करनी चाहिए; किन्तु ऐसा अर्थ उचित नहीं है। यहाँ तो भगवान् ने मनुष्य को अपने कर्तव्य के प्रति सावधान किया है और कहा है कि कर्म करने के पश्चात् उसके फल की प्राप्ति पर पछताना न पड़े, इसलिए तुम्हें कर्म करने से पूर्व बड़ी सावधानी और सजगता से विचार कर उसमें प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि कर्म तुम्हारे अधिकार में है किन्तु उसका परिणाम तुम्हारे अधिकार में नहीं है। कर्म का विहित फल जो होगा वही मिलेगा। किसान किस खेत में कौन सा बीज बोए—इसमें वह स्वतन्त्र है, किन्तु बीज में अंकुर आना, बढ़ना, उसमें फूल और फल लगना, यह सब उसके बूते से बाहर की बात है। इसलिए कर्ता को कर्म करने से पूर्व ही कर्म के स्वरूप और उसके प्रयोजन को अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए और जो कर्म उसके उद्देश्य की पूर्ति में विहित हो, उपयोगी हो, उसी का अनुष्ठान करना चाहिए। कर्म करने के पश्चात् फिर उसके फल के परिवर्तन में वह समर्थ नहीं है। यही अभिप्राय है यहाँ पर भगवान् के इस कथन का—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

तीसरा सूत्र है "**मा कर्मफलहेतुर्भूः**" तू कर्म के फल का हेतु भी मत हो। अभिप्राय यह कि कर्म के फल का हेतु तू नहीं है, व्यर्थ में स्वयं को फल का कारण मत समझ। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि मनुष्य कर्म के फल का हेतु नहीं, कारण नहीं तो फिर हेतु कौन है? इस सम्बन्ध में गीता के पाँचवें अध्याय में प्रभु ने बताया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। (गीता ५।१४)

परमेश्वर संसार में प्राणियों के न कर्तापन को, न कर्मों को, न कर्मों के फल के संयोग को ही रचता है। यह सब कुछ प्राकृतिक विधान से स्वयमेव होता रहता है। अभिप्राय यह कि जीव के अधीन केवल कर्म है, कर्म का फल नहीं। इस पर यह कल्पना हो सकती है कि फल का दाता अवश्य ही ईश्वर होगा। इस सम्भावना का निराकरण करते हुए प्रभु स्वयं बता रहे हैं कि ईश्वर भी इस कर्मफल में कारण नहीं है। यह प्राकृतिक विधान से स्वयं ही होता रहता है। जैसे बीज में वृक्षरूप धारण करने की क्षमता निहित है और उसके लिए क्षेत्र, खाद, पानी यह सब कुछ प्राकृतिक विधान से ही उपलब्ध होते हैं और वह बीज वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार प्राकृतिक विधान से कर्म में उसके फल का बीज निहित होता है जो कि समयानुसार फल प्रदान करता है। यहाँ स्वभाव वा प्रकृति ही फल में हेतु है, कर्ता जीवात्मा नहीं। इसलिए प्रभु समझा रहे हैं–"**मा कर्मफल हेतुर्भूः**" अभिप्राय यह कि स्वयं को कर्म के फल का हेतु मत समझ, क्योंकि फल कर्म से सम्बन्धित है, कर्मानुसार फल स्वयं ही मिलता रहता है।

चौथा सूत्र है "**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**" "**ते अकर्मणि सङ्गः मा अस्तु**" तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न होवे। तुम्हें कर्म करने का अधिकार मिला है, योग्यता मिली है और सुविधा मिली है, इसलिए कर्म करना तुम्हारा धर्म है। कर्म किस प्रकार से किया जाए, कैसा किया जाए, इस सम्बन्ध में पहले तुम स्वयं के उद्देश्य को, लक्ष्य को समझो। तुम्हारे उद्देश्य की, लक्ष्य की प्राप्ति में जो कर्म निहित हो उसी का अनुष्ठान करो। कर्म कर लेने के पश्चात् यदि उसके परिणाम को, फल को तुम बदलना चाहो तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि फल के निर्माण की तुम्हारे में क्षमता वा सामर्थ्य नहीं है। इसलिए तुम स्वयं को कर्म के फल का हेतु वा कारण भी मत समझो।

अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि फल हमारे वश मे नहीं, फल के हम कारण नहीं तो फिर कर्म ही क्यों करें? कर्म का त्याग ही क्यों न कर दें? इसका समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं–तुम्हारी अकर्म में वा कर्महीनता में भी आसक्ति न हो। कर्म-त्याग में आसक्ति क्यों न हो? इसके उत्तर में भगवान् ने आगे समझाया है कि दुनिया में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो कर्म किए बिना एक क्षण भी जीवित रह सके। जब कर्म के बिना कोई रह ही नहीं सकता तो व्यर्थ में कर्म-त्याग का दंभ क्यों करे? प्रमादवश कार्य-कर्मों का त्याग करने से जो कर्म करने की पात्रता प्राप्त हुई है, अधिकार प्राप्त हुआ है, उसका उपयोग न करने का एक महान् अपराध लगेगा। प्रभु के दिए हुए साधन का समुचित उपयोग न करना मनुष्य के लिए एक महान्

अपराध है। कर्म-त्याग करना भी तो एक प्रकार का कर्म ही है, और वह ऐसा कर्म है जिससे मानव का उत्थान नहीं बल्कि पतन ही होता है, क्योंकि मिले हुए अधिकार का यदि उचित रूप से उपयोग न किया जाए तो अधिकार उससे छीन लिया जाता है। इसलिए प्रभु कहते हैं **''मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि''** जो अधिकार, जो पात्रता तुम्हें मिली है यदि उसका प्रयोग नहीं करते तो तुम पुनः उस पात्रता को पाने के लिए अधिकारी नहीं रहोगे। इसलिए कर्म-त्याग में तेरी आसक्ति न हो—यही प्रभु समझा रहे हैं। गोस्वामी जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन्ह गावा ॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुख पावई सिर धुनि धुनि पछताइ ।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ ॥

मनुष्य शरीर बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ है, यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है, ऐसा सद्शास्त्र कहते हैं। यह साधन का धाम और मोक्ष का दरवाज़ा है। इसको प्राप्त करके जिसने अपना लोक-परलोक नहीं सँवारा, वह मृत्यु के पश्चात् विविध प्रकार की यातनाओं का ही पात्र बनता है और सर पीट-पीट कर काल को, कर्म को, ईश्वर को मिथ्या दोषी ठहराता हुआ पश्चात्ताप करता है। इसलिए प्रभु कहते हैं—इस प्राप्त देव-दुर्लभ मानव-शरीर का सत्कर्म में ही प्रयोग करना चाहिए। अपने कर्तव्य और अधिकार को समझते हुए सत्कर्मों का अनुष्ठान करते हुए आत्मा का उद्धार करना चाहिए। यदि व्यक्ति सही कर्म का अनुष्ठान नहीं करता, कर्म-त्याग करके अकर्मण्यता का आश्रय लेता है तो परिणाम में उसे पश्चात्ताप के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगेगा। इसलिए प्रभु समझाते हैं **''मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि''**।

गीता के इस श्लोक के चार चरणों में भगवान् ने कर्म-विज्ञान के चार महान् सिद्धान्तों का निर्देश किया है। इनका मनन करते हुए, इनके रहस्य को समझकर मनुष्य यदि कर्मानुष्ठान करता है तो स्वयं के जीवन को सार्थक बना देता है। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी उसमें कभी लिपायमान नहीं होता और सही माने में वही व्यक्ति वेद के आदेश को यथार्थतः समझ पाता है **''न कर्म लिप्यते नरे।''**

यह बात सत्य है कि कर्म मनुष्य से नहीं चिपकता, मनुष्य स्वयं कर्म से चिपक जाता है। इस कर्मासक्ति से छूटने के लिए गीता में दो प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाने की व्यवस्था की गई है। एक दृष्टिकोण है कर्तव्य का और दूसरा दृष्टिकोण है पूजा का। कर्तव्य-दृष्टि में कर्ता स्वयं को कर्म से असंग रखता है—

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते । (गीता ३।२८)

सभी गुण गुणों में ही वर्तते हैं, ऐसा मानकर वह किसी प्रकार के कर्म में आसक्त नहीं होता—

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते । (गीता ५।७)

सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा जो परमात्मा है उसके साथ एकत्व का अनुभव करते हुए कर्म करता हुआ भी उससे लिपायमान नहीं होता। इस स्थिति में रहने वाला कर्मयोगी कर्म का अनुष्ठान अपने लिए नहीं, लोक-कल्याण के लिए ही करता है—

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।

ज्ञान के प्रकाश से द्वैतभाव छिन्न हो गया, नष्ट हो गया है जिसका, ऐसा जितेन्द्रिय सतत परमात्मा में स्वयं को लगाए हुए सम्पूर्ण प्राणियों के हित में सदैव रत रहता है।

लोकहित की दृष्टि कर्मयोग की उत्तम दृष्टि है। दूसरी दृष्टि है स्वयं के समस्त कर्मों को ईश्वर-समर्पण बुद्धि से करने की। गीता के १८वें अध्याय में भगवान् ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (गीता १८।४६)

जिससे सम्पूर्ण प्राणियों की अभिव्यक्ति हुई है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व परिव्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने कर्मों द्वारा अर्चना करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। कर्तव्य-दृष्टि में बुद्धि की प्रधानता है किन्तु हृदय की सरलता नहीं। इस पूजा-दृष्टि में हृदय और बुद्धि दोनों का ही अनुपम संयोग है इसलिए सांख्यनिष्ठ द्वारा लोकहितार्थ, जनकल्याणार्थ कर्तव्य-दृष्टि से कर्मानुष्ठान की अपेक्षा, योगनिष्ठा का अवलम्बन लेने वाला भगवदर्पण-बुद्धि से जो कर्मानुष्ठान करता जाता है वह अधिक उत्तम है, क्योंकि सांख्यनिष्ठा में केवल बुद्धि की प्रधानता है और योगनिष्ठा में बुद्धि और हृदय दोनों का संयोग है। जैसे किसी अन्न-क्षेत्र में आप चले जाएँ और वहाँ भोजन बनाने वाला विधि से भोजन बनाकर आपको परोस दे, आप उस भोजन को रुचि से खाएँ वा अरुचि से, उस परोसने वाले को कोई अन्तर नहीं पड़ने का। बनाने वाले ने पूर्णतया बुद्धि का प्रयोग करके बड़ी कुशलता से भोजन तैयार किया है और परोसने वाले ने थाली सजाकर कुशलता के साथ आपके सामने रख दी है। आपके प्रति दयाभाव से प्रेरित हो वह यही कर सकता है, कर दिया है। अब उस भोजन में पकाने वा परोसने वाले की बुद्धि तो सजगता से कार्य करती रही है किन्तु उसमें हृदय का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यही स्थिति कर्तव्य-दृष्टि से कर्मानुष्ठान करने वाले व्यक्ति की होती है। उसमें कर्म की कुशलता तो होती है किन्तु हृदय की सरलता नहीं होती। पूजा दृष्टि से किया जाने वाला कर्म हृदय और बुद्धि दोनों से समन्वित होता है। जैसे घर में भोजन बनाने वाली गृहिणी का ध्यान सदैव इस बात में होता है कि वह जिसके लिए भोजन बना रही है उसे कौन-कौन सा पदार्थ रुचिकर और प्रिय है। भोजन बनाने और परोसने में भी उसका यह भाव बना रहता है कि उसके इस भोज्य पदार्थ से

प्रियतम की केवल क्षुधा-निवृत्ति एवं पुष्टि ही नहीं, अपितु तुष्टि और तृप्ति भी हो; अतः भोजन खिलाते हुए उसका सरस हृदय यह देखता रहता है कि इससे उसके प्रियतम की तृप्ति और प्रसन्नता हो रही है या नहीं, क्योंकि अपने श्रम की सार्थकता वह प्रियतम की प्रसन्नता में ही समझती है। यहाँ पर उस गृहिणी के कार्य में हृदय और बुद्धि दोनों का ही संगम है, क्योंकि भोजन बनाना और खिलाना उसकी दृष्टि में कर्तव्य नहीं बल्कि प्रियतम की पूजा है। इस उदाहरण से आप लोग समझ गए होंगे कि कर्तव्य-दृष्टि और पूजा-दृष्टि में क्या भेद है।

सांख्यनिष्ठ की दृष्टि कर्तव्य-दृष्टि है और योगनिष्ठ की दृष्टि पूजा-दृष्टि है। यह दोनों प्रकार की निष्ठा वाले कर्म-बन्धन से विमुक्त होते हैं, क्योंकि कर्म में उनकी आसक्ति नहीं होती। एक लोकहित की दृष्टि से कर्म करता है और दूसरा सर्वेश्वर की पूजा की दृष्टि से। जैसे गृहिणी अपनी सेवा से प्रियतम को प्रसन्न हुआ जान प्रसन्नता से भर जाती है और स्वयं को कृतकृत्य मानती है, उसी प्रकार से अपने कर्मों द्वारा प्रभु की अर्चना में निरत योगी प्रभु की प्रसन्नता में ही स्वयं को कृतकृत्य समझता है, उसे इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए।

कर्तव्यनिष्ठा की सीख तो गीता से पहले के सद्ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है किन्तु अपने कर्मों के द्वारा परमेश्वर की समर्चना की सीख गीता की अपनी सीख है। यह गीता से पूर्व किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। कर्तव्य की भावना लोकसंग्रहार्थ, लोकहितार्थ है। कुछ न चाहते हुए सांख्यनिष्ठ योगी को इस प्रकार के लोकहितार्थ कर्म की प्रेरणा प्रभु ने गीता के तीसरे अध्याय में दी है, किन्तु पूजा की दृष्टि प्रभु की प्रियता एवं प्रसन्नता के लिए है। इसका उपदेश प्रभु ने विशेषकर नवें अध्याय में दिया है और उसे राजविद्या, राजगुह्ययोग कहा है। तो मैं आप लोगों को समझा रहा था कि कर्मासक्ति से बचने के लिए ये दोनों ही मार्ग उपयोगी हैं, किन्तु इनमें से सांख्य-मार्ग की अपेक्षा योग-मार्ग सुगम एवं प्रशस्त है। उपनिषद् के '**न कर्म लिप्यते नरे**'' इस आदेश में दोनों निष्ठाओं का अन्तर्भाव है। चाहे कर्तव्य की दृष्टि से कर्म किया जाए वा पूजा की दृष्टि से, इन दोनों दृष्टियों से मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता। जैसे पतिपरायणा स्त्री अपनी समस्त क्रियाओं द्वारा पति को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है, कर्म के बाद उसके फल को नहीं देखती बल्कि यह देखती है कि उसके कर्म से प्रियतम को प्रसन्नता प्राप्त हुई वा नहीं, उसी प्रकार से जो साधक अपने कर्मों से प्रभु की अर्चना करते हुए प्रभु की प्रसन्नता को ही चाहता है, उनकी करुणा की राह ही देखता रहता है, वह सदैव कर्मों से अनासक्त रहता हुआ प्रभु-प्रेम का रसास्वादन करता रहता है।

कर्तव्य-दृष्टि से कर्म करने वाला सांख्य-योगी कर्म की पूर्ति के पश्चात् आत्मरत

हो जाता है, जबकि पूजा-दृष्टि से कर्म करने वाला योगनिष्ठ योगी कर्म की पूर्ति के पश्चात् परमात्मा में रत होता है। यद्यपि उस अवस्था में आसक्ति से दोनों ही विमुक्त होते हैं किन्तु उनकी दृष्टि-भेद से भाव-भेद और अनुभूति में भी अन्तर होता है। पाँचवें अध्याय में भगवान् ने सांख्यनिष्ठ के लिए कर्म-संन्यासी कहा है और योग-निष्ठ के लिए कर्मयोगी। जैसा कि पहले भी मैंने आपको बताया है—**''तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते''** (गीता २।५) कर्म-विज्ञान की दृष्टि से कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, उसमें यही कारण है कि कर्म-संन्यास आत्मरति और कर्म-योग परमात्मरति प्रदान करता है। कर्म करते हुए उसमें कर्तापन का अहंभाव न होना कर्मसंन्यास है, इसी को नैष्कर्म्य सिद्धि भी कहते हैं। कर्म करते हुए भी उसमें व उसके फल में आसक्त न होना ही नैष्कर्म्य सिद्धि है। कर्मयोग वह है जिसमें, जिस प्रभु की अर्चना में कर्म किया है उसके साथ एकता की अनुभूति करना, यानी परमात्मा के साथ अभिन्नता की अनुभूति ही कर्मयोग की सिद्धि है। कर्मयोग में बुद्धि कर्म की सुन्दरता में लगी हुई होती है और हृदय प्रियतम की प्रसन्नता में। बुद्धि और हृदय दोनों का प्रयोग साथ-साथ होता है, इसीलिए कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है।

कर्मयोग में सुगमता यह है कि मनुष्य का स्वभाव है कि वह कर्म करते हुए कर्म के फल की चाह रखता है, फल से सर्वथा निरपेक्ष हो जाना एकाएक सम्भव नहीं होता। इस विधि में फल की जगह प्रभु की प्रसन्नता की चाह ले लेती है जिससे हृदय ईश्वरीय भाव से भरा रहता है। इस प्रकार से इसमें बुद्धि कर्म की कुशलता में और हृदय प्रभु की प्रसन्नता में निरत होने से साधक को किसी भी प्रकार के अभाव की अनुभूति नहीं होती। कर्म करते हुए रस भी मिल गया और बन्धन भी नहीं हुआ, यह कर्मयोग का ही परिणाम है। कर्मयोग की यह विधि बहुत ही सुन्दर एवं उपयोगी है। इससे मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता।

ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में प्रभु की सर्वव्यापकता का बोध कराया गया है और प्रभु की करुणा से प्राप्त हुए पदार्थों का उनको प्रसाद-रूप में उपभोग करने की सीख दी गई है और समझाया गया है कि लालची मत बनो, आसक्त मत होवो, विचार करो कि यह धन-वैभव किसका है? दूसरे मन्त्र में कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा का आदेश दिया गया है और यह समझाया गया है कि इस संसार में इससे उत्तम और कोई मार्ग नहीं है। तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होते—**''न कर्म लिप्यते नरे''** अभिप्राय यह कि कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होते, मनुष्य ही कर्म में लिप्त होता है क्योंकि अपनी कृति में अनुरक्ति और आसक्ति होना स्वाभाविक है। स्वाभाविक घटना से मनुष्य को कैसे विमुक्त किया जाए? इस रहस्य का उद्घाटन कर्मयोग की सीख के द्वारा भगवान् ने स्वयं किया है, जिसके विषय में अभी आप लोगों को अनेक उदाहरणों द्वारा बहुत-सी बातें समझाई गई हैं।

सारांश में कर्म संन्यासी—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । (गीता ५।८)

तत्त्ववेत्ता ऐसा मानता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, कर्तापन मेरे में नहीं है; शरीर और इन्द्रियों से जो कुछ भी हो रहा है वह—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् । (गीता ५।९)

इन्द्रियाँ ही अपने अर्थों में बरत रही हैं, ऐसी उसकी निश्चल धारणा होती है। वह तत्त्ववेत्ता लोककल्याण का सृजन करता हुआ समस्त प्राणियों के कल्याण में रत रहते हुए अपने को अकर्ता ही मानता है, इसलिए वह कर्म-बन्धन से विमुक्त रहता है। यह कर्मसंन्यास की दृष्टि अगम नहीं; गम्भीरता से विचार करने पर प्रत्येक व्यक्ति इसे समझ सकता है। जैसे दुनिया में जो कुछ भी रूप है वह तेज-तत्त्व से ही उत्पन्न होता है और देखने वाली आँखें भी तेज-तत्त्व के अंश से ही उत्पन्न हुई हैं। नेत्र रूप को तभी देख सकता है जबकि वहाँ प्रकाश रूप में तेज तत्त्व स्वयं प्रकट हो। अब इस देखने की क्रिया में एक ही तत्त्व तीन रूपों में प्रकट होकर देखने की क्रिया सम्पन्न कर रहा है। रूप, आँख और प्रकाश, ये तीनों तेज-तत्त्व के ही कार्य हैं, इसमें कर्ता वा द्रष्टा का कौन-सा कर्तृत्व है? नेत्र हो, रूप हो और यदि प्रकाश न हो तो नेत्र रूप को नहीं देख सकता और नेत्र के अभाव में रूप का कोई अस्तित्व नहीं और रूप के अभाव में नेत्र की कोई उपयोगिता नहीं। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि यदि तेज न होता तो रूप न होता, होता भी तो हम उसे देख नहीं सकते थे इसलिए यह सब-कुछ तेज की ही क्रिया है। यहाँ इन्द्रियाँ अपने अर्थों में ही बरत रही हैं, इसमें द्रष्टा का केवल अहंमात्र ही होता है। यदि यह बात समझ में आ जाए तो वह द्रष्टा इस अहं भाव से मुक्त होकर इन क्रियाओं के होते हुए भी इनसे असंग रह सकता है। जो स्थिति तेज-तत्त्व की है ठीक उसी प्रकार से पृथ्वी, जल, आकाश के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिए। यह सारे का सारा सृष्टि में होने वाला क्रिया-कलाप प्रकृति के गुणों में ही हो रहा है, इसलिए प्रभु कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । (गीता ३।२७)

यह तत्त्व विज्ञान की दृष्टि है।

कर्म-संन्यास व नैष्कर्म्य सिद्धि यथार्थ तत्त्व-बोध के अभाव में नहीं सध सकती। अभिप्राय यह कि तत्त्व-बोध होने पर ही कर्म-संन्यास की सिद्धि होती है। इसमें प्रकृति की यथार्थता का बोध होना आवश्यक है, किन्तु कर्मयोग में ऐसी कोई शर्त नहीं है। उसमें तो केवल परमेश्वर के प्रति अविचल आस्था, अनन्य प्रेम और पूर्णानुरक्ति की ही आवश्यकता है। ऐसा हो जाने पर साधक कर्मयोग की साधना बड़ी सुगमता से कर सकता है। इस साधना में प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रभु की पूजा की सामग्री के रूप में स्वीकार करते हुए उनके द्वारा कुशलता के साथ सम्पूर्ण करणीय कर्मों को

प्रभु की अर्चना समझकर करते हुए साधक प्रभु से अभिन्नता की अनुभूति कर लेता है; यही कर्म-विज्ञान का रहस्य है।

मेरे विचार से ईशोपनिषद्, क्योंकि ईश्वर की महत्ता और उसकी व्यापकता, उसके प्रति समर्पण आदि की सीख पहले मन्त्र में देता है और दूसरे मन्त्र में कर्म करते हुए ही १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करने का उपदेश करता है और बताता है कि यह कर्म तुममें लिप्त नहीं होगा, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर यह आदेश कर्म-संन्यास की दृष्टि से नहीं, कर्मयोग की ही दृष्टि से दिया गया है। उपनिषद् के इस दूसरे मन्त्र में कर्मयोग का ही उपदेश है, कर्म-संन्यास का नहीं, क्योंकि इसके पूर्व प्रथम मन्त्र में ईश्वर की महिमा का गान करते हुए उसके प्रति समर्पण का उपदेश किया गया है और यदि कोई **''त्वयि नरे कर्म न लिप्यते''** केवल इतने ही आदेश का मनन करे तो नैष्कर्म्य सिद्धिरूपी कर्म-संन्यास का भी इससे समर्थन मिल जाता है। साधक अपनी स्थिति और अवस्था अनुसार इन मन्त्रों का मनन करे तो उसे अपनी रुचि के अनुसार इससे मार्गदर्शन मिल जाएगा। कर्म-विज्ञान का सिद्धान्त कर्म-संन्यासी तथा कर्म-योगी दोनों की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है और **''न कर्म लिप्यते नरे''** कर्म-विज्ञान का मूल मन्त्र है।

जैसा कि पहले कीर और मरकट के उदाहरण से आप लोगों को यह समझाया गया है कि उन्हें कोई पकड़े हुए नहीं होता, अपनी अज्ञानतावश स्वयं को पकड़ा हुआ मानकर वे बँध जाते हैं, उसी प्रकार से कर्म मनुष्य को नहीं बाँधते, मनुष्य स्वयं अज्ञानतावश कर्तृत्व के अहं-भाव से कर्मों में बँध जाता है। इस बन्धन में फल के प्रति आसक्ति वा लोभ ही कारण होता है। कभी-कभी ऐसा भी लोगों को कहते हुए सुना जाता है कि ''मैं तो इस घर-गृहस्थी के जाल से दूर होना चाहता हूँ, किन्तु यह गृहस्थी ही मुझे नहीं छोड़ती।''

गंगा जी के किनारे एक वृद्ध सन्त अपने शिष्य के साथ बैठे हुए थे, गंगा जी में एक भालू बहा जा रहा था। दूर से वह काले कम्बल की तरह दिखाई दे रहा था। शिष्य ने सोचा, गंगा जी में कम्बल बहा जा रहा है। गुरुजी से प्रार्थना की—गुरुदेव! देखो, वह गंगा जी में कम्बल बहा जा रहा है, आप आज्ञा दें तो मैं तैरकर उसे ले आऊँ। गुरु ने कहा—बेटे! दुनिया में ऐसी बहुत-सी चीजें बहती रहती हैं, अपन का उनसे क्या प्रयोजन? तुम शान्ति से बैठकर भगवान् का स्मरण करो। शिष्य ने कहा—भगवन्! अपन यहाँ ठण्डी में परेशान हो रहे हैं, यदि मैं वह कम्बल ले आऊँ तो हमें काम देगा। वह किसी व्यक्ति का तो है नहीं, गंगा जी में बहा जा रहा है, उसको ले आने में क्या हर्ज है? गुरु ने कहा—नहीं बेटे! ऐसा नहीं सोचते। शिष्य ने सोचा, गुरुजी वृद्ध हैं, इनमें इतनी शक्ति नहीं कि गंगा जी में तैरकर कम्बल ला सकें। मेरे प्रति भी इन्हें अधिक प्रेम है, इसलिए सर्दी से दुःखी होते हुए भी कम्बल

लाने को मना कर रहे हैं; लेकिन मैं तो अवश्य कम्बल लाऊँगा। गुरु के बार-बार मना करने पर भी वह जवान शिष्य गंगा जी में कूद पड़ा; तैरता हुआ जब कम्बल के नज़दीक पहुँचा और ज्योंही उसे पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया तो डूबते हुए भालू ने सहारा पाते ही उसे पकड़ लिया। भालू के पकड़ते ही शिष्य चिल्लाने लगा—गुरु जी, बचाओ! उन्होंने कहा कि बेटा, इसमें बचाने वाली क्या बात है? कम्बल को छोड़ दो और चले आओ। शिष्य कहता है—मैं तो कम्बल को छोड़ रहा हूँ, कम्बल ही मुझे नहीं छोड़ रहा। यही दशा लोभ में पड़े हुए संसारी व्यक्ति की भी हो जाती है। वह कहता है कि मैं तो कर्म को छोड़ रहा हूँ, अब कर्म ही मुझे नहीं छोड़ रहा। तो मैं आप लोगों को समझा रहा था कि कर्म आपका किया हुआ कार्य है, वह जड़ है, वह आपको किसी भी प्रकार से बाँध नहीं सकता, आपमें लिप्त नहीं हो सकता। इस यथार्थ को समझकर वेद के इस आदेश को—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।

अपने जीवन का मूल मन्त्र बना लीजिए। यदि आप बन्धन के भय से जानबूझ कर कार्य-कर्म का त्याग करेंगे, कर्म को छोड़ देंगे तो वह त्यागरूप कर्म अवश्य ही आपके बन्धन में कारण बन जाएगा।

याद रखिए जिससे आदमी भयभीत होता है वह सदैव उसके पीछे ही लगा रहता है। यदि भूत के भय से भयभीत होकर आप भागना चाहेंगे तो जहाँ भी जाएँगे वहाँ ही वह खड़ा हुआ दिखाई देगा। यही स्थिति कर्म की है। यदि कर्म-बन्धन से भयभीत होंगे, उससे भागना चाहेंगे तो आपके प्रत्येक श्वास के साथ वह बन्धन का फन्दा लिए हुए खड़ा दिखाई देगा। इसलिए मेरे विचार से कर्म से भयभीत होना उचित नहीं। कर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे भयभीत हुआ जाए। वह तो आपके विकास में, आपकी उन्नति में, आपके लक्ष्य की पूर्ति में परमोपयोगी साधन है। मनुष्य होने के नाते आपको कर्म का अधिकार प्राप्त है। आप अपने उस अधिकार का पूर्ण रूप से प्रयोग करें। आप लोगो ने सुना होगा, सन्तवर तुलसीदास जी का एक दोहा है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम ।
तुलसी कहु कैसे फबै, रवि रजनी इक ठाँव ।।

जहाँ राम हैं वहाँ काम नहीं होता और जहाँ काम है वहाँ राम नहीं होते। काम और राम की स्थिति दिन और रात्रि के समान है। गोस्वामी जी का कथन है कि जैसे दिन और रात एक ही साथ शोभित नहीं होते, उसी प्रकार से राम और काम एक-साथ नहीं रहते। तुलसीदास जी के इस दोहे में काम का अर्थ विषय-वासना से है, कामना से है। उनका मत है—

क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा । ऊसर बीज बये फल जथा ।।

इसी प्रकार का एक मेरा भी दोहा है, उसे सुनकर आप लोगों को असंगति-सी प्रतीत होगी किन्तु वह दोहा मेरे विचारों का, मेरे सिद्धान्तों का निचोड़ है। दोहा इस प्रकार है—

जहाँ काम तहँ राम हो, जहाँ राम तहाँ काम ।
काम राम से युक्त हो, जीव लहै विश्राम ।।

यहाँ इस दोहे में काम शब्द वासना के अर्थ में नही है, कर्म के अर्थ में है। अपने काम को सदैव राम के साथ जोड़ दो और राम की उपस्थिति, राम की स्मृति में ही सदैव काम करो। ऐसा होने से जब तुम्हारे सारे काम राम से युक्त हो जाएँगे, राम से जुड़ जाएँगे, तभी तुम्हें विश्राम मिलेगा, शान्ति मिलेगी। काम के बिना तुम रह नहीं सकते, वह तुम्हारा स्वभाव है; और काम करते हुए शान्ति मिल नहीं सकती, यह काम की नियति है। काम भी होता रहे और विश्राम भी मिल जाए, इसके लिए केवल एक ही उपाय है कि तुम्हारा प्रत्येक काम राम के साथ जुड़ जाए। इसी मे तुम्हारे कर्तृत्व की, तुम्हारे जीवन की सार्थकता है। हाथ में काम हो, हृदय में राम हो। राम और काम दोनों के होने पर तुम्हारा जीवन अमृत बन जाएगा, आनन्दमय बन जाएगा। प्रभु कहते हैं—''**मामनुस्मर युध्य च**'' इस उपदेश में यही अभिप्राय निहित है।

जैसे एक पतिव्रता स्त्री जीवन के प्रत्येक कार्य को करते हुए अपने प्रियतम की प्रसन्नता को ही ध्यान में रखती है, उसी प्रकार प्रभु की प्रियता और प्रसन्नता को लक्ष्य में रखते हुए करणीय कार्यों को सदैव करते रहो, यही कर्मयोग की सीख है। बुद्धि सजग हो, हृदय प्रभु-प्रेम से भरा हुआ हो और हाथ काम में लगे हुए हों—इस प्रकार कर्म का सम्पादन करने से कर्म बन्धन नहीं, मोक्ष प्रदान करने वाला हो जाएगा--

यत् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।

''जो कुछ भी कर्म कर रहा हूँ हे प्रभो! वह सब तुम्हारी ही अर्चना है।'' इस प्रकार की निष्ठा से युक्त होकर अपने कर्मों द्वारा प्रभु की पूजा करते हुए प्रभु के दिव्य प्रेम में निमग्न रहो। यही कर्म-विज्ञान की सीख है। तुम क्या कर रहे हो, इसकी विशेष चिन्ता करने की जरूरत नहीं। प्रभु कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। (गीता ९।२७)

''जो करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो देता है, जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर।'' इस प्रकार की समर्पण-बुद्धि से किए हुए कर्म बन्धन में

नहीं प्रभु भक्ति में ही कारण बनते हैं। यदि कर्म विज्ञान की इस सीख को जीवन में धारण कर लिया जाए तो ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे कर्म बन्धन में डाल सके। कर्म योग का यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुगम और सर्वसुलभ है। इसमें देश, काल, परिस्थिति आदि का कोई महत्त्व नहीं। जाति, लिंग, वर्ग, आयु आदि की इसमें कोई महत्ता नहीं। मनुष्य होने के नाते आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सभी इस दिव्य मार्ग का अवलम्बन ले सकते हैं। ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र में जीवन की कृतकृत्यता के लिए यही एक प्रशस्त मार्ग है, ऐसा आदेश है। इस मन्त्र को अच्छी प्रकार से याद करके इसका मनन करते हुए इसे जीवन में उतारने की कोशिश करें—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

□ □

९

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

प्रभु के मंगलमय विधान से वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मविद्या-विज्ञान से सम्बन्धित ईशोपनिषद् पर आप विचार सुन रहे हैं। कल आप लोगों को बताया गया था—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यह कर्म-विज्ञान का मूल मन्त्र है। इस मन्त्र की व्याख्या आप लोग सुन चुके हैं। आज मैं इसके आधार पर एक विशेष बात समझाने जा रहा हूँ, उसे आप लोग गम्भीरता से श्रवण करते हुए उस पर मनन करें। मनु का कथन है—"**वेदोऽखिलो धर्ममूलः**" वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल आधार है। आचार्य जैमिनी का कथन है—वेद जिस कार्य की प्रेरणा करता है वही धर्म है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेद-विहित कर्म ही धर्म शब्द से अभिहित होता है, किन्तु गीता में भगवान् ने योग-बुद्धि से किए हुए कर्म को ही धर्म बताया है और कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ (गीता २।४०)

धर्म मोक्ष का साधन है, इसी आशय से अर्जुन भगवान् से प्रार्थना करते हुए स्वयं को—"धर्मसंमूढचेताः" धर्म के विषय में मूढ़ चित्त वाला बताता है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए शिष्य-भाव से समुचित उपदेश की याचना करता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ (गीता २।७)

"जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो वह आप मुझे उपदेश करें, मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, आप मेरा मार्गदर्शन करें।" धर्म की जिज्ञासा की पूर्ति में ही गीता-ज्ञान का दिव्य उपदेश है और प्रभु ने अन्त में कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (गीता १८।७०)

"हम दोनों के इस धर्म-संवाद का जो अध्ययन करेगा, मनन करेगा, वह ज्ञान-यज्ञ के द्वारा मेरी पूजा कर रहा है, ऐसा मैं स्वीकार करूँगा।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता में वर्णित कर्मयोग व योगबुद्धि से किया हुआ कर्म ही यथार्थतः धर्म का

स्वरूप है जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त कर स्वयं को कृतकृत्य कर लेता है। गीता में कर्म के दो भेद किए गए हैं—शुभकर्म और सत्कर्म। सत्रहवें अध्याय में भगवान् ने कहा है—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(गीता १७।२७)

''यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह भी सत् है, ऐसे कहा जाता है और सत्-रूप परमात्मा के लिए जो कर्म किया जाता है, वह सत् है, ऐसा कहा जाता है।'' इस श्लोक में सत्कर्म का स्वरूप ईश्वरार्थ कर्म बताया गया है। यानी भगवान् के लिए, भगवान् के नाते, भगवान् की उपासना में जो कर्म किया जाता है वह सत्कर्म है। यही कर्म ब्रह्म-निर्वाण वा मोक्ष में सहयोगी होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का भी वेद-विहित कर्म है जिसे शुभकर्म कहा जाता है, जिसका फल भगवद्-प्राप्ति या मोक्ष न होकर स्वर्गप्राप्ति बताया गया है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९।२१)

''वे याज्ञिक उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म के शरण हुए भोगों की कामना वाले पुरुष बारम्बार आवागमन अर्थात् आने-जाने को प्राप्त होते हैं।'' इस श्लोक में स्वर्ग प्राप्ति की कामना से, सुख-प्राप्ति की कामना से, शुभकर्म तथा यज्ञानुष्ठान करने वाले देवोपासकों को त्रयीधर्म अथवा वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित धर्म का आश्रय लेने वाला बताया है और इस त्रयी धर्म से ऊपर उठने के लिए भगवान् ने मोक्षाभिलाषी को उपदेश दिया है---

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । (गीता २।४५)

इस सारे विवेचन से आप लोग यह समझ गए होगे कि वेद में दो प्रकार के कर्मों का विधान है—एक कर्मकाण्डात्मक और दूसरा कर्मयोगात्मक। कर्मकाण्ड का आश्रय लेने वाला त्रयी धर्म का अनुष्ठाता कहा जाता है और कर्मयोग का आश्रय लेने वाला औपनिषदिक धर्म का। उपनिषद्-धर्म का परिणाम मोक्ष है और त्रयी धर्म का परिणाम स्वर्ग। इसीलिए तत्त्ववेत्ता ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है--

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ।

"उस परमात्मा में निरत उपनिषदों में प्रतिपादित जो धर्मसमूह है वह मुझमें होवे, वह मुझमें होवे ।" यहाँ जिस मन्त्र की व्याख्या मैं कर रहा हूँ वह उपनिषद्-भाग का मन्त्र है। इसलिए इस मन्त्र में ''**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**'' जो आदेश और ''**न कर्म**

लिप्यते नरे'' का जो आश्वासन है वह कर्मकाण्ड वा कर्म से सम्बन्धित नहीं, कर्मयोग से सम्बन्धित है।

अब यहाँ पर सरल शब्दों में आप लोग वैदिक कर्म और उपनिषद्-धर्म से सम्बन्धित कुछ मुख्य बातें समझ लें। कर्म करने में दो प्रकार की दृष्टि होती है जैसाकि कल मैंने आप लोगों को समझाया था। एक दृष्टि लोकहितार्थ तथा परमात्मा की उपासना वा अर्चना की तथा दूसरी निज सुख-भोग की। अपनी पूर्ति के लिए अथवा अपने शरीर, इन्द्रियों एवं अन्तःकरण की पूर्ति के लिए, इनसे सम्बन्धित जो कुछ कर्म किए जाते हैं वे यदि शास्त्रविधि अनुसार हों तो वे कर्म कहे जाते हैं और यदि शास्त्र-विरुद्ध हों तो वे विकर्म कहे जाएँगे। कर्म का परिणाम सुख और विकर्म का परिणाम दुःख होता है। यह सुख-दुःख से सम्बन्धित पाप-पुण्यमय कर्म, कर्म और विकर्म नाम से अभिहित होता है। किन्तु विकर्म और कर्म, इन दोनों से परे जो भगवदर्थ वा लोकहितार्थ कर्म किया जाता है उसे सत्कर्म वा धर्म कहते हैं। धर्म और कर्म में इतना अन्तर है, इसको आप लोग पुनः सावधानी से समझ लें। जो शरीर, इन्द्रियों और मन की पूर्ति के लिए करते हैं वा जो शरीर, इन्द्रियों तथा मन संबंधित परिवार की पूर्ति के लिए करते हैं, यदि वह शास्त्र-सम्मत है, कानूनन उचित है तो वह कर्म कहा जाता है, किन्तु यदि वह शास्त्र-विरोधी है या कानूनन उचित नहीं है, समाज-विरोधी है तो वह ही विकर्म हो जाता है। स्वार्थ में अन्धे होकर व्यामोहवश, लालचवश, प्रमादवश दूसरे की हानि-लाभ को बिना सोचे केवल अपने और अपने परिवार के सुख को दृष्टि में रखकर जो कुछ भी हम करते हैं वह विकर्म ही होता है, कर्म नहीं। विकर्म के द्वारा हम केवल अपना ही पतन नहीं करते, अपने परिवार वा आने वाली सन्तान के लिए भी पतन का बीज बो देते हैं।

यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो अपने सम्बन्धियों को तीन स्तर पर पाएँगे। कुछ तो शरीर के सम्बन्धी हैं जैसे माता-पिता, भाई-बहन तथा इसी प्रकार के सहज सम्बन्धी। कुछ हमारे शरीर नहीं बल्कि इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं जैसे पत्नी, पुत्रादि। कुछ केवल मन से सम्बन्धित होते हैं, जैसे मित्र, सुहृद् आदि। हम जो कुछ भी कर्म करते हैं प्रायः इनकी सुख-सुविधा के लिए ही करते हैं। इसलिए हमारी क्रियाएँ कर्म और विकर्म दो रूपों में विभक्त हो जाती हैं—शास्त्र-सम्मत और शास्त्र-विरुद्ध, जिनका फल हमें सुख और दुःख के रूप में प्राप्त होता है। यह सब कर्मों के ही परिणाम हैं। धर्म की धारणा इससे बिल्कुल विपरीत है। जिस समय हम अपनी प्राप्त शक्ति और योग्यता का प्रयोग समाज के उन लोगों के प्रति करते हैं जो न तो हमारे शरीर से संबंधित हैं, न इन्द्रियों से, और न मन से अर्थात् जिनसे हमारा किसी प्रकार का संबंध नहीं, केवल आत्मबुद्धि से, परहित की दृष्टि से उनके कल्याण के लिए, उन्नति के लिए जब हम अपनी प्राप्त सामर्थ्य का प्रयोग करते हैं तो वह धर्म होता है। धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।

परहित के समान और कोई दूसरा धर्म नहीं है।

मैं ऐसा समझता हूँ कि अपने तथा अपने परिवार के सुख के लिए जो भी कुछ किया जाता है चाहे वह यज्ञ हो, दान हो, तप हो वा ईश्वर-उपासना ही क्यों न हो, वह सब कर्म है, धर्म नहीं। धर्म वह है जो परहित के लिए किया जाए, लोकहित के लिए किया जाए। इतिहास के पन्नों में जो महापुरुष के रूप में वर्णित हैं, जिनको हम श्रद्धा से नमन करते हैं, उनके जीवन-चरित्र को देखिए तो यही ज्ञात होगा कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को लोक कल्याण के लिए ही समर्पित किया था। यह बात याद रखिए कि धर्म नैगेटिव नहीं, पॉज़िटिव है; नकारात्मक नहीं, क्रियात्मक है। अभिप्राय यह कि किसी को दुःख न देना धर्म नहीं है, बल्कि किसी दुखिया के दुःख को दूर करना धर्म है। किसी का बुरा न करना धर्म नहीं है, किसी का भला करना धर्म है। जैसे झूठ न बोलना धर्म नहीं है, सच बोलना धर्म है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि मैं किसी के साथ अन्याय नहीं करता, किसी को दुःख नहीं पहुँचाता, कभी झूठ नहीं बोलता, अपने परिश्रम से अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण करता हूँ, परिश्रम और ईमानदारी की ज़िन्दगी जीता हूँ, क्या इससे मेरा कल्याण नहीं होगा? क्या मैं इस प्रकार करते हुए धर्म का पालन नहीं कर रहा? इसके उत्तर में मेरा यही कहना होगा कि बिल्कुल नहीं। इस प्रकार के आचरण वाला व्यक्ति धर्मात्मा नहीं, कर्मात्मा है। मृत्यु के पश्चात् कर्मात्मा की गति पुनः कर्ममय मनुष्य योनि को प्राप्त करना है। जीवन विकास के कुछ स्तर हैं, आप लोग उन्हें समझ लें। मनुष्य स्वयं में कर्मात्मा है। यदि स्वार्थ एवं प्रलोभनवश विहित कर्म का त्याग करता है तो वह पापात्मा की स्थिति को प्राप्त हो जाता है, जिसका परिणाम मनुष्येतर निम्न योनियों की प्राप्ति होती है। वह अपने स्तर से नीचे गिरकर पतन को प्राप्त होता है। कर्मात्मा की स्थिति में वह अपने स्तर से नीचे तो नहीं गिरता, किन्तु वहाँ से आगे भी नहीं जा पाता। जीवन में विकास वा उन्नति धर्मानुष्ठान से ही हो पाती है। जैसाकि मैंने अभी आप लोगों को बताया है कि धर्मानुष्ठान लोकहितार्थ वा भगवदर्थ किया जाने वाला कर्म है। जब उस कर्म में आप प्रवृत्त होंगे तो आप कर्मात्मा नहीं, धर्मात्मा बन जाएँगे। मनुष्य-जीवन का सही प्रयोग धर्मात्मा होने में ही है। धर्मात्मा से ही आगे विकास करते हुए आप महात्मा पद को प्राप्त कर पाएँगे। महात्मा से आगे की स्थिति विश्वात्मा है और उससे परे की स्थिति को परमात्मा कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को कर्मात्मा की अवस्था से उठकर परमात्मा की अवस्था को प्राप्त करना है। परमात्मा की अवस्था अद्वैत की चरमावस्था है। जिस अवस्था में साधक **''अहं ब्रह्मास्मि''** की अनुभूति करता है, वही परमात्मपद की अवस्था है। गीता में उसी को ब्रह्मनिर्वाण कहा है। यही अवस्था जीव के जीवन का लक्ष्य है। शरीर-त्याग के पश्चात् इसकी प्राप्ति होती है। इससे पूर्व की अवस्था का नाम है विश्वात्मा।

मानव-शरीर में रहते हुए भी जो '**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि**'' की अनुभूति कर लेता है; वह जीवन-मुक्त महात्मा ही विश्वात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। कर्मात्मा, धर्मात्मा, महात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा, ये क्रमशः जीवन के विकास की अवस्थाएँ हैं। मनुष्य को कर्मात्मा की स्थिति से उठकर सदैव धर्मानुष्ठान करने की कोशिश करनी चाहिए जिससे वह धर्मात्मा होकर आत्मोत्थान की दिशा में आगे बढ़ सके। जो लोग भ्रमवश पद-पदार्थ के संग्रह में ही लगे हुए हैं, उसकी प्राप्ति में ही अपना और अपने परिवार का विकास समझते हैं, उन्हें सावधानी से इस रहस्य को समझना चाहिए।

कुछ लोग स्वस्थ-सुन्दर शरीर और पर्याप्त मात्रा में धन-सम्पत्ति की प्राप्ति को ही अपना विकास समझते हैं, किन्तु यह विकास नहीं, उन्नति नहीं। विकास वा उन्नति का अर्थ होता है—अपने स्तर से ऊपर उठना। मनुष्य को अपने स्तर से ऊँचे उठने में पद और पदार्थ सहयोगी नहीं हो सकते, केवल ज्ञान और उसके प्रकाश में किया हुआ धर्मानुष्ठान ही उन्नति में कारण होता है। उन्नति का सरल अर्थ होता है ऊपर उठना। विकास का सरल अर्थ होता है विशेष रूप से चमकना वा प्रकाशित होना। आप विकसित हुए हैं वा उन्नत—इसका केवल एक ही मापदण्ड है, वह यह कि आपकी आत्मीयता और प्रियता में कितनी वृद्धि हुई है। कितनी मात्रा में आप लोगों को आत्मसात किए हैं वा अपना समझने लगे हैं। यह याद रखें—जो उत्थान की दिशा में जाता है उसकी दृष्टि व्यापक होती जाती है, हृदय विशाल होता जाता है, किन्तु जो पतन की दिशा में जाता है उसकी दृष्टि और हृदय दोनों संकीर्ण होते जाते हैं। यथार्थतः यही कसौटी है अपने उत्थान और पतन की अवस्था को मापने की।

सामान्य स्तर पर भी यदि आप लोग सोचें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। जैसे इस स्थान पर बैठे हुए आप कुछ दूर देख रहे हैं, किन्तु यदि इससे ऊपर वाली मंजिल पर चले जाएँ तो आपको और भी दूर तक दिखाई देने लगेगा। निचली मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति की अपेक्षा ऊपर वाली मंजिल पर रहने वाला व्यक्ति अधिक दूर तक देखता है और ऊपर उठते हुए आप एक ऐसे स्तर पर भी पहुँच सकते हैं जहाँ से सम्पूर्ण पृथ्वी आपकी दृष्टि में एक छोटे-से आकार में दिखाई देने लगेगी। नीचे रहते हुए जिस पृथ्वी का ओर-छोर आप नहीं देख पा रहे हैं, जो बहुत विशाल प्रतीत हो रही है, बहुत ऊपर जाने पर वही एक छोटी-सी आकृति में दिखाई पड़ेगी। इससे आप समझ गए होंगे कि उन्नति का यथार्थ अभिप्राय क्या है। जिसके द्वारा आपकी दृष्टि व्यापक हो, हृदय विशाल हो, वही उन्नति का साधन है; किन्तु जिससे व्यक्ति के सोचने की, समझने की, चिन्तन करने की दृष्टि संकीर्ण होती जाए वह उत्थान नहीं, पतन है। जैसे कुएँ में उतरते हुए व्यक्ति की दृष्टि संकीर्ण होती जाती है और पहाड़ की चोटी पर चढ़ने वाले की विस्तृत, उसी प्रकार से पतन और उत्थान की अवस्था में भी व्यक्ति की बुद्धि की यही गति होती है। महोपनिषद् का कथन है—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसां ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।। (अ० ६।७१)

यह मेरा है और यह पराया है—इस प्रकार की गणना छोटी बुद्धि वाले लोग ही किया करते हैं। उदार चरित्र वालों के लिए तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब होता है। भारतीय तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने उन्नति वा विकास का यही मापदण्ड निश्चित किया है। वर्तमान की उन्नति का मापदण्ड वैदिक विज्ञान की दृष्टि में उत्थान नहीं, मानव के पतन का ही सूचक है, क्योंकि इसमें न बुद्धि की विशालता है न हृदय की उदारता ही। विकास का मापदण्ड जहाँ समस्त भूमण्डल के प्राणियों को अपने एक छोटे-से परिवार के रूप में देखने में था, वहाँ आज भूमण्डल की बात तो अलग रही, अपने शरीर के सहज सम्बन्धियों के प्रति आत्मीयता तथा प्रियता की भावना का भी दिनों-दिन लोप होता जा रहा है। यह उन्नति का नहीं बल्कि पतन का ही प्रतीक है।

वैदिक साहित्य में तीन प्रकार के दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं—आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। गम्भीरता से विचार करने पर तीनों दृष्टियों से ही यह सम्पूर्ण विश्व एक कुटुम्ब के रूप में दिखाई देगा। आधिदैविक दृष्टि से परमात्मा सभी प्राणियों का पिता है और प्रकृति माता। सम्पूर्ण प्राणी एक ही माता-पिता की सन्तान होने के नाते एक परिवार के ही सदस्य हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से उस परमात्मा ने ही स्वयं को अनेक रूपों में प्रकट किया है। सभी प्राणी परमात्मा की अभिव्यक्ति हैं, इसलिए सभी एक हैं। आधिभौतिक दृष्टि से सभी प्राणियों की रचना पंच महाभूतों के सहयोग से ही हुई है। सभी शरीरों में पंचमहाभूत समान रूप से विद्यमान हैं। सभी के जीवन का स्रोत एक ही है, इसलिए सभी एक हैं। शारीरिक दृष्टि से, आत्मिक दृष्टि से, तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र सभी प्राणियों में एकत्व का ही दर्शन होता है। इसलिए उपनिषद्-प्रतिपादित **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** का सिद्धान्त कल्पना पर नहीं सत्य के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित और ज्ञान-विज्ञान द्वारा समर्थित है। जो यह अनुभव करता है कि परमात्मा मेरा पिता है, प्रकृति मेरी माँ है और प्राणिमात्र मेरे बन्धु प्रियजन हैं, उसके लिए वसुधा ही मेरा परिवार है, यह स्वीकारने में कहीं कोई अतिशयोक्ति दिखाई नहीं देती, यह वेदान्त की दृष्टि है। ऐसी स्थिति में रहने वाला व्यक्ति स्वभावतः सभी के कल्याण की कामना करता हुआ प्राप्त सामर्थ्य का सभी के हित में प्रयोग करता है। उस अवस्था में सभी का दुःख अपना दुःख होता है और सभी का सुख अपना सुख होता है। गोस्वामी जी ने श्रीरामचरितमानस में संत का लक्षण बताते हुए कहा है—

पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ।

यही पूर्ण विकसित जीवन का स्वरूप है और यही वेदान्त का प्राप्तव्य है।

किन्तु वर्तमान की उन्नति का मापदण्ड बिल्कुल इससे भिन्न है। आज का व्यक्ति

दिनों-दिन संकीर्ण होता चला जा रहा है। जहाँ वैदिक विचारधारा में सात पीढ़ी तक सामान्य लोगों के लिए एक परिवार की कल्पना थी, वहाँ अब सात पीढ़ी की तो बात ही दूर रही, अपने पिता की संतति को भी अपना परिवार स्वीकार नहीं किया जाता। यह पश्चिमी विचारधारा का ही प्रभुत्व है जिसमें व्यक्ति अपने परिवार के रूप में केवल अपनी स्त्री और बच्चों को ही स्वीकार करता है। यह भाषा का ही करिश्मा है। अंग्रेजी में फैमिली का अर्थ होता है बीवी और बच्चे। हमारे यहाँ भी इस फैमिली शब्द के अनुवाद रूप में परिवार को स्वीकार कर उसको पत्नी और सन्तानों में ही सीमित कर दिया गया है। यह उत्थान का नहीं, पतन का प्रतीक है; यह विकास का नहीं, ह्रास का ही परिचायक है।

बच्चेपन में गाँव में मैंने कई ऐसे परिवार देखे हैं जिनमें पाँच पीढ़ियों तक सभी लोग एक ही साथ रहते थे और पचासों लोग एक ही साथ उठते-बैठते, खाते-पीते और शान्ति का जीवन व्यतीत करते थे। हमारे गाँवों में यह परम्परा आज भी देखने को मिलती है। गाँव के जीवन में बृहद् कुटुम्ब की भावना व्यापक रूप से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी, किन्तु अब धीरे-धीरे टूटती जा रही है। गाँव में किसी एक के घर में विवाह पड़ता था तो पूरे गाँव-भर में सफाई होती थी और उत्सव के गीत गाए जाते थे; ऐसा लगता था कि मानो सभी के घर विवाह होने जा रहा है; किन्तु आज सामूहिक भावनाएँ बिखरती जा रही हैं। जहाँ पहले सात पीढ़ियों तक के लोगों को सपिंडी मानकर उनके सुख-दुःख में उत्सव और गमी मनाते थे, वहाँ आज सिकुड़ते हुए इस अवस्था में पहुँच गए हैं कि केवल स्त्री-बच्चों के ही सुख-दुःख से सम्बन्ध रह गया है। मेरे विचार से यह उन्नति नहीं, ह्रास का प्रमाण है।

यह बात सत्य है कि जैसे-जैसे मनुष्य भौतिकता से चिपटता जाएगा, वैसे-वैसे ही वह संकीर्ण होता चला जाएगा। भौतिक विकास के साथ आत्मिक ह्रास मनुष्य के लिए प्रसन्नता नहीं, पीड़ा में ही हेतु बनेगा, इसमें सन्देह नहीं। आज पिता, प्रपिता, पितामह, प्रपितामह आदि से सम्बन्धित परिवार के विषय में आत्मीयता और प्रियता की तो बात ही दूर रही, उनके साथ परिचय तक का भी सम्बन्ध समाप्त होता जा रहा है। अभी गाँव में तो ऐसी स्थिति नहीं आई है, किन्तु नगरों में इस विकृति को विशेष रूप से देखा जा सकता है। यह संकीर्ण विचारधारा वैदिक विज्ञान से सर्वथा विपरीत है। यह उन्नति नहीं अवनति का परिचायक है। इससे मनुष्य कर्मात्मा से धर्मात्मा नहीं, बल्कि पापात्मा की स्थिति को ही प्राप्त हो रहा है।

मेरे विचार से इस संक्षिप्त विवेचन द्वारा आप लोग यह समझ गए होंगे कि कर्म और धर्म का क्या स्वरूप है। वेद द्वारा जिस कर्मयोग का आदेश दिया गया है, उस धर्मानुष्ठान में आपकी कहाँ तक गति हुई है? यदि आपकी आत्मीयता और प्रियता में वृद्धि हो रही है, यदि आप परिवार से अधिक जाति, जाति से अधिक

समाज, समाज से अधिक राष्ट्र और राष्ट्र से अधिक विश्व को महत्त्वपूर्ण समझते हैं और क्रमशः उस दिशा में अपनी आत्मीयता और प्रियता की वृद्धि कर रहे हैं तो सचमुच आप विकास की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। यदि आपके जीवन की दिशा बिल्कुल इससे विपरीत होती जा रही है, आप दिनों-दिन सिमटते जा रहे हैं, ऐन्द्रिक सुखों से सम्बन्धित सम्बन्धियों को ही अपना मानते, अपना समझते हैं तो याद रखें आपका उत्थान नहीं, पतन हो रहा है। भारत के नगरों की अपेक्षा ग्रामीण जीवन में वैदिक विधानानुसार जीवन-मूल्यों और उसके प्रति आस्था विशेष रूप से देखने को मिलेगी। आज भी ऐसे लोग मिलेंगे जो स्वयं भूखे रहकर भी द्वार पर आए हुए अतिथि को भोजन कराना अपना धर्म समझते हैं। यदि कोई व्यक्ति दरवाजे पर आया है तो उसे बिना कुछ खिलाए नहीं जाने देना है। यदि कोई चला जाता है तो उसे अपराध समझते हैं। यही कारण है कि आज हज़ारों की संख्या में अमेरिका और यूरोप से आये हुए हिप्पी भारत में अपना जीवन बिता रहे हैं। उनको लोग केवल रोटी ही नहीं, अतिथि के नाते आदर भी देते हैं, किन्तु इस प्रकार की भावना का दर्शन बड़े शहरों में नहीं मिलता। शहरी जीवन पर पश्चिमी वातावरण का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। धर्म से सम्बन्धित कर्म का दर्शन बहुत ही कम मात्रा में वहाँ देखने को मिलेगा। विकास एवं नवीनता के नाम पर लोग कर्मात्मा के स्तर से भी नीचे गिरते जा रहे हैं। इसमें कारण है वैदिक विज्ञान के प्रति जानकारी और आस्था का अभाव।

पश्चिम के समाजशास्त्रियों ने सामाजिक विज्ञान के नाम पर एक बहुत ही उथला तथा घटिया किस्म का जीवन के प्रति दृष्टिकोण दिया है। उनके विचारानुसार जीवन माता की गोद से प्रारम्भ होकर श्मशान में समाप्त हो जाता है। जन्म के बाद और मृत्यु से पहले की घड़ियों का नाम ही जीवन है। जीवन जन्म से पहले नहीं था और मृत्यु के बाद भी नहीं रहेगा। जीवन के प्रति यह भौतिकवाद का सिद्धान्त है। इस विचारधारा में पाप और पुण्य, लोक और परलोक के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी मान्यता है कि इस जीवन को जितनी सुख-सुविधा और ऐश-आराम के साथ जीया जाए उतना ही सार्थक है। ऐश-आराम का साधन भौतिक पदार्थ हैं, इसलिए जीवन की महत्ता का वही मापदण्ड है। इस विचारधारा में समाज के प्रति कर्तव्य की व्याख्या करते हुए बताया गया है—क्योंकि व्यक्ति अपनी सारी सुख-सुविधा के साधन अकेले नहीं जुटा पाता, उसके सुख-सुविधा की प्राप्ति में दूसरे लोग भी सहयोगी होते हैं इसलिए उन लोगों का भी स्वस्थ और सुखी रहना आवश्यक है, जिनके द्वारा हमें सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध होते हैं। जिससे हमें सुख मिलना है यदि वह दुःखी होगा तो हमें सुख नहीं दे सकेगा, इसलिए उसे भी सुखी रखना जरूरी है।

जैसे किसी स्त्री को पुरुष से और पुरुष को स्त्री से विषय-भोग का सुख प्राप्त

होता है, इनमें से यदि कोई भी दुःखी होता है तो एक-दूसरे के सुख मे सहायक नहीं बन सकते। यही दृष्टि सभी सम्बन्धों और समाज के सभी व्यक्तियो के प्रति होती है। इस तथाकथित वैज्ञानिक भौतिकवादी विचारधारा में आत्मीयता एवं प्रियता के लिए कोई स्थान नहीं है, दूसरे के हित में स्वयं के समर्पण का कोई महत्त्व नहीं है। जिनसे अपने को सुख मिलने की सम्भावना है, सुविधा मिलने की सम्भावना है, केवल उन्हीं के सम्मान की उपयोगिता समझी जाती है। यह विचारधारा सर्वथा आसुरी है, अवैदिक है, अमानवीय है। दुर्भाग्य से भारतीय जन-जीवन में भी इसका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। यह एक गम्भीर चिन्ता का विषय है।

वैदिक विज्ञान में समाज सर्वेश्वर का स्वरूप है, उसकी सेवा और सँभाल स्वार्थ पूर्ति के लिए नहीं, ईश्वर की अर्चना की दृष्टि से करनी चाहिए, यही वेदान्त की सीख है। ''माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'' भूमि मेरी माँ है एवं मैं उसका पुत्र हूँ', इस प्रकार की भावना में विश्व की मानवता के साथ भ्रातृत्व की उद्भावना का जागरण होता है। हम सभी एक पिता की सन्तान, एक माँ की संतति हैं इसलिए हमें एक-दूसरे के हित में ही सदैव प्रयत्नशील रहना है। वैदिक समाज रचना की यही आधारभूमि है।

हमारे यहाँ वैदिक विचारधारा के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं—शैव तथा वैष्णव। शैव विचारधारा मूलतः अध्यात्मवादी है। इसमें आत्मा ही सर्वरूपों में प्रकट है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। हम दूसरे को इसलिए सुखी बनावें कि वे हमारे ही अपने स्वरूप हैं, ऐसी उसकी सीख है। दूसरी विचारधारा वैष्णव की है जिसमें परमात्मा ही सर्वरूप में प्रकट है, सबकी सेवा ही परमात्मा की पूजा है, इस प्रकार की भावना को उद्भावित किया जाता है। वैष्णव सिद्धान्त में ही पिता और पुत्र की भी उद्भावना की गई है। गीता के १४ वें अध्याय में भगवान् ने स्वयं इसकी घोषणा की है—

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता । (गीता १४।४)

''यह प्रकृति समस्त प्राणियों की माँ है और मैं सबका पिता हूँ'', इस भावना की प्रतिष्ठा से समस्त प्राणियों के प्रति भ्रातृभाव का उदय होता है। चाहे सर्वरूप में अपनी आत्मा की अनुभूति करें वा सभी प्राणियों को परमात्मा की संतति स्वीकार करें। सर्वहित में स्वयं को समर्पित करने की दृष्टि का विकास दोनों से ही हो जाता है।

पश्चिम का कथन है 'जीओ और जीने दो'। वैदिक विज्ञान कहता है 'जीओ दूसरों के लिए'। वेदान्त की दृष्टि से सर्वरूप में ईश्वर ही परिव्याप्त है इसलिए उसकी अर्चना में स्वयं को निरत रखना ही धर्म है। एक ईश्वर की सन्तान होने से सभी भाई-बहन हैं, इस दृष्टि से समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझते हुए सभी के लिए सुख-सुविधा में सहयोगी होना धर्म मानता है। वेदान्त कहता है सर्वरूप में एकात्मा की अनुभूति

ही सच्चा ज्ञान है, इसलिए सबकी सेवा अपनी ही सेवा है, सबकी सँभाल अपनी ही सँभाल है, सबके प्रति प्यार आत्मा के प्रति प्यार है। वेद का कथन है—

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् ।

भूमा में ही सुख है, विस्तार में ही सुख है, व्यापकता में ही सुख है। अल्प में सुख नहीं, संकीर्णता में सुख नहीं, सीमा में सुख नहीं। भूमा की व्याख्या में उपनिषद् कहती है—जहाँ पूर्णरूप से द्वैत का अभाव है वही भूमा है। इसलिए वैदिक विज्ञान पर आधारित समाज रचना सीमा नहीं, भूमा का उपदेश देती है। सीमा मे बन्धन और दुःख है जबकि भूमा में स्वतन्त्रता एवं अमृतत्व **''भूमैवऽमृतम्''** भूमा में ही अमृत है। व्यापकता में ही जीवन है, सुख है, शान्ति है, यही उत्थान की सही दिशा है, उन्नति का मापदण्ड है, यही भारतीय संस्कृति-सभ्यता का मूलाधार है, यही धर्म की धारणा तथा धर्म का सही मार्ग है। इस दृष्टि को अपनाकर ही आप लोग कर्मात्मा से ऊपर उठेंगे और धर्मात्मा, महात्मा, विश्वात्मा की अवस्थाओं को पार करते हुए अन्त में परमात्मा में लय हो परमात्मा हो जाएँगे।

जिससे आपको किसी प्रकार के लाभ की कामना नहीं, जिससे आपके शरीर और इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं, जिससे बदले में कुछ पाने की चाह नहीं, उन लोगों के हित के लिए अपनी आय का कुछ अंश लगावें, अपने परिश्रम का उनके लिए भी उपयोग करें, यहीं से धर्म की साधना का प्रारम्भ होगा। प्राचीनकाल में यह व्यवस्था थी कि अपनी आय का दशांश, जिसे पंजाबी में दसौंध कहते हैं, धर्मार्थ समर्पित करें, दूसरे के हित में, दूसरे की उन्नति में प्रयोग करें। यहाँ से धर्म की साधना का श्रीगणेश होगा। कर्मार्थ तो आपका सारा जीवन ही लग रहा है। अपनी शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता का प्रयोग समझदारी के साथ भी आप कर्मार्थ ही करते रहे हैं। इस कर्मार्थ वृत्ति से आपका उत्थान नहीं होने का, आपका आन्तरिक विकास नहीं होने का, इसलिए जीवन का कुछ अंश धर्मार्थ प्रयोग करने की आदत डालें, यही उन्नति का मार्ग है, यही उत्थान का रास्ता है। वेद इसी के लिए आदेश देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।

यहाँ कर्म शब्द धर्म के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है क्योंकि आगे वेद का कथन है **''एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति''** इसके सिवा तुम्हारे लिए अन्य कोई दूसरा रास्ता नहीं है, **''न कर्म लिप्यते नरे''** हे नर! कर्म तुम्हारे में लिप्त नहीं होगा। नर होने से तू द्रष्टा है, स्वामी है, नेता है इसलिए तुम कर्म के अधीन नहीं। वेद के इस मन्त्र का सतत चिन्तन-मनन करते हुए धर्म मार्ग का अवलम्बन लेकर यथार्थतः आत्मोत्थान की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।

वैदिक साहित्य विज्ञानत्रयी का कोष है—ब्रह्मविज्ञान, जीवन विज्ञान तथा कर्म विज्ञान। ब्रह्मविज्ञान जीवन के कारण तथा उसके स्वरूप की विवेचना करता है,

जीवन-विज्ञान जीव के स्वरूप तथा उसके लक्ष्य की व्याख्या करता है और कर्म-विज्ञान हमें कर्म के प्रयोजन, उसके स्वरूप तथा करने की विधि की व्यवस्था देता है। इसको यदि समग्र रूप से समझ कर अपने विकास की दिशा में आप सब प्रयत्न करेंगे तो आपका भी हित होगा और जिस समाज में, राष्ट्र में, वातावरण में आप रहते हैं, उसका भी हित होगा। किसी कार्य को करते समय केवल इतना ही न सोचें कि इससे आप को भौतिक लाभ क्या होगा, हरेक काम भौतिक लाभ के लिए ही नहीं होता। उससे भी अधिक मूल्यवान आध्यात्मिक उन्नति और आन्तरिक शान्ति है जो कि लोक हितार्थ कार्य-कर्मों का सम्पादन करने से ही सधती है। आप अच्छाई कर रहे हैं, यदि इतना ही समझ कर आप लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री मानते हैं तो यह धर्मात्मा की भावना नहीं है। आपकी कोशिश होनी चाहिए कि स्वयं अच्छा बने, अच्छा करें और साथ दूसरों को भी अच्छा बनने और करने की प्रेरणा और सहयोग प्रदान करें, यही वेद की सीख है। वेद स्वाध्याय के साथ ही प्रवचन का भी आदेश देता है और कहता है—

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । (तैत्तिरीय० १।११)

स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय शब्द का अभिप्राय है वेद, शास्त्र और सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा आत्म निरीक्षण और प्रवचन का अभिप्राय है जो सुने हैं, समझे हैं, जाने हैं उसका दूसरों के प्रति विवेचन। यानी अपने सुने, समझे और अनुभव किए हुए ज्ञान से दूसरों को भी समझा कर जाग्रत करना, लाभान्वित करना। ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखना, अपने लिए ही प्रयोग करना धर्म नहीं, उससे दूसरों को भी लाभान्वित करना धर्म है। गीता के अन्त में भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। (गीता १८।६८)

"जो पुरुष मेरे में परम भक्ति करता हुआ इस परम गुह्य गीता शास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, समझावेगा, इसका प्रचार करेगा वह निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा।" इस श्लोक में भगवान् ने अपने दिव्य ज्ञान को केवल अध्ययन और मनन करने का उपदेश ही नहीं दिया है, बल्कि जिज्ञासु भक्तों में उसको प्रवचन करके समझाने का भी उपदेश दिया है और बताया है कि ऐसा कार्य करने वाला मेरा अनन्य भक्त है और वह मुझे ही प्राप्त होगा। इससे अगले श्लोक में कहा है—

न च तस्मांन्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। (गीता १८।६९)

और "न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वी पर दूसरा कोई होवेगा।" इस श्लोक

में भगवान् ने गीता ज्ञान के प्रचार-प्रसार करने वाले को अपना अत्यन्त प्रिय कार्य करने वाला बताया है और साथ ही यह भी कहा है कि वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, उससे अधिक प्यारा मुझे कोई और नहीं होगा। क्योंकि भगवान् का अवतार दुष्टता का दमन, सज्जनता की वृद्धि और धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ करता है और गीता-ज्ञान के प्रचार-प्रसार द्वारा ये तीनों ईश्वरीय कार्य स्वयं ही हो जाते हैं। इस प्रकार से ईश्वरीय कार्य में सहयोग देने वाला स्वभावतः ही ईश्वर को अत्यन्त प्रिय होगा, इसमें सन्देह नहीं और वह ज्ञानीभक्त प्रभु को कितना प्रिय होता है, इस सम्बन्ध में सातवें अध्याय में कहा है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। (गीता ७।१८)

''यद्यपि मेरे सभी भक्त उदार हैं किन्तु ज्ञानी तो मेरी ही आत्मा है, ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह सदैव मेरे से एक हुआ अति उत्तम गति स्वरूप मेरे में ही सब प्रकार से स्थित है।''

इससे आप लोग समझ गए होंगे कि स्वयं को सत्कर्म में निरत रखना ही पर्याप्त नहीं है। धर्म की सीख है कि तुम दूसरों को भी सत्कर्म की तरफ प्रेरित करो, मनुष्य होने के नाते तुम्हारा यह परम कर्तव्य है। जैसे पिता के कार्य में हाथ बटाने वाले पुत्र को पिता स्वयं अपना स्वरूप समझता है और उसे अत्यन्त प्यार करता है, ठीक उसी प्रकार से जो लोग मानव समाज को सुन्दर-सुव्यवस्थित बनाने के लिए धर्म की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार में निरत रहते हैं, वे प्रभु को अत्यन्त प्रिय होते हैं। इसलिए प्रत्येक समझदार व्यक्ति को चाहिए कि इस विश्व में **''सत्यं-शिवं-सुन्दरम्''** की प्रतिष्ठा करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे क्योंकि यह परमात्मा का कार्य है। वह इसी के लिए समय-समय पर धराधाम पर अवतरित होता रहता है। आज तक विश्द में जितने महापुरुष हुए हैं वे सभी स्वयं को परमात्मा के इस कार्य की पूर्ति में ही समर्पित किए हुए थे। इस विषय में यह नहीं सोचना चाहिए कि इसे करने से हमें क्या मिलेगा, परमात्मा की प्रियता से बढ़कर और जीवन की क्या उपलब्धि हो सकती है! धर्म पथ पर चलने से और दूसरों को उस पर चलने की प्रेरणा देने से परमात्मा का प्यार मिलता है, उससे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है! तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने जिस दिव्य ज्ञान की अनुभूति कर, संग्रह कर, अनेक सद्ग्रन्थों के रूप में मानव-समाज को प्रदान किया, भला, उसके बदले में उन्हें क्या चाहिए था? वे अपने में पूर्ण थे, तृप्त थे, आनन्दित थे। उन्हें किसी भी प्रकार का किसी से कोई प्रयोजन नहीं था और उनके लिए कोई कर्तव्य भी शेष नहीं था किन्तु फिर भी उन्होंने इस महान् कार्य को किया जिससे कि आज हम दिशा प्राप्त कर लाभान्वित हो रहे हैं।

यह बात याद रखें जिसको संसार से कुछ नहीं चाहिए उसका संसार के प्रति

कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी भगवान् गीता में उपदेश देते हैं कि यदि तुम्हें किसी से कुछ नहीं चाहिए, तुम अपने में आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट हो फिर भी तुम्हें–

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि । (गीता ३।२०)

लोक कल्याण के लिए धर्मकार्य का अनुष्ठान करना ही चाहिए क्योंकि वह तुम्हारा कार्य परमात्मा के कार्य में एक प्रकार का सहयोग होगा और उससे तुम परमात्मा की प्रियता को प्राप्त कर पाओगे। दुनिया से दुष्टता का दमन हो, सज्जनता की वृद्धि हो, धर्म की प्रतिष्ठा हो, इस प्रकार के कार्य में तुम्हें सदैव निरत रहना चाहिए। जो अपने कल्याण के साथ ही सुन्दर समाज के निर्माण के लिए सतत् कर्म मे लगे रहते हैं उनमें यह कर्म लिपायमान नहीं होता, यह वेद का आदेश है **''न कर्म लिप्यते नरे''**। जिस कर्म को करने में आसक्ति है, जिसके बदले में कुछ चाहते हैं, वही कर्म आपसे चिपटता है, आप में लिप्त होता है किन्तु जो परमात्मा की आराधना समझकर लोक कल्याण के लिए करते हैं, वह कर्म आप में लिप्त नहीं होता। इस बात का सदैव ध्यान रखें कि–

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीरा सम नहिं अधमाई ।।
निर्नय सकल पुरान वेद कर । कहउँ तात जानहि कोविद नर ।।

प्रभु श्रीराम का कथन है कि सम्पूर्ण वेद, पुराण, शास्त्र का यह निर्णय है और इस सत्य को त्रिकालज्ञ विद्वान् मनुष्य जानते हैं कि परहित के समान कोई धर्म नहीं है और परपीड़ा के समान कोई पाप नहीं है। परहितमय कर्म ही धर्म है इसलिए आप लोग ईशोपनिषद् के इस दूसरे मन्त्र का चिन्तन करते हुए, कर्मयोगमय धर्म का अनुष्ठान करते हुए, अपने कल्याण के साथ ही सुन्दर समाज के निर्माण मे सदैव यत्नशील रहें। कभी भी भूलकर वा बन्धन के भय से कर्म में प्रमाद न करें, यही इस मन्त्र में वेद का आदेश है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

□□

१०

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

ईशोपनिषद् के तीसरे मन्त्र में उन लोगों की गति का वर्णन है जो कर्म और धर्म दोनों से ही विमुख हैं, जो विकर्म और अधर्म में रत हैं। उनकी मृत्यु के पश्चात् क्या गति होती है, वे किस अवस्था को प्राप्त होते हैं, इसका वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। वेद प्रतिपादित कर्म के विरुद्ध आचरण करना विकर्म है और लोकहित के विरुद्ध आचरण करना अधर्म है। इसको और स्पष्ट रूप से आप लोग समझ लें। जिस क्रिया से आपका उत्थान होता है वह कर्म है, जिस क्रिया से आपका पतन होता है वह विकर्म है। जिस क्रिया से आप दूसरे का हित करते हैं वह धर्म है किन्तु जिस क्रिया से आप दूसरे का अहित करते हैं वह अधर्म है। इससे आप लोग समझ गए होंगे विकर्म के द्वारा आप अपने को दुःखी बनाते हैं और अपना पतन करते हैं तथा अधर्म के द्वारा आप समाज को दुःखी बनाते हैं। इसके लिए एक और सीधा-सा उदाहरण आप समझ लें। जैसे आप देव उपासना करते हैं, उससे आपका उत्थान होता है, यह वेद विहित कर्म है किन्तु यदि आप भूत-प्रेत की उपासना करते हैं, कब्रादि पूजते हैं तो यह विकर्म है, निषिद्ध कर्म है, इसके द्वारा दूसरे की हानि तो नहीं होती किन्तु आपका अपना पतन होता है। इसी प्रकार से निषिद्ध आहार आदि का भी परिणाम होता है, यह सब विकर्म के स्वरूप हैं। आपके विकर्म से दूसरों की कोई हानि नहीं केवल आपका पतन होता है। अधर्म वह है जिससे आप अपने पतन के साथ ही समाज के लिए भी दुःखदाई बनते हैं। असत्य, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि क्रियाओं के द्वारा आप अपना पतन ही नहीं बल्कि दूसरे को भी पीड़ित करते हैं, यह अधर्म है। मनुष्य के लिए वेद का आदेश है कि प्राप्त सामर्थ्य द्वारा अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण करे। इसके लिए शास्त्र में सत्कर्म और सद्धर्म की सीख दी गई है। जो इनका अनुष्ठान करता है, उसका लोक और परलोक दोनों ही बन जाता है, वह दोनों को ही संवार लेता है। किन्तु जो लोग सत्कर्म और सद्धर्म का अनुष्ठान नहीं करते, सदैव विकर्म और अधर्म में ही लगे रहते हैं, ऐसे लोगों की क्या गति होती है, इसका विवेचन करते हुए ईशोपनिषद् का तीसरा मन्त्र कहता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता: ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥
असुर्या नाम लोका: ते अन्धेन तमसा आवृता: ।
ये के च आत्महन: जना: ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति ॥

असुरों की प्रसिद्ध विभिन्न प्रकार की योनियाँ तथा जो दु:ख रूप लोक हैं, वे सभी अन्धकार से, अज्ञान से आच्छादित हैं, जो कोई आत्महत्यारे वा आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हैं, वे मर कर उन्हीं अन्धकारमय लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं।

सत्कर्म और सद्धर्म का परिणाम सुखमय स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करना है, अनासक्त भाव से किया जाने पर वही धर्मात्मा, महात्मा, विश्वात्मा ही नहीं बल्कि परमात्मा पद को भी प्राप्त करा देता है। किन्तु उसके विपरीत राह पर चलने वालों की क्या गति होती है, उसका वर्णन वेद के इस मन्त्र में किया गया है। इस मन्त्र में वेद विपरीत आचरण करने वालों को "**आत्महनो जना:**" आत्मा की हत्या करने वाले लोग, ऐसा कहा गया है। एक बात यहाँ याद रखनी है कि जो लोग दूसरों की हत्या करते हैं, उनके लिए प्रायश्चित्त है, वे लोग प्रायश्चित्त करने से, पश्चात्ताप करने से अपने पाप का प्रक्षालन कर सकते हैं; किन्तु जो आत्महत्यारे है, उनके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं, वे तो मृत्यु के पश्चात् प्रकाशहीन घोर अन्धकार से परिपूर्ण उन लोकों में, उन योनियों में ही जाएँगे। यहाँ "**असुर्या नाम ते लोका**" का अभिप्राय है वह असुरों का प्रसिद्ध लोक, वह ज्ञानरहित योनि जो "**अंधेन तमसा आवृता:**" जो घोर अन्धकार रूपी तम से आवृत है, ढका हुआ है, जहाँ प्रकाश की एक किरण भी नहीं पहुँचती, ऐसा घोर अन्धकारमय जो असुरों का प्रसिद्ध लोक है "**ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति**" वे लोग मर करके उस लोक में ही जाते हैं। कौन लोग जाते हैं? इस जिज्ञासा पर वेद कहता है "**ये के च आत्महन: जना:**" जो लोग आत्महत्यारे हैं। आत्महत्यारा कौन है? इस विषय में गीता में भगवान् कहते हैं—

नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय: । (गीता १६।९)

अल्प बुद्धि वाले ही नष्ट आत्मा हैं, वे ही अपनी आत्मा का नाश करते हैं, वे ही आत्महत्यारे हैं। वे अपनी आत्मा का उद्धार नहीं करते बल्कि उसे नष्ट करते हैं, डुबो देते हैं। आत्मनाश के साधन क्या हैं? इस सम्बन्ध में प्रभु का कथन है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन: ।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ (गीता १६।२१)

काम, क्रोध तथा लोभ, ये तीन प्रकार के नरक के द्वार और आत्मा का नाश करने वाले हैं। इससे इन तीनों को ही त्याग देना चाहिए, ऐसा भगवान् का कथन है। काम, क्रोध और लोभ में पड़ा हुआ प्राणी ही विकर्म में वा अधर्म में प्रवृत्त होता है और

इनके आचरण से ही वह अपनी आत्मा का नाश कर देता है, उसे अधोगति में लाकर ढकेल देता है।

गीता का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य या तो अपनी आत्मा का अपने द्वारा उद्धार करता है या पतन। जो लोग सत्कर्म, सद्धर्म के अनुष्ठाता हैं, वे तो आत्मा का उद्धार करते हैं, जो लोग काम-क्रोध-लोभादि में फँसकर उनकी प्राप्ति और पूर्ति के लिए विकर्म वा अधर्म का आश्रय लेते हैं, वे आत्मा का पतन करने वाले आत्महत्यारे हैं। वैदिक सिद्धान्त में आत्मा की सत्ता ही सर्वोपरि है। उसमें बताया गया है कि आत्मा के नाते ही जगत् के सम्पूर्ण पद और पदार्थ महिमावान् हैं, प्रिय हैं। यदि आत्मा की अपेक्षा किसी अन्य की महिमा स्वीकार की जाती है तो उससे आत्मा का हनन होता है। गम्भीरता से विचार करने पर आप लोग इसे समझ सकते हैं। विश्व में जो कुछ मूल्यवान् और भोगमय पदार्थ हैं, उनकी सत्ता, उनकी महत्ता किससे है? क्या आत्मा के अभाव में हीरा, मोती, सोना, वस्त्राभूषण आदि सम्पूर्ण शृङ्गार एवं अलङ्कार के साधन अपना कोई मूल्य रखते हैं? यदि इस शरीर में आत्मा न हो तो देवदुर्लभ इस मनुष्य शरीर का ही कोई मूल्य नहीं रह जाता; तो विश्व के अन्य पद-पदार्थों की क्या चर्चा! विश्व का विशाल वैभव तथा पृथ्वी पर्यन्त राज्य, असीम भोग-सामग्रियाँ, ये सब कुछ आत्मा के अभाव में शून्य के समान हैं। जिस आत्मा से इन सबकी महिमा है, जिसके नाते ये सभी महिमावान्, मूल्यवान् बने हुए हैं, यदि आप उसकी महत्ता नहीं समझते, उसका आदर नही करते, पद-पदार्थ के प्रलोभन में सुखभोग के साधनों के नीचे उसे दबा देते हैं, तो आत्महत्यारे हैं। जो व्यक्ति आत्मा की अपेक्षा इस विश्व में किसी भी वस्तु को, स्थिति को अधिक महत्त्व देता है, वह आत्मा की हत्या करता है, आत्महत्यारा है। श्रुति कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।। (बृहदा० २।४।५)

"अरे! सबकी कामना के लिए सब प्रिय नहीं होते; आत्मा की तृप्ति के लिए सब प्रिय होते हैं।" आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है, आत्मा ही सर्वपूज्य है। यदि आपका कोई पूज्य है, जिसके प्रति आपका आदर है, श्रद्धा है, जो आपके लिए माननीय है, वन्दनीय है, उसके समक्ष आप यदि छोटी-सी तुच्छ वस्तु को अधिक महत्त्व देते हैं, तो आप उस अपने पूज्य का अपमान करते हैं। शास्त्र की दृष्टि में पूज्य का अपमान करना उसकी हत्या के ही समान है।

महाभारत के कर्ण पर्व में एक कथा आती है। धर्मराज युधिष्ठिर कर्ण के वाणों से बिंधकर, घायल होकर पड़ गए। भगवान् कृष्ण के साथ अर्जुन उन्हें देखने आया। अर्जुन को देखते ही धर्मराज यह समझ कर कि अर्जुन कर्ण का वध करके आया है, उसकी प्रशंसा करने लगे। अर्जुन ने उनकी बात सुनकर, उनसे यह कहते हुए कि

आपके इस अपमान का बदला मैं अवश्य लूँगा, आज ही मैं कर्ण का वध करूँगा, आज्ञा माँगी। जब धर्मराज को यह ज्ञात हुआ कि कर्ण अभी जीवित है तो उन्हें बहुत दुःख हुआ और व्यथित होकर वह अर्जुन से बोले—तू कायर है! कर्ण से भयभीत होकर तू युद्ध से भाग आया है, तुम्हें धिक्कार है! तुम्हारे इस गांडीव धनुष को धिक्कार है! अब यह तू अपना धनुष किसी और वीर को दे दे! इतना सुनना था कि अर्जुन ने म्यान से तलवार निकाल ली और धर्मराज का वध करने के लिए उद्यत हो गया। भगवान् कृष्ण अर्जुन को मना करते हुए बोले—तू यह क्या करने जा रहा है? अर्जुन ने कहा—भगवान्! मैंने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि यदि कोई मुझे यह कहेगा कि तुम अपना गाण्डीव किसी दूसरे वीर को दे दो तो मैं उसका वध कर डालूँगा। आज धर्मराज ने मुझे इस प्रकार की बात कही है, इसलिए यह मेरे वध्य हैं। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए इनका वध करना मेरे लिए अनिवार्य है।

अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान् ने बड़े ही कठोर शब्दों में उसे फटकारा और कहा कि तुम अज्ञानी और अर्धशिक्षित हो, तुम्हें धर्मशास्त्र का यथार्थ बोध नहीं है। तुम धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य के मर्म को अभी नहीं जानते। कर्ण पर्व के उस प्रसंग में भगवान् ने सत्य क्या है और असत्य क्या है, धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इसकी बड़ी ही सुन्दर एवं सूक्ष्म विवेचना की है और समझाया है कि सत्य वही है जिससे प्राणिमात्र का हित हो। यदि सत्य बोलने से किसी की हानि होती है, किसी को दुःख मिलता है या किसी की हिंसा होती है तो वहाँ पर असत्य बोलना ही धर्म है। भगवान् की बातें सुनकर अर्जुन बहुत ही लज्जित हुआ और प्रार्थना करते हुए कहा—प्रभो! आप कोई ऐसा उपाय बता दीजिए जिससे मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी हो जाए और धर्मराज की प्राण-हानि भी न हो। अर्जुन की प्रार्थना पर प्रभु ने बताया कि अथर्ववेद की श्रुति यह कहती है कि ''गुरुजनों को 'तू' कह करके सम्बोधित करना, उनकी हत्या के ही बराबर है, क्योंकि पूज्यजनों का अपमान उनकी हत्या से भी अधिक दुःखदायी होता है।''

मैं आप लोगों को यह बता रहा था पूज्यजनों, गुरुजनों का अपमान ही उनकी हत्या है। इस शरीररूपी नगर में आत्मा ही परम पूज्य है, समस्त इन्द्रिय रूपी देवताओं का स्वामी है, इसलिए उसे महादेव कहते हैं। अथर्ववेद की श्रुति कहती है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुर्योध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

(अथर्व० १०।२।३१, ३२)

देवताओं की शरीररूपी अयोध्या नगरी है, इसमें आठ चक्र और नौ द्वार हैं, इसमें

सुनहरी कोश है, जो स्वर्ग-तेज से घिरा हुआ है। इस तीन अरों वाले, तीन आधार वाले सुनहरी कोश में जो आत्मस्वरूप सर्वपूज्य है, उसको निःसन्देह ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। इस मन्त्र में **''यक्षमात्मन्वत्''** पद जो है सर्वपूज्य आत्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यक्ष शब्द का अर्थ होता है पूज्य। वह परमपूज्य आत्मरूप से ही इस शरीर में विराजित है और आत्म-अवसादन, आत्मपतन, आत्मा का अपमान ही आत्म-हनन है। इस प्रकार से जो लोग आत्महनन करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् प्रकाश से शून्य, घोर-अन्धकारमय लोकों को प्राप्त करते हैं। उपनिषद् का यह मन्त्र मनुष्य को सावधान करते हुए यह निर्देश दे रहा है कि आत्महनन से अनन्त काल के लिए घोर अन्धकारमय योनियों को प्राप्त करना होगा, इसलिए इस आत्महत्यारूपी जघन्य कार्य से बचो। बृहदारण्यक की श्रुति कहती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निधिध्यासितव्यः।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मया विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥

(बृ० २।४।५)

याज्ञवाल्क्य कहते हैं—''अरी मैत्रेयी! आत्मा ही देखने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निश्चयपूर्वक ध्यान करने योग्य है। आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विशेष ज्ञान से यह सारा रहस्य जाना हुआ हो जाता है। जिस आत्मा की इतनी महिमा है उसका अपमान करके, उसका तिरस्कार करके यदि आप किसी अन्य अनात्म-तत्त्व को महत्त्व देते हैं तो आप आत्महनन करते हैं, आत्महत्यारे हैं। यह आसुरी वृत्ति है, इसलिए आत्महत्यारे को असुरों का ही प्रसिद्ध लोक प्राप्त होता है।

असुर किसे कहते हैं, यहाँ यह भी समझ लेना है। जो आत्मा को अस्वीकार कर संसार के पद-पदार्थ को सर्वस्व समझते हैं, वे विषयासक्त इन्द्रियारामी मनुष्य असुर कहे जाते हैं। **''असुषु रमन्ते इति असुरः''** जो प्राण में रमण करने वाला है, वह असुर है। यहाँ प्राण शब्द का अभिप्राय प्राणमयकोश वा इन्द्रियसमूह है। जो इन्द्रियों में रमण करने वाला इन्द्रियारामी है, वह असुर है। गीता में भगवान् ने इन्द्रियारामी असुरों के लिए कहा है—

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति। (गीता ३।१६)

हे अर्जुन! वह इन्द्रियपरायण, पापमय आयु बिताने वाला पुरुष व्यर्थ में ही जीता है। अभिप्राय यह है कि ऐसे पुरुष का मर जाना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह जब तक जीवित रहेगा पाप की ही वृद्धि करता रहेगा। ऐसे व्यक्ति का जीवन स्वयं के लिए और समाज के लिए भी घातक होता है, क्योंकि बुराई करने वाला स्वयं तो पतन के गर्त में जाता ही है, कुछ अन्य लोगों को भी बुराई की राह पर चलने के लिए प्रेरित करता है।

मनुष्य-जीवन पशुता और देवत्व, बुराई और अच्छाई, दोनों प्रकार के संस्कारों से युक्त होता है। बाल्यकाल में वे संस्कार प्रसुप्तावस्था में होते हैं, किन्तु युवावस्था में जिस प्रकार के संस्कारों की पुष्टि का साधन मिलता है, वे ही पुष्ट होकर, प्रबल होकर, मनुष्य के जीवन में सक्रिय हो जाते हैं। बुरे लोगों की संगत में पड़कर पशुता के संस्कार, पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और व्यक्ति के जीवन को नारकीय पथ पर ढकेल देती हैं; किन्तु सत्संग की प्राप्ति होने पर दैवी संस्कार वा दैविक वृत्तियाँ परिपुष्ट एवं प्रबल हो जाती हैं और मनुष्य को देवत्व की प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त कर देती हैं।

जीवन के इस सूक्ष्म विश्लेषण से आप लोग समझ गए होंगे कि आसुरी वृत्ति वाले पापायु व्यक्तियों का समाज में होना दूसरों के लिए भी कितना घातक एवं अहितकर होता है। इसलिए प्रभु कहते हैं कि उनका जीना व्यर्थ है, उनके लिए तथा समाज के लिए भी उनकी मृत्यु ही श्रेष्ठ है। एक स्वार्थी व्यक्ति को देखकर दूसरे में भी स्वार्थ सिद्धि की कामना जागृत होती है, लोभी से लोभ की, क्रोधी से क्रोध की और कामी से काम की ही प्रेरणा मिलती है। इसलिए आत्मोत्थान के अभिलाषी को चाहिए कि इस प्रकार से आत्महनन में निरत, आसुरी वृत्ति वाले मनुष्यों से सदैव दूर रहे, अन्यथा उसमें अनजाने में ही आसुरी संस्कारों का प्रभाव बढ़ने लगेगा और एक दिन वह भी उसी रास्ते पर चल पड़ेगा। वेद के इस मन्त्र को ध्यान में रखने वाला, असुरों के परिणाम को जान लेने, समझ लेने से उससे सतर्क रहेगा, सावधान रहेगा, इसलिए मनुष्य को सत्पथ पर चलने की सीख देने के लिए ही श्रुति इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए घोषणा करती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

शास्त्र में मनुष्यों को तीन भागों में विभाजित किया गया है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

बिषई साधक सिद्ध सयाने ।
त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥

विषयी, साधक और ज्ञानवान् सिद्ध, ये तीन प्रकार के जीव होते हैं, ऐसा वेद कहता है। दर्शनशास्त्र की भाषा में उन्हें ज्ञानमार्गी, मर्यादामार्गी एवं प्रवाहमार्गी कहा गया है। तत्त्ववेत्ता सिद्धजन ज्ञानमार्गी हैं। वे अच्छाई और बुराई, उचित और अनुचित, धर्म और अधर्म के रहस्य को समझते हैं, इसलिए वे समाज के लिए मार्गदर्शक एवं प्रकाश-स्तम्भ होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं, करते हैं, वही धर्म है। गोस्वामी जी ने अपनी रामायण में महात्मा भरत के लिए कहा है—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई ।
धरम सारु जग होइहि सोई ।।

''जो तुम समझोगे, कहोगे, करोगे, जगत् में वही धर्म का सार होगा।'' वे धर्म-रहस्य के ज्ञाता ज्ञानमार्गी कहे जाते हैं। दूसरे मर्यादामार्गी हैं; वे सिद्ध नहीं, साधक हैं इसलिए अपने ज्ञान से नहीं, गुरु और शास्त्र की आज्ञानुसार धर्म का अनुष्ठान करते हैं। उनके लिए शास्त्र और गुरुवाक्य ही परम प्रमाण होते हैं; उनके आदेशानुसार मर्यादा का पालन करते हुए लक्ष्य की ओर सदैव अग्रसर होते हैं। हमारे यहाँ बोलचाल की भाषा में उन्हें गुरुमुख कहा जाता है। वे लोग गुरुमानी से ही काम लेते हैं और सुपथ पर चलते हुए अपने कल्याण का सम्पादन करते हैं।

तीसरे प्रकार के लोग वे हैं जिन्हें शास्त्र में विषयी कहा जाता है। वे विषयी जीव न तो ज्ञानमार्गी हैं और न मर्यादामार्गी ही, उन्हें प्रवाहमार्गी कहा जाता है। ज्ञानमार्गी बुद्धिमानी से काम लेता है, मर्यादामार्गी गुरुमानी से बात करता है, किन्तु ये प्रवाहमार्गी न तो बुद्धिमानी से काम करते हैं न गुरुमानी से, ये सदैव मनमानी से ही काम करते हैं। ज्ञानमार्गी आत्ममुखी है, मर्यादामार्गी गुरुमुखी है और प्रवाहमार्गी सदैव मनमुखी हुआ करते हैं—ऐसे लोगों के लिए ही शास्त्रकारों ने पशु की संज्ञा दी है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना ।

ऐसे लोगों में मनुष्यता का अभाव होता है। मनुष्य का प्रमुख लक्षण है, 'मननशीलता'। **'मननात् मनुष्यः'** मनन करने से ही मनुष्य है। किन्तु प्रवाहमार्गी सदैव विषयों के प्रवाह में ही बहते रहते हैं। इनमें मनन करने की, चिन्तन करने की, हित-अहित को समझने की क्षमता नहीं होती। वे पाशविक वृत्ति में ही सदैव जीते हैं। **''पश्यति इति पशु''** देखता है इसलिए यह पशु है। अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति संसार के पदार्थों को देखकर, बिना सोचे-समझे, उसके लिए विमुग्ध हो जाता है, उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता बिना समझे, पाने के लिए आतुर हो जाता है, वह मनुष्य नहीं, मनुष्यरूप में पशु है। ऐसे विषयी लोगों को ही प्रवाहमार्गी कहा जाता है। प्रवाह कहते हैं धारा को। प्रवाहमार्गी माने धारा के साथ बहने वाले; संसार के प्रवाह में उछलते-डूबते, चीखते-चिल्लाते हुए जो बहे जा रहे हैं; जो इससे पार होने के लिए, मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं, वे ही प्रवाहमार्गी हैं। संसार में अधिकांश लोग प्रवाहमार्गी ही होते हैं। ऐसे लोगों के लिए वेद कहता है, वे आत्महत्यारे हैं, वे जीते हुए भी मृत के समान हैं।

यदि नदी की धारा में किसी जीवित प्राणी को डाल दिया जाए तो वह अवश्य ही उससे पार होने की कोशिश करेगा, पार जाने के लिए हाथ-पाँव मारेगा, किन्तु यदि किसी मरे हुए को वा मरे हुए के समान मूर्छित प्राणी को उस प्रवाह में डाल

दिया जाए तो वह बिना किसी चेष्टा के, बिना किसी प्रयत्न के, उस धारा के साथ बहता ही जाएगा। वेद कहता है—वे लोग जो इस जगत्-प्रवाह के साथ, विषय प्रवाह के साथ बहे जा रहे हैं, अपने आत्मोद्धार के लिए किसी भी प्रकार से प्रयत्नशील नहीं हैं, वे जीवित होते हुए भी मृतक के समान हैं। वे लोग ही आत्म-हत्यारे हैं; वे लोग ही मरकर तम से आच्छादित घोर अन्धकारयुक्त असुरों के प्रसिद्ध लोकों को प्राप्त करेंगे।

जो लोग सिद्ध हैं, परमतत्त्व को समझ लिए हैं, वे संसार-प्रवाह से पार हो चुके हैं। वे ज्ञानमार्गी अन्य लोगों के लिए आदर्श हैं। मर्यादामार्गी भी संसार-सागर के प्रवाह को पार करने में सतत प्रयत्नशील हैं; गुरु-कृपा और प्रभु के अनुग्रह से उसे पार कर जाएँगे। किन्तु विषयासक्त लोग न तो गुरु में ही आस्था रखते हैं, न शास्त्र में ही। वे मनमुखी लोग सदैव मन की ही मानते हैं और विषयासक्त मन विषयों के प्रवाह में ही उन्हें ढकेल देता है। ऐसे लोग एक-इष्ट, एकनिष्ठ नहीं होते। ऐसे लोगों के लिए ही कहावत है— 'गंगा गए गंगादास, यमुना गए यमुनादास'। उन आसुरी स्वभाव वाले व्यक्तियों की स्थिति का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। (गीता १६।१९)

"उन द्वेषरत, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी अर्थात् प्रकाशहीन योनियों में ही गिराता हूँ।" विषयासक्त लोग ही आत्महत्यारे हैं, उन्होंने अपने-आप ही अपनी आत्मा की हत्या की है, उनकी आत्मा मर गई है। ऐसे व्यक्तियों के लिए बोलचाल की भाषा में भी ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति की तो जैसे आत्मा ही मर गई है, उसमें कोई जोश नहीं, उत्साह नहीं, गौरव नहीं, स्वाभिमान नहीं, उसमें कोई समझ नहीं, सूझ नहीं, वह आत्महीन हो चुका है।

सारांश यह कि जो लोग संसार के विषय में रत रहते हैं, पद-पदार्थ को ही महत्ता देते हैं, विषय-भोग और स्वार्थ-सिद्धि ही जिनके जीवन का उद्देश्य है, जो विकर्म और अधर्म के सहारे अपनी ज़िन्दगी जी रहे हैं, सचमुच वे आत्म-हत्यारे हैं, उनकी आत्मा मर चुकी है। ऐसे आत्म-हत्यारों के लिए ही वेद कहता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

जहाँ किंचित् प्रकाश नहीं, जहाँ घोर अन्धकार है, उसी को शास्त्रीय भाषा में नरक कहते हैं। वे आत्म-हत्यारे परिणाम में नारकीय जीवन को ही प्राप्त करते हैं, यही संक्षेप में इस मन्त्र का अभिप्राय है। इस सम्बन्ध में आप लोगों को विशेष विचार आगे दिया जाएगा।

□□

११

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् की असीम करुणा आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! आप लोग कई दिनों से ईशोपनिषद् पर विचार सुन रहे हैं। ईशोपनिषद् सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का सार है, इसके लिए ही वेदान्त संज्ञा सार्थक होती है। इस उपनिषद् के माध्यम से मैं चाहता हूँ कि आप सबको वैदिक दर्शन का सार समझा दूँ, जिससे आप लोग अपने जीवन-विकास की दिशा में सुगमता से अग्रसर हो सकें। इस उपनिषद् के दो मन्त्रों की व्याख्या पहले हो चुकी है। तीसरे मन्त्र की व्याख्या में भी बहुत-सी बातें आप लोग सुन चुके हैं, उसी से सम्बन्धित आज कुछ बातें और भी आप लोगों को बताई जाएँगी। पहले आप लोग इस मन्त्र का चिन्तन कीजिए और फिर उसके अभिप्राय को समझिए—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

कल मैंने बताया था कि यह मन्त्र उन लोगों की गति का वर्णन करता है जो लोग विकर्म तथा अधर्म में प्रवृत्त हैं। जो विषयासक्त प्राकृतिक पदार्थों में निरत कामात्मा हैं, वे ही वेद की दृष्टि से आत्म-हत्यारे हैं। उन आत्म-हत्यारों के लिए उद्धार वा प्रायश्चित्त का कहीं भी कोई उपाय नहीं है। वे मृत्यु के पश्चात् असुरों के प्रसिद्ध लोक को ही प्रात होंगे, जो तम से आच्छादित, अन्धकार से परिपूर्ण हैं। यहाँ लोक शब्द का अभिप्राय योनि से है। जिन योनियों में बुद्धि का प्रकाश नहीं, ज्ञानोदय की सम्भावना नहीं, वे शूकर-कूकर-कीट-पतंगादि योनियाँ ही असुरों के प्रसिद्ध लोक हैं। आत्म-हत्यारा उन्हीं योनियों को प्राप्त होता है।

कल आपको यह भी समझाया गया था कि दुनिया का समस्त वैभव आत्मा के नाते ही मूल्यवान् है, महिमावान् है, उपयोगी है। जो कोई व्यक्ति आत्मा की अपेक्षा अन्य पदार्थों को महत्ता देता है, वह आत्म-हत्यारा है। इसलिए ऐसे लोगों को मृत्यु के पश्चात् प्राकृतिक विधान से वे योनियाँ मिलेंगी जहाँ बुद्धि का, विवेक का नाम-निशान नहीं है, जहाँ अपने भावों को व्यक्त करने की सुविधा नहीं। पशुओं के पास जिह्वा है, पर बोल नहीं सकते। मनोमय कोश का विकास होने से महसूस करते हैं, पर कह नहीं सकते। भूख-प्यास से सन्तप्त होते हुए भी, विविध प्रकार की पीड़ाओं से पीड़ित

होते हुए भी किसी से कुछ कह नहीं सकते, कुछ बोल नहीं सकते, अपने भावों को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। कितनी दुःखद स्थिति है उन योनियों में रहने वाले प्राणियों की! ये योनियाँ ही असूर्य अर्थात् प्रकाश-रहित योनियाँ हैं जो तमोगुण से आच्छादित और घोर अन्धकारमय हैं।

देव-दुर्लभ मानव-शरीर का और उसमें प्राप्त हुए दैवी गुणों के समुचित उपयोग से जो आत्मा का विकास नहीं करता, वह इस शरीर के छूट जाने पर पुनः इस सुविधा को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता। वह पापपरायण, इन्द्रियारामी आत्महनन के अपराध से प्रकाशहीन योनियों को ही प्राप्त होता है। गीता के १६वें अध्याय में भगवान् ने उन आसुरी वृत्ति वाले व्यक्तियों के लिए कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ (गीता १६।२०)

हे अर्जुन! "वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्मान्तरों से आसुरी योनि को प्राप्त हुए मुझे न प्राप्त कर उससे भी अधम गति को ही प्राप्त होते हैं।" मनुष्य-जीवन से पतित हो अधमाधम गति को प्राप्त करना क्या कभी किसी को इष्ट हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। फिर भी विषयों के व्यामोह में डूबा हुआ मनुष्य अपने द्वारा ही अपनी हत्या कर लेता है, अपना उद्धार न कर स्वयं को अधम योनियों में ढकेल देता है, कितने दुःख की बात है!

यह बात याद रखें, लाखों अवतार, करोड़ों मसीहा, असंख्य महात्मा महापुरुष हो जाएँ, वे सब मिल करके भी किसी एक व्यक्ति का उद्धार नहीं कर सकते जब तक कि वह व्यक्ति अपने उद्धार के लिए स्वयं तैयार न हो। और यदि कोई व्यक्ति आत्मोद्धार के लिए दृढ़ निश्चय से खड़ा हो जाए तो दुनिया की कोई ताकत उसे पतित नहीं बना सकती। यही बात प्रभु ने गीता के छठे अध्याय में समझाई है। मनुष्य को अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए, विषय-वासना द्वारा उसे दबाना नहीं चाहिए। शास्त्रकारों ने बताया है कि आत्मोद्धार में ईश्वर-कृपा, गुरु-कृपा, शास्त्र-कृपा और आत्म-कृपा, ये चार कृपाएँ हेतु होती हैं। इनमें से अन्य की अपेक्षा आत्म-कृपा का ही प्रमुख स्थान है। अपने ऊपर अपनी कृपा होने पर ही मनुष्य परमार्थ की चाह लेकर किसी सद्गुरु की शरण में जाता है। सद्गुरु अपने अनुभव तथा शास्त्रसम्मत उपदेश देकर उसे सत्कर्म में प्रेरित करता है। सत्कर्म से चित्त-शुद्धि होने पर वह साधक अनवरत बरसने वाले ईश्वर-कृपामृत का अनुभव कर, उससे अभिन्नता की अनुभूति कर, सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। सद्गुरु, शास्त्र और ईश्वर, इनके यहाँ किसी प्रकार के भेद के लिए स्थान नहीं है। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (गीता ९।२९)

"मैं सब प्राणियों में समभाव से व्यक्त हूँ, न मेरा कोई अप्रिय है न प्रिय है परन्तु जो मेरे को भक्ति के द्वारा भजते हैं, वे मेरे में और मैं भी उनमें हूँ।" अभिप्राय यह कि सर्वव्यापी परमात्मा में विषमता नहीं, उसकी कृपा सर्वत्र समान रूप से सभी पर बरस रही है, आवश्यकता है अपने को उसकी ओर देखने की, उसमें आस्था करने की। उसकी कृपा की अनुभूति अनन्यभाव के बिना नहीं हो सकती। जो कामात्मा हैं, वे अपने वासनामय अपवित्र चित्त में प्रभु की इस कृपा को अनुभव नहीं कर पाते, इसलिए वे प्रभु को प्राप्त न कर, अधम गति को ही प्राप्त होते हैं। यह कितनी चिन्ताजनक बात है कि मनुष्य-जीवन को प्राप्त करके भी लोग इस सुनहरी अवसर का समुचित लाभ नहीं उठा पाते! जिस परिवार के लिए, जिन बन्धु-बान्धवों के लिए, जिन शरीर के सम्बन्धियों के लिए, जिन वासनाओं की पूर्ति के लिए कर्म और अधर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे सभी क्षणिक सम्बन्ध वाले, क्षणिक सुख वाले हैं। वे सदा के लिए इस आत्मा के साथी नहीं हो सकते। आप लोग ज़रा एकान्त में बैठकर चिन्तन करें तो यह ज्ञात होगा कि जिन कुटुम्बियों के लिए, प्रियजनों के लिए, धर्म-अधर्म का विचार न कर विविध प्रकार के कुकृत्यों द्वारा संग्रह-परिग्रह में लगे हुए हैं, क्या वे कभी साथ देंगे? गम्भीरता से सोचने पर ज्ञात होगा कि इस सृष्टि-प्रवाह में अनेक योनियों में आप शरीर ग्रहण कर चुके हैं और सभी योनियों में माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पति-पुत्रादि सम्बन्धी प्राप्त हुए थे। क्या यह किसी को याद है कि वह अब तक कितनों का पुत्र, कितनों का पति, कितनों की पत्नी, कितनों का भाई, कितनों की बहन बन चुका है? क्या अतीत में हुए उन सम्बन्धियों का कहीं पता है? यदि वे सम्बन्धी अब तक अपने नहीं हुए तो क्या विश्वास है कि इस जन्म के जो सम्बन्धी हैं, वे कभी अपने होंगे? यदि ऐसा नहीं है तो उनके व्यामोह में पड़कर अपने कर्म और धर्म को क्यों नष्ट किया जाए।

यह याद रखें-अपने किए हुए का परिणाम स्वयं को ही भोगना पड़ता है, दूसरा कोई उसमें हाथ नहीं बटाएगा। गोस्वामी जा के शब्दों में—

करइ जो करम पाव फल सोई।
निगम नेति अस कह सब कोई॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

पुराण में एक कथा आती है। एक ब्राह्मण-पुत्र जिसका नाम रत्नाकर था? किरातों की कुसंगति में पड़कर वह डाकू बन गया। प्रचेता के वंश में उत्पन्न हुआ वह अपने बाप की दसवीं सन्तान था। पूर्वजन्म के कुसंस्कारों के परिणाम से वह ब्राह्मणोचित कर्म-धर्म से विमुख हो कुमारावस्था में ही किरातों के संग रहने लगा और उन्हीं के जैसा आचरण करने लगा। बाद में शूद्रा कन्या से विवाह कर कई सन्तानें उत्पन्न कीं और स्त्री तथा

सन्तान के पालन-पोषण के लिए उसने डाकू का पेशा अपना लिया। रास्ते में आने जाने वालों को लूटकर उनका सर्वस्व छीन लेना, उनकी हत्या कर देना, यह उसका दैनिक कार्य हो गया।

एक दिन की बात है कि सप्तर्षि लोग उस रास्ते से जा रहे थे, उन्हें देखकर भी उसी प्रकार से हत्या के लिए उद्यत हुआ। सप्तर्षियों ने उसकी इस गतिविधि को देखकर उससे पूछा—वत्स! तुम कौन हो? इस प्रकार के दुष्कृत्य में क्यों लगे हुए हो? तुम असहाय लोगों की हत्या करके, उन्हें लूटकर क्या करते हो? तुम ऐसा जघन्य कृत्य क्यों करते हो? डाकू ने उत्तर दिया—मैं अपने स्त्री-बच्चों के पालन-पोषण के लिए ही यह कार्य करता हूँ। मैं डाकू हूँ और लोगों को लूटकर उनका वध करना ही मेरा काम है। सप्तर्षियों ने कहा—वत्स! तुम्हारे इस दुष्कृत्य से जीवन-निर्वाह करने वाले तुम्हारे परिवार के लोग क्या तुम्हारे इस पाप में भी भागीदार होंगे? डाकू ने उत्तर दिया—क्यों नहीं होंगे? ऋषियों ने कहा—तुम्हारा यह विश्वास मिथ्या है, तुम जाकर पहले उनसे पूछ आओ। डाकू ने उत्तर दिया—आप लोग बड़े चतुर हैं, मैं अपने परिवार वालों से पूछने जाऊँ और आप यहाँ से भाग जाएँ। ऋषियों ने कहा कि नहीं, यदि तुम्हें हम पर विश्वास नहीं तो हमें यहाँ वृक्ष से बाँध दो और तुम जाकर अपने प्रियजनों से पता लगाओ। डाकू रत्नाकर ने वैसा ही किया। ऋषियों को वृक्ष से बाँधकर वह अपने घर को गया। वहाँ जाकर उसने एक-एक करके अपनी स्त्री और बच्चों से पूछा—क्या तुम लोग मेरे किए हुए पाप में भागीदार होवोगे? मैं जो लूटकर, हिंसा करके धन ले आता हूँ, उसे तो तुम सभी मिलकर भोगते हो, क्या उस पाप को भोगने में भी भागीदार होवोगे? सभी ने उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पाप के भागीदार नहीं, वह पाप तो तुमको ही भोगना होगा। हम तो उससे प्राप्त हुए फल को ही भोगने वाले हैं—

पापं तवैतत्सर्वं वयं तु फलभागिनः ।

(अध्यात्म रा० २।६।७४)

परिवार के लोगों से इस प्रकार का कठोर उत्तर सुनकर वह ग्लानि और सन्ताप से तप्त होता हुआ लौटकर उस स्थान पर आया जहाँ ऋषियों को बाँध कर गया था। वह उनके बन्धन को काट उनके चरणों में गिर पड़ा और प्रार्थना करते हुए दीन वचन बोला—हे मुनिश्रेष्ठ! मैं नरकरूप समुद्र में आ पड़ा हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। मेरा उद्धार हो, वह मार्ग मुझे बताइए। करुणामय ऋषियों ने उसकी दीन अवस्था को देखकर कहा—उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। सन्तजनों का मिलन तुम्हारे लिए फलप्रद हुआ है। हम तुम्हें उपदेश देंगे जिससे तू मोक्ष-पद को प्राप्त करेगा। ऋषियों ने परस्पर विचार किया कि अधम है तो क्या, शरण में आए हुए की रक्षा करना उचित है। उन्होंने राम-नाम को उल्टा करके मरा-मरा जपने का आदेश दिया और कहा कि तुम

इसी स्थान पर रहकर इस बीज-मन्त्र का जप करो, इसी से तुम्हारा उद्धार हो जाएगा। वही रत्नाकर डाकू मरा-मरा जपकर ब्रह्मर्षि-पद को प्राप्त हुआ और विश्ववन्द्य वाल्मीकि ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। संस्कृत-साहित्य में आदिकाव्य के रूप में रामायण की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मर्षि वाल्मीकि ही आदिकवि के रूप में सर्वपूज्य हैं।

वाल्मीकि की इस कथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य अपने किए हुए पाप-पुण्यमय कर्मों का स्वयं ही भोक्ता है। स्त्री-पुत्रादि उसमें भागीदार नहीं होते। शास्त्र के सिद्धान्तानुसार स्त्री पुरुष के पुण्य में तो भागीदार होती है किन्तु उसके पाप में भागीदार नहीं होती। पुरुष के लिए ऐसा नहीं है, पुरुष स्त्री के पाप और पुण्य दोनों में ही भागीदार बनता है। इसमें कारण यह है कि विवाह के समय कन्या के माता-पिता उसका हाथ उसके पति के हाथ में समर्पित करते हैं। यह प्रथा केवल हिन्दू धर्म में ही नहीं, दुनिया के सभी धर्मों में प्रचलित है। स्त्री का हाथ ग्रहण करने के नाते पुरुष स्त्री के पाप-पुण्य दोनों का ही जिम्मेदार होता है। किन्तु स्त्री पुरुष की धर्मपत्नी होती है, वह केवल धर्म में ही भागीदार होती है, पाप में नहीं। पुरुष पाप और पुण्य दोनों में ही स्वतन्त्र है, किन्तु स्त्री पुरुष के अधीन होने से परतन्त्र होती है इसलिए पति पति है, स्त्री का पालन करना, उसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य है, वह चाहे जिस भी प्रकार से करे। अपने कृत्य के प्रति वही उत्तरदायी होगा।

इससे यह निश्चय हुआ कि पुरुष के पाप-कर्म में कोई भी हिस्सेदार नहीं होता, उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। आप लोगों ने यह सुना होगा—नारी धर्म की माता, धर्म की बहन, धर्म की पुत्री और धर्म की पत्नी होती है, किन्तु पुरुष धर्म का पिता, धर्म का भाई, धर्म का पुत्र तो होता है किन्तु धर्मपति नहीं होता। पति पति है, वह स्त्री के पाप और पुण्य दोनों में भागीदार होगा क्योंकि स्त्री का पालन और संरक्षण दोनों ही उसका धर्म है। स्त्री यदि पाप में प्रवृत्त होती है तो इसमें पुरुष की असावधानी ही कारण होती है, किन्तु पुरुष की पापमय प्रवृत्ति में वह सर्वथा स्वतन्त्र होता है इसलिए उसका वही भोक्ता और वही जिम्मेदार है। मैं आप लोगों को बता रहा था, धर्मशास्त्र की दृष्टि से अर्द्धाङ्गिनी कही जाने वाली स्त्री भी पाप की कमाई से ऐश-आराम में भागीदार तो हो सकती है, किन्तु उस पाप को भोगने में भागी नहीं होगी। जब स्त्री की यह स्थिति है तो परिवार के अन्य लोगों की तो बात ही क्या? इसलिए मोह में पड़कर, प्रमादवश स्त्री-पुत्रादि के लिए पापाचरण करना, उचित-अनुचित रूप में अनेक प्रकार से सम्पत्ति का संग्रह कर पाप की वृद्धि करना उचित नहीं। शरीर के सभी सम्बन्धी सदैव अपने सुख की आकांक्षा से ही एक-दूसरे को प्यार करते हैं। मृत्यु के पश्चात् भी लोग अपने सुख के लिए ही रोते हैं, इस यथार्थ को समझकर मनुष्य को सदैव विकर्म और अधर्म से विरत होकर सत्कर्म और सद्धर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए, वही उसके आत्मोत्थान में सहायक होंगे।

आप लोग अमित सम्पत्ति एकत्रित करके यदि अपने परिवार के लिए, बच्चों के लिए देते हैं तो समाज की दृष्टि में आपका कोई विशेष स्थान नहीं, क्योंकि यह मोहासक्त जीवों की स्वाभाविक वृत्ति है। अपने प्रियजनों के लिए कष्ट उठाने की वृत्ति तो पशु-पक्षियों में भी देखी जाती है, मनुष्य भी यदि ऐसा ही करता है तो कोई महत्त्व की बात नहीं है। किन्तु यदि आप अपनी कमाई का कुछ हिस्सा किसी गरीब बच्चे की पढ़ाई में लगाते हैं, किसी अपरिचित की दवा में लगाते हैं वा किसी भी प्रकार के परहित में प्रयोग करते हैं तो समाज की दृष्टि में आप धर्मात्मा बन जाते हैं। जहाँ पर परिवार के लिए संग्रह और सम्पत्ति का प्रयोग बन्धन में कारण होता है वहीं पर लोकहित के लिए, जनकल्याण के लिए सम्पत्ति का संग्रह और प्रयोग आत्मोद्धार तथा मुक्ति में साधन बन जाता है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस सामान्य-सी बात को भी लोग समझ नहीं पाते और सदैव गृहासक्त हो दुःख-रूप जगत् में ही भटकते फिरते हैं। व्यर्थ के व्यामोह में पड़कर अपनी आत्मा का ही हनन कर देते हैं। इस आत्महत्या से बचने के लिए वेद का आदेश है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

(कठ० १।३।१४)

"उठो, जागो, सावधान हो जाओ, श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उस परम तत्त्व परमेश्वर को जान लो। त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन उस तत्त्वज्ञान के मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण तथा दुस्तर धार के सदृश दुर्गम बतलाते हैं।"

अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान-मार्ग, धर्म-मार्ग छुरे की धार की तरह तीक्ष्ण तथा दुर्गम है, इस पर चलने की विधि श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों द्वारा ही समझी जा सकती है। वेद का आदेश है—ऐसे सत्पुरुषों के पास जाकर उस रहस्य को समझो और आत्मोद्धार के तीक्ष्ण मार्ग पर चलने के लिए तत्पर हो जाओ। व्यर्थ के विषय-भोगों में तथा जन-धन के प्रलोभन में पड़कर अपनी आत्मा का हनन मत करो! संसार का सुख छाया के समान है। जैसे एक यात्री किसी गन्तव्य स्थान के लिए यात्रा कर रहा हो और रास्ते में किसी छायादार सुन्दर वृक्ष के नीचे बैठकर थकान उतारने के बहाने वहीं सुख की अनुभूति करता हुआ, बैठा हुआ दिन व्यतीत कर दे, तो उसे कोई समझदार नहीं कहेगा। ठीक इसी प्रकार से यह मानव-शरीर वाहन के समान है, इस पर बैठा हुआ जीव एक यात्री के समान है। उसकी यात्रा का लक्ष्य है वह परमात्मा, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, जो आनन्द-सिन्धु तथा सुख की राशि है। उस परमात्मा तक न पहुँचकर, इस संसार के छाया के समान मिलने वाले क्षणिक सुख में निमग्न हो अपने गन्तव्य को भूल जाना, मिले हुए साधन का दुरुपयोग करना, विविध प्रकार की कामनाओं, वासनाओं में उलझकर पद-पदार्थ में आसक्त हो, काम-क्रोध-लोभ की

प्रबलता से अपने-आपको, अपनी आत्मा को दबा देना, तिरस्कृत करना आत्महत्या है। इस प्रकार की आत्महत्या करने वाले जिस नारकीय यातना को भोगते हुए दुर्गति को प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन करते हुए ईशोपनिषद् का यह तीसरा मन्त्र मानवमात्र को सावधान करता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

उपनिषद् के इन तीनों मन्त्रों में जीवन के कारण, उसके स्वरूप, उसके प्रयोजन के विषय में सार-रूप में सभी बातें आ गई हैं। जो लोग वैदिक विज्ञान के अनुसार उसके बताए हुए सुपथ पर चलते हैं, वे स्वर्ग के, जिसे निरुक्तकार सुवर्ग कहते हैं, भागी होते हैं। जो लोग उसके विपरीत आचरण करते हैं, उनकी अधोगति का वर्णन भी वेद ने इस तीसरे मन्त्र में कर दिया है। वे आत्म हत्यारे, वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले, आत्मघाती मृत्यु के पश्चात् प्रकाशहीन असुरों के उस प्रसिद्ध लोक को प्राप्त होते हैं अर्थात् उन नीच योनियों को प्राप्त होते हैं जो घोर तम से आवृत और अन्धकार से परिपूर्ण हैं।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस अधोपतन से बचने का क्या उपाय है? इस सम्बन्ध में भगवान् ने गीता के १३वें अध्याय में कहा है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ (गीता १३।२८)

"जो व्यक्ति सबमें समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान रूप से सर्वत्र देखता है, वह अपने द्वारा अपना हनन न कर परमात्म-ज्ञान से परमगति को प्राप्त होता है।" अभिप्राय यह कि इस अधोगति से बचने का केवल एकमात्र उपाय है, सर्वरूप में, सर्वत्र समानरूप से स्थित परमात्मा का दर्शन। जिसके सम्बन्ध में इस उपनिषद् के पहले मन्त्र में ही समझाया गया है और बताया गया है कि सर्वरूप में परमात्मा को देखते हुए, उसके द्वारा दिए गए पदार्थों का उसके प्रति समर्पण करते हुए, उसका प्रसाद समझकर उपयोग करो, लालची मत बनो, यह संसार का वैभव किसी का भी नहीं है। उस परमात्मा की पूजा की दृष्टि से लोक-कल्याणार्थ कर्मयोग का अनुष्ठान करते हुए १०० वर्ष तक जीने की इच्छा रखो। मनुष्य के लिए इससे उत्तम और कोई रास्ता नहीं है। बन्धन के भय से भयभीत मत होवो। तुझ पुरुष में ये कर्म लिप्त नहीं होते।

यदि तुम वेद के बताए हुए मार्ग के विपरीत आचरण करोगे, व्यामोहवश विकर्म और अधर्म में प्रवृत्त होवोगे तो मृत्यु के पश्चात् तुम्हें कूकर-शूकरादि नारकीय योनियों में ही भटकना पड़ेगा। यदि तुम इस अधोगति से विमुक्त होना चाहते हो तो उस

परब्रह्म परमात्मा को सर्वत्र समान रूप से देखने का अभ्यास करो। अब तक तीन मन्त्रों में साररूप में मानव के लिए यही समझाया गया है।

मनुष्य-शरीर पाकर परमात्मा का ही चिन्तन, परमात्मा का सुमिरन, परमात्मा की महिमा का गान और सर्वरूप में प्रकट उस परमात्मा का साक्षात्कार यदि नहीं किया तो इसका कोई सही उपयोग नहीं हुआ, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ तक आप सबको जीवन का कारणं, जीवन का स्वरूप, जीवन को जीने की व्यवस्था तथा जीवन के दुरुपयोग का परिणाम तीन मन्त्रों में समझा दिया गया है। जिस परमात्मा की आराधना, उपासना करके यह जीव परम कल्याण का भाजन बनता है, वह परमात्मा क्या है? उसके स्वरूप, उसकी महिमा का बोध कराने के लिए ही आगे का यह चौथा मन्त्र है, जिसकी व्याख्या आगे आप लोगों को बताई जाएगी।

□□

१२

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणकारी हो, इसी शुभ-कामना के साथ ईशोपनिषद् के चौथे मन्त्र की व्याख्या प्रारम्भ की जा रही है। पहले आप लोगों को बताया जा चुका है कि आत्म-पतन ही आत्म-हनन है। इस आत्महनन-रूप जघन्य कृत्य से बचने के लिए केवल एक ही रास्ता है—परमपिता परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का बोध और उनमें अनन्य अनुरक्ति। यह मन्त्र परमात्मा के उस स्वरूप का ही विवेचन करता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।
अनेजत् एकम् मनसः जवीयः पूर्वम् अर्षत् एनत् देवाः न आप्नुवन् ।
तत् अन्यान् धावतः तिष्ठत् अत्येति तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति ।।

परमात्मा की सत्ता और महत्ता का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वे परमेश्वर अचल, एक, मन से अधिक तीव्र गतियुक्त हैं। सबके आदि, ज्ञानस्वरूप इन परमेश्वर को देवता भी नहीं पा सके। वे दूसरे दौड़ने वालों को, स्थित रहते हुए ही, अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही **''मातरिश्वा (वायु) अपः''** जीवनी शक्ति का सम्पादन करने में समर्थ होता है। इस मन्त्र में परमात्मा की महिमा को आठ विशिष्ट विशेषणों द्वारा समझाया गया है। इस मन्त्र में ही सनातन धर्म के प्रचलित त्रैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत, विशुद्धाद्वैत आदि उन समस्त सिद्धान्तों का दर्शन हो जाता है। सभी महापुरुष तत्त्ववेता विद्वान् अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हैं। इस मन्त्र का आप लोग गम्भीरता के साथ चिन्तन करेंगे तो ज्ञात होगा कि सृष्टि का समग्र वैभव, सृष्टि की समस्त गतिविधि, सब उस परमात्मा पर ही अवलम्बित है। वेद ने इस एक मन्त्र में ही उस अनन्त की महिमा का बड़े ही सूक्ष्म रूप में संकेत कर दिया है।

यह सत्य है कि उस अनिर्वचनीय की महिमा का निर्वचन नहीं हो सकता, किन्तु वेद स्वयं उसी की वाणी है। वाणी के द्वारा वक्ता की सत्ता और महत्ता का कुछ अंशों में भान वा प्रकाशन होता ही है। अब मैं आप लोगों को इस मन्त्र द्वारा **सांकेतित** तथा परमात्मा की महिमा में प्रयुक्त किए हुए इन आठ विशिष्ट गुणों को एक-एक करके

समझाने का प्रयत्न करूँगा। उस परमतत्त्व की व्याख्या करते हुए वेद कहता है **''अन एजत् एकम्''** इस शब्द के साथ 'तत्' शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा और फिर इसका अर्थ होगा—वह अचल एक। 'एजत्' शब्द का अर्थ होता है गतिशील और 'अन एजत्' माने गतिरहित, अचल। वह परमात्मा गतिरहित है, अचल है, क्योंकि वह एक है। जो एक है, अद्वै है, वही परम सत्य है, वही परमतत्त्व है, उसमें गति की कल्पना नहीं हो सकती। किन्तु इसके आगे वेद कहता है **''मनस: जवीय:''** वह मन से भी अधिक तीव्र गति वाला है। यह एक बड़ी विकट पहेली है---जिस तत्त्व में गति नहीं है, जो अचल है, वह मन से भी अधिक गतिवान् कैसे होगा?

वर्तमान के वैज्ञानिकों ने मन की गति को मापने का कुछ दु:साहस किया है किन्तु यह केवल एक दु:साहस-मात्र ही है। मन केवल प्राकृतिक पदार्थ नहीं जिसकी तरंगों की गति को मापा जा सके। सत्य तो यह है कि मापने वाले जिसके द्वारा मापने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह स्वयं मन ही है। वेदान्त की दृष्टि में इन्द्रियाँ और इन्द्रियों का विषय जहाँ तक फैला हुआ है, वह सब मन का ही विलास है। गोस्वामी जी कहते हैं—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानउ भाई ।।

इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय तथा जहाँ तक मन की गति जाती है, वह सब माया का ही प्रसार है। वेदान्त की दृष्टि में मन विभु माना गया है। महात्मा सुन्दरदास ने एक दोहे में कहा है—

मन ही जग विस्तरि रह्यो, मन ही रूप अरूप ।।
सुन्दर यह मन जीव है, मन ही ब्रह्म स्वरूप ।।

यजुर्वेद के कई मन्त्रों में मन के स्वरूप तथा उसकी महत्ता का गान किया है और उसकी गति को अप्रमेय बताया गया है, जिसका अभिप्राय होता है जो मापा न जा सके। वैज्ञानिकों ने जिस विद्युत्-तरंग की गति का माप किया है और बताया है कि एक सैकण्ड में एक लाख चौरासी हज़ार मील की गति से वे तरंगें चलती हैं, वह मन उससे भी अधिक गतिशील है। जिन तरंगों को मापा जा सकता है, वे तो तन्मात्रा की ही तरंगें हैं। वेदान्त की दृष्टि में उन तरंगों से ही पंचमहाभूतों का आविर्भाव होता है। दूसरे शब्दों में वे तरंगे ही घनीभूत होकर इन पंचमहाभूतों के रूप में प्रकट होती हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि वे तरंगें विशुद्धरूप से प्राकृत हैं और वे बाह्य करणों के ही विषय हैं, किन्तु मन की स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न है।

वेदान्त की भाषा में मन की गणना भी प्राकृतिक तत्त्वों में ही की जाती है और उसे ग्यारहवीं इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है:

इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचरा: । (गीता १३।५)

इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ ग्यारहवीं इन्द्रिय के रूप में मन की ही गणना है; किन्तु यह मन बाह्यकरण नहीं, अन्तःकरण है। अन्तःकरण को विशुद्ध प्राकृत नहीं कहा जा सकता। वह प्राकृत और अप्राकृत दोनों का ही संयुक्त परिणाम है। अभिप्राय यह कि चित्त और चेतन के संयोग से अभिव्यक्त हुई चेतना ही बोधात्मिका शक्ति बुद्धि है। उस बोध से ही अहं की स्फुरणा होती है। अहं का ही प्रवाह वा उसकी संकल्प-शक्ति ही मन है। यथार्थतः तो मन, अहं और बुद्धि का तत्त्वतः विभाजन किया ही नहीं जा सकता। चेतन के प्रकाश में गतिशील हुए चित्त की ये सारी अवस्थाएँ हैं। सांख्य की भाषा में इसे हम यूँ भी कह सकते हैं कि पुरुष के प्रकाश में गतिशील हुई प्रकृति की ही ये सारी अवस्थाएँ हैं। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि मन केवल प्रकृति वा केवल पुरुष का परिणाम नहीं, वह दोनों के संयोग से उत्पन्न हुआ तत्त्व है। सूक्ष्मतम होने से वा चेतनांश होने से वह भी व्यापक, विभु है, इसलिए उसकी गति के विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता। यद्यपि वैशेषिक ने उसे द्रव्य माना है, किन्तु वेदान्त की दृष्टि में वह द्रव्यात्मक नहीं, गुणात्मक तत्त्व है। जब मन की गति का ही बाह्य उपकरणों द्वारा माप करना सम्भव नहीं तो मन से परे जो है, उस परमात्मा की गति के विषय में क्या कहा जाए? अतः **''मनसः जवीयः''** शब्द से वेद ने प्रकारान्तर से परमेश्वर की सर्वव्यापकता का ही उपदेश दिया है।

गति सदैव एक देशीय तत्त्व में ही हुआ करती है। सीमित में ही गति की कल्पना की जा सकती है; किन्तु जो सर्वत्र, सर्वरूप में सदैव परिपूर्ण है उसके विषय में गति की कल्पना ही असम्भव है। वह एक है, अचल है, इसलिए वह सावयव नहीं निरवयव है, क्योंकि सावयव तत्त्व कभी अचल नहीं हो सकता। उसमें गति, उसमें मूवमैंट होती ही रहती है। वह परमात्मा एक होने से अचल है। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

(श्वेता० ६।११)

वह एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ सर्वव्यापी, समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा है, वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतों का निवास-स्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है। वह सर्वव्यापी होने के नाते बिना हिले-डुले, मन से भी आगे पहुँच जाता है। आपका मन देखे हुए और सुने हुए देश-देशान्तरों, लोक-लोकान्तरों तक तत्क्षण पहुँच जाता है, उसमें विलम्ब तथा दूरी का व्यवधान नहीं होता; किन्तु जहाँ मन जाना चाहता है वा जाता है, सर्वव्यापी होने से बिना गति किए परमात्मा वहाँ पहले से ही विराजित होता है।

प्रकृति से लेकर उसके समस्त कार्य उस परमात्मा के एक अंश में ही स्थित हैं और ये सब उससे ही गति प्राप्त करते हैं। केनोपनिषद् की श्रुति कहती है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। (केन० १।५)

''जो मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता, जिसके द्वारा मन मनन करने की क्षमता प्राप्त करता है वा जिसको मन से नहीं समझ सकता, जिससे मन जाना हुआ हो जाता है, ऐसा कहते हैं, उसको तू ब्रह्म जान।'' मन के द्वारा जानने मे आने वाले 'यह है' ऐसा कहकर जिस तत्त्व की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। दूसरे शब्दों में जो मन का, बुद्धि का, अन्तःकरण का साक्षी है, प्रकाशक है, वही परमात्मा है। जो मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि द्वारा प्रकाशित होता है, वह परमात्मा नहीं। तुलसीदासजी के शब्दों में—

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक से एक सचेता ।।

सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।

विषयों को प्रकाशित करने वाली इन्द्रियाँ, इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाले उनके देवता, देवताओं को प्रकाशित करने वाला जीव है और जो इन सबको प्रकाशित करने वाला है, वही परब्रह्म परमात्मा श्रीराम हैं। कहने का अभिप्राय वह समस्त प्रकाशकों को प्रकाशन की क्षमता प्रदान करता है, वह किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होता। गीता में भगवान् कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।। (गीता १३।१७)

वह समस्त ज्योतियों की ज्योति और अन्धकार से परे कहा जाता है। वेद कहता है—

स भूमिं विश्वतोवृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् । (पुरुष सूक्त-१)

वह सम्पूर्ण विश्व को सब ओर से व्याप्त कर सबसे दस अंगुल ऊपर प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार के अनेक मन्त्रों में जिस परमात्मा की महत्ता का किंचित्-मात्र संकेत किया गया है, उसके विषय में **''अन् एजत् एकम् मनसः जवीयः''** यह वाक्य असंगत नहीं है। वह परमात्म-सत्ता मन की गति से परे है, कल्पना से परे है, मन की सीमा से परे है, यह इस वाक्य का अभिप्राय है। इसी भाव को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए अगले वाक्य में कहा गया है **''एनत् देवाः न आप्नुवन्''** इस परमेश्वर को देव लोग भी नहीं पा सके हैं। यहाँ पाने का अभिप्राय जानने से है। 'देवाः' शब्द सृष्टि के संचालक रूप में स्थित इन्द्रादि देवताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस परमात्मा को ये समस्त देवगण नहीं जान सके हैं, नहीं पा सके हैं।

केनोपनिषद् में एक कथा आती है। देवासुर-संग्राम में देवता लोग विजयी हुए और उस विजय का कारण स्वयं को समझते हुए आनन्दित होने लगे। देवताओं को उनकी यथार्थ स्थिति का बोध कराने के लिए, उनके गर्व का हरण करने के लिए

वह परमात्मा उनके समक्ष यक्ष-रूप में प्रकट हो गया। उसे देखकर देवताओं ने आपस में विचार किया यह यक्ष कौन है, इसका पता लगाना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम अग्निदेव को नियुक्त किया गया। उस यक्ष को जानने के लिए अग्नि उसके पास गया। यक्ष ने उससे पूछा—तुम कौन हो? अग्नि ने अपना परिचय दिया—मैं जातवेदा अग्नि हूँ। यक्ष ने पूछा कि तुम्हारी सामर्थ्य क्या है? अग्नि ने कहा—इस विश्व में जो कुछ है, उसे मैं क्षण-मात्र में जलाकर भस्म कर सकता हूँ। यक्ष रूपधारी परमात्मा ने उसके समक्ष एक तिनका रख दिया और कहा—इसे जला दे। अग्नि ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु वह तिनका जल नहीं सका और वह लज्जित होकर देवताओं के पास लौट आया। देवताओं ने पुनः वायु को भेजा। यक्ष ने वायु से भी वही प्रश्न किया—तुम कौन हो और तुम्हारी क्या सामर्थ्य है? वायु ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं मातरिश्वा हूँ और विश्व के समस्त पदार्थों को अपने वेग से इधर से उधर फेंक सकता हूँ। यक्ष ने उसके समक्ष भी वही तिनका रख दिया और कहा कि इसे उड़ा दे। वायु अपनी पूरी शक्ति लगाकर उस तिनके को उड़ा न सका और लज्जित होकर देवताओं के पास लौट आया। फिर देवताओं ने देवराज इन्द्र से कहा—देवेन्द्र! तुम स्वयं जाकर पता लगाओ यह यक्ष कौन है? इन्द्र के वहाँ जाते ही वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। उसी स्थान पर ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी भगवती उमा प्रकट हो गई। इन्द्र की प्रार्थना पर भगवती ने बताया कि वह यक्ष तुम सभी का नियन्ता, तुम सभी को शक्ति प्रदान करने वाला, तुम सभी का कारण परब्रह्म परमात्मा है। उसी की शक्ति से तुम सभी शक्तिमान बने हो। उमा के द्वारा उस ब्रह्म का परिचय पाकर देवताओं को अपने मिथ्या गर्व का भान हुआ और वे सभी अहंकारशून्य होकर परमात्मा की प्रार्थना करने लगे।

उपनिषद् की इस कथा से इस मन्त्र का भाव स्पष्ट हो जाता है—**''एनत् देवाः न आप्नुवन्''**। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि देवता लोग भी उस परम तत्त्व को नहीं जानते क्योंकि ये सभी उसके बाद उत्पन्न हुए हैं। यही बात भगवान् ने गीता के दसवें अध्याय में कही है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। (गीता १०।२)

''मेरे प्रभाव को अर्थात् आविर्भाव को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।'' उपनिषदों में 'देवाः' शब्द का प्रयोग ज्ञानेन्द्रियों के लिए भी हुआ है क्योंकि 'दिवि प्रकाशने' धातु से देवता शब्द बनता है और संसार की वस्तुओं को इन्द्रियाँ ही प्रकाशित करती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और दो अन्तःइन्द्रियाँ जिसे मन और बुद्धि कहते हैं, इन्हीं से विश्व के सभी पदार्थों का प्रकाशन होता है। वेद कहता है—जो समस्त

चराचर विश्व को प्रकाशित करने वाले ये देवगण हैं, वे सब इन परमात्मा को नहीं पा सके, नहीं जान सके। वेद के इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है, यह यथार्थ है। कार्य अपने कारण को जान नहीं सकता, कार्य के होने से केवल उसकी अस्ति का, होने का बोधमात्र ही हो पाता है। ठीक उसी प्रकार से इन देवों के द्वारा वह कारणस्वरूप परमात्मा जाना नहीं जा सकता। केवल वह है, इतना ही अनुमान किया जा सकता है। ये देवगण इसके होने के प्रमाणमात्र हैं, प्रकाशक नहीं।

इसके आगे का वाक्य इस सत्य का उद्घाटन करता है, जिसमें कहा गया है—"**पूर्वमर्षत्**"। पूर्वम् शब्द का अभिप्राय है आदि। वह परमेश्वर सभी का पूर्व अर्थात् आदि है। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है—

स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।

(श्वेता० ६।९)

वह सबका परम कारण तथा समस्त कारणों के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है। कोई भी न तो इसका जनक है और न अधिपति ही। जो कारण का भी कारण है, ज्योति की भी ज्योति है, सत्य का भी सत्य है, वही सबका परम आदि है, वह सबका पूर्वज है। यहाँ पूर्वम् शब्द से परमात्मा की परम कारणता का संकेत है। पतञ्जलि ने उसके विषय में लिखा है—"**पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्**" वह सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा आदि का भी गुरु है, वह काल के द्वारा बाधित नहीं है। कहने का अभिप्राय यह कि वह कालातीत सभी का आदि है, पूर्व है और इतना ही नहीं वह अर्षत् भी है। अर्षत् शब्द का अर्थ होता है ज्ञानस्वरूप। ऋ गतौ धातु से यह अर्षत् शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है ज्ञान वा ज्ञाता। वह परमात्मा सबका ज्ञाता और स्वयं ज्ञानस्वरूप है। भगवान् गीता मे स्वयं कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ (गीता ७/२६)

"जो हो गये हैं, जो हैं और जो होंगे, मैं उन सभी को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।"

परमात्मा सभी का ज्ञाता कैसे है? इसे आप लोग एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। किसी नगर में जो सबसे ऊँचा स्थान होगा, उस स्थान पर रहने वाला व्यक्ति सारे नगर को बड़ी आसानी से देख लेगा। जैसे एक परकोटे में बहुत-से लोग बैठे हुए हैं तो वे उस परकोटे के अन्दर के लोगों को ही देख सकते हैं; किन्तु उसी परकोटे के पास ही एक बहुत ऊँचा स्तम्भ है, उस स्तम्भ पर बैठा हुआ व्यक्ति उस परकोटे से जो बाहर निकल गए हैं उनको भी देख रहा है, जो हैं उनको भी देख रहा है और जो बाहर से उस परकोटे में आ रहे हैं उनको भी देख रहा है। अभिप्राय यह है कि जो सबसे ऊँचे स्थित है वह नीचे रहने वालों को बड़ी आसानी से देखता है,

जानता है। यह जगत् एक परकोटे के समान है और इसमें जन्मने-मरने वाले जीव आने-जाने वालों के समान हैं। परमात्मा सभी से ऊपर है, यह अनन्त ब्रह्माण्ड उसके अन्दर है, उसके नीचे है। सर्वज्ञ होने से, सर्वव्यापी होने से ब्रह्माण्ड में जहाँ भी, जिस स्थिति में जो कुछ भी है, वह सबको जानता है किन्तु उसे कोई नहीं जानता। गीता में स्वयं प्रभु कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय । (गीता ७/७)

"हे धनंजय! मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। यह सारा ब्रह्माण्ड मेरे अन्दर है, मेरे नीचे है।"

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । (गीता ७/६)

"मेरे से ही सारा विश्व प्रकट होता है और मेरे में ही विलीन हो जाता है। इस सम्पूर्ण विश्व का प्रभाव और प्रलय दोनों ही मैं हूँ।" गोस्वामीजी लिखते हैं—

उमा राम की भृकुटि विलासा । होइ विश्व पुनि पावइ नासा ।।

प्रभु के कटाक्ष-मात्र से यह सारा विश्व प्रकट होता है, पुनः विलीन हो जाता है। वह परमात्मा इस आविर्तिरोभाव की प्रक्रिया से वा प्रवाह से परे है। इसीलिए वेद कहता है—

न एनत् देवा आप्नुवन् पूर्वम् अर्षत् ।

गोस्वामी जी के शब्दों में—

मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकइ सकल अनुमानी ।।

"मन के सहित वाणी जिसे नहीं जानती, जिसके विषय में कोई भी बुद्धिमान् किसी भी प्रकार की तर्कना नहीं कर सकता।" इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । (तैत्ति० २/९-१)

मन के समेत वाणी जिसे प्राप्त न कर लौट आती है। दूसरे शब्दों में जहाँ मन की, वाणी की अर्थात् अन्तःकरण और बाह्यकरण, किसी की भी गति नहीं है, वही सबका आदिकारण ज्ञानस्वरूप परमात्मा है। केनोपनिषद् की श्रुति कहती है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।। (केन० १/३)

"वहाँ न तो चक्षु पहुँच सकते हैं, न वाणी, न मन, जिस प्रकार इसको बतलाया जाय कि वह ऐसा है।" इसको न तो हम स्वयं ही बुद्धि से जानते हैं और न दूसरों से सुन कर ही जानते हैं। वह जाने हुए से भिन्न है और न जाने हुए से भी ऊपर है। जो ज्ञात और अज्ञात, दृश्य और अदृश्य, स्थूल और सूक्ष्म दोनों से ही परे है। जो कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों और अन्तरेन्द्रियों का भी प्रेरक है; उसको भला ये इन्द्रियाँ वा ये देवतागण कैसे प्राप्त कर सकते हैं, कैसे जान सकते हैं? इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए वेद कहता है—

न एनत् देवा आप्नुवन् पूर्वम् अर्षत् ।

सबके आदिपुरुष परम ज्ञानस्वरूप उस परब्रह्म परमात्मा को देवतागण नहीं प्राप्त कर सके।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि यदि वह बाह्य और अन्तरेन्द्रियों का सर्वथा अविषय है, किसी के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, जाना नहीं जा सकता, फिर वह है ही, इसका क्या प्रमाण है? इस विषय में उपनिषद् कहती है—कार्य यद्यपि अपने कारण को नहीं पकड़ पाता, नहीं जान पाता, यह बिल्कुल सत्य है, फिर भी कार्य की उपस्थिति ही कारण के होने को प्रमाणित करती है। सत्कार्यवाद एक वैज्ञानिक तथ्य है, जिसे दूसरी भाषा में 'थियोरी आफ काज़ैशन' कहते हैं। इसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का अवतरण 'इवोलूशन' जिस क्रम से होता है और इसका कारण में विलय जिस प्रकार से होता है, उसका उपनिषदों में पूर्णरूप से विवेचन प्राप्त होता है और आजकल के वैज्ञानिक भी प्रकारान्तर से उसी क्रम को स्वीकार करते है। पुरुष के प्रकाश में प्रकृति का परिणाम प्रारम्भ होता है, दूसरे शब्दो में प्रकृति कार्योन्मुख होती है।

प्रकृति का प्रथम परिणाम जो महत्तत्त्व है, वह पुरुष से पूर्णरूपेण प्रकाशित होता है। यदि उस महत्तत्त्व को प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई, उसकी प्रथम सन्तान कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। वेद तथा गीता में इसी प्रकार का विवेचन है—महत्तत्त्व से अहं, अहं से मन, अहं से ही पंचतन्मात्राएँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ, ये १६ सन्तानें उत्पन्न होती हैं। आगे पंचतन्मात्राओ से पंचमहाभूतों का आविर्भाव होता है। इनका विलय भी इसी क्रम से चलता है। पहले पंचमहाभूत अपने कारणरूप पंचतन्मात्राओं में, पंचतन्मात्रा इन्द्रियों के सहित मन में, मन अहं में, अहं बुद्धि में और बुद्धि अव्यक्त में लीन हो जाती है। अव्यक्त ही प्रकृति है। प्रकृति सदैव पुरुष के आश्रित हो श्रीवत्स के रूप में पुरुष में ही निवास करती है। कठोपनिषद् इस क्रम की विवेचना करते हुए बताता है कि प्रत्येक कारण अपने कार्य से श्रेष्ठ होता है। इस क्रम में—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

(कठ० १/३/१०)

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(कठ० १/३/११)

इन्द्रियों से विषय परे हैं, विषयों से मन परे है, मन से भी बुद्धि परे है, बुद्धि से भी महानात्मा परे है। यहाँ पर महानात्मा का अभिप्राय जीवात्मा से है, जो चेतनस्वरूप

बुद्धि में निवास करता है। उस महानात्मा से परे अव्यक्त है, जिसे प्रकृति कहते हैं और उस प्रकृति से भी परे पुरुष है। यह महानात्मा प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न होता है। व्यष्टि-शरीर में इसे जीव और समष्टि-शरीर में इसी को ईश्वर कहते हैं। वेद का यही हिरण्यगर्भ है और गीता के आठवें अध्याय का यही अधिदैव पुरुष है। इस महानात्मा से परे प्रकृति है, जो परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति है और इस प्रकृति का जो आश्रय है, वह पुरुष है। पुरुष सबसे परे है, वही सबकी अवधि है, वही सबकी परमगति है। उस पुरुष के सम्बन्ध में ही वेद कहता है—

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

कठोपनिषद् के मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि वह परमात्मा ही देवों का कारण है इसलिए वह इन सभी देवों का ज्ञाता है, किन्तु ये उसे नहीं जान पाते, नहीं देख पाते। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है—

तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

(श्वेता० ६/१३)

वह सांख्य और योग के द्वारा ज्ञातव्य, उस कारणस्वरूप परमदेव को जान कर ही समस्त पाशों से विमुक्त होता है। उसी को दूसरी श्रुति में कहा गया है **''ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववित् यः''** यह परमात्मा ज्ञानस्वरूप, काल से परे, समस्त गुणों का अधिपति और सबका ज्ञाता, सर्वज्ञ है। यहाँ अर्षत् शब्द इन्हीं भावों का अवबोधन कराता है।

जीवात्मा उस परमात्मा की ही एक किरण है, उसी से इसका अस्तित्व है। बाह्य और अन्तरेन्द्रियों आदि सभी को प्रकाशित करने वाला जीवात्मा है और जीवात्मा को प्रकाशित करने वाला वह परमात्मा है। ये इन्द्रियाँ तो जीवात्मा को ही नहीं जान पातीं तो भला उसके कारणरूप परमात्मा को कैसे जान सकती हैं? इसलिए वेद का यह कथन है **''पूर्वम् अर्षत् एनम् देवाः न आप्नुवन्''** सबके आदि-ज्ञानस्वरूप इन परमात्मा को देवतागण नहीं प्राप्त कर पाते अथवा नहीं जान पाए हैं। इसके आगे का वाक्य है—

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्त तत् अन्यान् धावतःतिष्ठत् अत्येति ।

वह परमेश्वर दूसरे दौड़ने वालों को स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाता है, लाँघ जाता है, यानि बैठा हुआ भी वह दौड़ने वालों को पार कर जाता है, यह कितनी विचित्र बात है! इस प्रकार की अघटित घटना घटीय-सी है, पटुता से युक्त उस परमात्मा की अद्भुत महिमा का अवबोधन वेद किस प्रकार से कराता है, यह चिन्तनीय, मननीय है। मन्त्र के इस वाक्य में वेद कहता है कि वह स्थिर रहता हुआ भी सभी अन्य दौड़ने वालों को लाँघ जाता है। जिन दौड़ने वालों को लाँघ जाता है वे कौन हैं? इस जिज्ञासा के सम्बन्ध में वेद ऊपर कहे हुए देवताओं की तरफ संकेत करता

है। वे सभी देवगण दौड़ने वाले हैं। वे कितनी गति से दौड़ रहे हैं, इसका कुछ अनुमान आप लोग वर्तमान के विज्ञान की उपलब्धियों द्वारा लगा सकते हैं। वे देवगण कौन हैं—इस विषय में यजुर्वेद संक्षेप में सूची प्रस्तुत करता है—

अग्निर्देवता वायो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता,
रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता
बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

इस मन्त्र में जिन देवताओं की गणना है, वे इतने ही नहीं है। इसमें तो प्रधान देवताओं का ही उल्लेख किया है। वर्तमान के विज्ञान ने इनमें से कई देवताओं की गति का बहुत कुछ अंशों तक पता लगा लिया है और इन्हीं में कुछ ऐसे भी देवता हैं जिनकी गति के विषय में वैज्ञानिक कल्पना तक भी नहीं कर सके हैं, यथार्थ जानकारी तो दूर की बात रही। वेद कहता है—ये सभी पवन आदि गतिशील देवता अपनी पूरी गति से दौड़ते हुए भी उसे छू नहीं पाते, वह बैठा हुआ ही इन सभी दौड़ने वालों को अतिक्रमण कर जाता है। इस वाक्य में उस परमात्मा की व्यापकता का अवबोधन कराया गया है।

इसी प्रकार के वैदिक साहित्य में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं जिनमें अद्भुत रीति से परमात्मा की सत्ता और महत्ता का बोध कराया गया है। वेद कहता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

वह परमात्मा बिना चरण के चलता है, बिना हाथ के ग्रहण करता है, बिना नेत्र के सब-कुछ देखता है और बिना कान के ही सब-कुछ सुनता है। इस मन्त्र में परमात्मा की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता तथा सर्वसमर्थता का वर्णन किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन्हीं मन्त्रों का रामायण में अनुवाद करते हुए लिखा है—

बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ।।
आनन रहित सकलरस भोगी । बिनु बानी वकता बड़ जोगी ।।
कर बिनु परस नैन बिनु देखा । गहइ घ्राण बिनु बास असेषा ।।
अस सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा अमित जाइ नहिं बरनी ।।
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सो दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ।।

इन चौपाइयों में गोस्वामी जी ने परमात्मा की इन समस्त क्रियाओं को अलौकिक कहा है, लौकिक वा प्राकृतिक गतिविधियों से बिल्कुल विपरीत गुण-धर्म के वर्णन के द्वारा परमात्मा की महिमा का गान किया है। वह अचल है, स्थिर है, मन से भी अधिक गति वाला है, देवगण भी उसे नहीं पा सके हैं, वह सबका आदि-ज्ञानस्वरूप, स्थिर रहता हुआ भी सभी दौड़ने वालों को लाँघ जाता है क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वत्र तथा सर्वसमर्थ है।

इस मन्त्र का आखिरी चरण है—"**तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति**" उसकी उपस्थिति में, उसके होने से या उसकी सत्ता से "**मातरिश्वा अपः दधाति**" वायु रसात्मिका जीवनी शक्ति का सम्पादन करने में समर्थ होता है। यह आप सभी जानते हैं कि हमारे जीवन का आधार प्राण-शक्ति है। वह प्राण-शक्ति वायु में निहित है। उपनिषद् उसी को रस कहती है—"**रसो वै सः**" वह रसस्वरूप है। तैत्तिरीय की श्रुति कहती है—यहाँ कौन जीवित रहता, कैसे श्वास लेता, यदि वह रस आकाश-रूप में स्थित न होता। वह परब्रह्म परमात्मा आकाश में रसरूप से स्थित है। वह रस ही प्राणवायु है, वही जीवनी शक्ति है, उसी को अपस् कहते हैं, उस अपस्-तत्त्व को धारण करने वाला जो मातरिश्वा है, वह परमात्मा की शक्ति से ही धारण करता है। उन्हीं प्रभु के द्वारा उसका सम्पादन करता है। आप लोग विचार करें—जिस प्राणवायु को हम ले रहे हैं, जिसके अभाव में हम जीने की कल्पना तक भी नहीं कर सकते, क्या वह हमारे कर्म का परिणाम है? जिस आक्सीज़न के द्वारा हम सभी का जीवन है, क्या वह हमारे कर्मों द्वारा बनी है? आप सभी जानते हैं उस प्राण-तत्त्व की दृष्टि में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भेद नहीं। ऊँच-नीच, पठित-अपठित, विद्वान्-मूर्ख, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, शूकर-कूकर, यहाँ तक कि जड़-चेतन का भी भेद किए बिना, वह प्राणमयी शक्ति सदैव सभी को जीवन प्रदान कर रही है।

संस्कृत में जल का एक नाम जीवन भी है, इसे अमृत भी कहते हैं। कोशकार ने लिखा है "**जीवनं जलम्**"। आप लोग जानते हैं इस जल का मूल कारण क्या है? वर्तमान के वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धान के द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन किया है। ऑक्सीज़न और हाइड्रोज़न, इन दोनों की मात्राविशेष के संयोग का परिणाम ही जल है। जल-रूप में भी वही जीवनी शक्ति ऑक्सीज़न को ही हम ग्रहण करते हैं। वह रसात्मक ऑक्सीज़न यहाँ 'अपः' शब्द से अभिहित किया गया है। उसको धारण और सम्पादन करने वाली शक्ति का नाम ही मातरिश्वा है। उस मातरिश्वा की यह जीवनदायी क्रिया जिसकी शक्ति वा उपस्थिति में हो रही है, वही परमात्मा है। वेद कहता है "**प्राणो हि भूतानां आयुः**" प्राण ही भूतों की, जीवों की आयु है। वह प्राण क्या है? इस विषय में श्रुति कहती है—

सर्वमेवत आयुर्यन्ति ए प्राणं ब्रह्मोपासते ।

जो कोई प्राण की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं, वे सभी निःसन्देह सम्पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्म ही प्राणरूप में अभिव्यक्त होकर समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करता है। वेद कहता है—

तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । (श्वेता० ४।२)

वह परमात्मा ही वायु है और वही ओषधियों में रस प्रदान करने वाला चन्द्रमा है। एक दूसरे मन्त्र में कहा गया है—

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ।।

(श्वेता० २। १७)

''जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो समस्त लोकों मे प्रविष्ट हो रहा है, जो ओषधियों में, वनस्पतियों में है, उस परमदेव को बार-बार नमस्कार है।'' अभिप्राय यह कि वह परमात्मा स्वयं मातरिश्वा जीवनी शक्ति का सम्पादन करता है।

उस परब्रह्म परमात्मा की महत्ता को समझकर, सबके जीवनदाता उस प्रभु को सर्वरूप में देखते हुए, स्वयं के अहं को उसी मे समर्पित कर उससे अभिन्न हो जाएँ—यही मोक्ष है, यही परमगति है, इसी को प्राप्त कराना ब्रह्मविद्या का उद्देश्य है। गम्भीरता से विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि जिस परमात्मा से समस्त प्राणियों को जीवन प्राप्त हो रहा है, उसको न जानकर यदि हम अपने शरीर और शरीर के सम्बन्धियों में आसक्त हो, हित-अहित का विचार किए बिना सदैव भोगमय पदार्थों की लिप्सा में लगे रहें तो हमें कौन समझदार कहेगा?

वेद कहता है—तुम उस परमात्मा को जानो, उसकी महिमा का अनुभव करो। उसके द्वारा मिले हुए पदार्थों का उपयोग करते हुए लोकहित में सदैव निरत रहो। तुम्हारे इस प्रकार के जीवन से केवल मानव-समाज ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि जीवों का भी कल्याण होगा। तुम अपने सत्कर्मों से सर्वत्र सात्त्विक वातावरण निर्माण कर, समस्त जीवों के विकास में सहयोगी बनोगे। यदि इसके विपरीत स्वार्थमय तुम्हारा आचरण है तो याद रखो, तुम आत्महत्यारे की गति को प्राप्त करोगे, जिसका विवेचन पिछले मन्त्र में किया जा चुका है। वेद बार-बार विभिन्न रूपों मे उस परमात्मा की ही महिमा का गान करता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जब तक वह किसी की सत्ता और महत्ता के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं करता, तब तक उसके प्रति उसकी अनुरक्ति, उसका लगाव नहीं होता। मनुष्य सदैव महत्त्वपूर्ण पदार्थों को प्राप्त करने के लिए ही लालायित रहता है और वेद विविध प्रकार से प्रभु की महत्ता का बोध कराकर मनुष्य को उसे जानने और उसे प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इसीलिए वह उसकी अलौकिक महिमा का वर्णन करते हुए कहता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

आज आप लोगों को इस मन्त्र का अर्थ संक्षेप रूप में समझा दिया गया है, शेष चर्चा कल होगी। □□

१३

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणकारी हो, यही मेरी शुभकामना। आप लोग यहाँ ईशोपनिषद् के माध्यम से ही सनातन हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को श्रवण कर रहे हैं, समझ रहे हैं। मेरा विचार है कि आप लोगों को हिन्दू धर्म का पूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण समझा दूँ, जिससे आप लोग गौरव के साथ अपने धर्म का आस्थायुक्त पालन करें और दूसरों को भी इसकी विशिष्टता का बोध करा सकें, समझा सकें। आप सबको यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि आप हिन्दू सनातन धर्म के अनुयायी हैं। सनातन धर्म शाश्वत है। वह किसी व्यक्ति के द्वारा चलाया हुआ मज़हब या पंथ नहीं। शाश्वत धर्म तत्त्वद्रष्टा मनीषियों की खोज है। जैसे आज के वैज्ञानिक अपने प्रयत्न द्वारा प्राकृतिक नियमों का अन्वेषण कर रहे हैं, उसी प्रकार से प्राचीन काल में तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने दैवी गुणों तथा दैवी नियमों का अन्वेषण किया और उसी को उन्होंने शास्त्र-रूप में मानव-जाति को प्रदान किया है। उन ऋषियों की खोज से जो गुण, जो नियम, जो विधि, जो व्यवस्था हमें उपलब्ध हुई है, उसी को सनातन धर्म के नाम से अभिहित किया गया है।

यहाँ एक बात और ध्यान रखनी है कि धर्म की स्थिति ऋषियों की खोज से पूर्व भी थी, क्योंकि धर्म शाश्वत है। ऋषियों ने उस शाश्वत धर्म को अनुभव कर, मानव के हित में संकलित कर, उसे शास्त्र-रूप में प्रदान किया है। जैसे गुरुत्वाकर्षण का नियम न्यूटन ने नहीं बनाया, यह तो प्राकृतिक नियम है और प्रकृति के समान ही शाश्वत है, नित्य है, उतना ही पुराना है जितनी पृथ्वी, किन्तु उसे पश्चिमी देशों में सर्वप्रथम न्यूटन ने ही अनुभव किया। उसके क्रम का अध्ययन करके उसने उसे जाना, समझा और मानव-समाज के सामने प्रस्तुत किया, इसलिए गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त न्यूटन के नाम से प्रचलित हो गया, किन्तु प्रकृति का वह नियम अनादि है, नित्य है। ठीक उसी प्रकार से प्राकृत तथा अप्राकृत जो भी गुण हैं, धर्म है, नियम हैं, वे सभी शाश्वत हैं, ऋषियों ने उनका अन्वेषण कर मानव के सामने उजागर कर दिया। उन्होंने बताया कि यह प्राकृत गुण-धर्म-स्वभाव तथा दैवी नियम सभी शाश्वत हैं, सनातन हैं। इनके अनुसार पदार्थों का समुचित रूप से प्रयोग करता हुआ जीव अपने अभीष्ट रूप शिवत्व को प्राप्त कर लेगा और सदा के लिए कृतकृत्य हो, जन्म-मरणरूप सृष्टि-प्रवाह

से विमुक्त हो जाएगा। यही शाश्वत सनातन धर्म का प्रयोजन है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि सनातन धर्म का आधार विश्वास नहीं, फ़ेथ नहीं, मान्यता नहीं, विशुद्ध विज्ञान है, क्योंकि ऋषियो की तत्त्वान्वेषणी प्रज्ञा-प्रसूत अनुभूत ज्ञानकोष ही इस धर्म का मूल स्रोत है जिसको हम सभी उपनिषद् वा ब्रह्मविद्या के नाम से जानते हैं।

हमारे सभी ग्रन्थों और पंथों का मूल आधार यही ब्रह्मविद्या है। विश्व की मनुष्य-जाति के लिए दिव्य-जीवन का सर्वप्रथम उपदेश ब्रह्मविद्या के द्वारा ही प्राप्त हुआ। उस दिव्य सन्देश में ऋषियों ने जिन तत्त्वों की विवेचना की है उनकी तुलना जब हम वर्तमान के वैज्ञानिकों की उपलब्धियों से करते हैं तो आश्चर्य होता है। आज से हज़ारों वर्ष पूर्व, हमारे इतिहास के अनुसार लाखों वर्ष पूर्व, उन प्रज्ञावान् मनीषियों की कितनी महान् अनुभूति थी! जिन तत्त्वों की मीमांसा को उन्होंने एक नियमबद्ध रूप देकर मानव-समाज की ज्ञानवृद्धि के लिए प्रतिष्ठित किया है, उनको समझना भी आज के बुद्धिजीवियों के लिए असम्भव-सा प्रतीत होता है। प्राकृतिक तत्त्वों की तो पूर्णरूपेण नियमबद्ध विवेचना की ही है, साथ ही उन्होंने उस प्रकृति से परे अप्राकृत तथा परम चैतन्य पुरुष तत्त्व की भी गुण-धर्मयुक्त एक विशिष्ट विवेचना प्रस्तुत की है, जिसके विषय में वर्तमान का वैज्ञानिक कल्पना तक भी नहीं कर सकता। वे तत्त्वद्रष्टा ऋषि केवल फ़िज़िक्स ही नहीं, मैटाफ़िज़िक्स के भी पूर्ण ज्ञाता थे। वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने से उनके ज्ञान-विज्ञानयुक्त अलौकिक प्रतिभा के प्रकाश का बोध होता है।

यह बात याद रखें, वैदिक विज्ञान काल्पनिक नहीं, वह अनुमत सत्य की विवेचना प्रस्तुत करता है। इसलिए मैं आप लोगों को समझा रहा था कि सनातन धर्म की मूल आधारभूत वैदिक विज्ञान की प्रतिपादिका इस ब्रह्मविद्या को समझ लेंगे तो अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं जीवन-विकास की व्यवस्था पर आपको भी उतना ही गौरव होगा जितना मुझे है। वेद का कथन है—"**एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।**" 'जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।' जिस ब्रह्मतत्त्व का बोध प्राप्त करके मृतधर्मा मनुष्य अमृत हो जाता है, अमर हो जाता है, उस ब्रह्म की विवेचना, उसको प्राप्त करने की विधि का बोध कराना ही वैदिक साहित्य का उद्देश्य है।

स्वभावतः मनुष्य मृतधर्मा है; वेद के कई सूत्रों में इसे 'मर्त्य' संज्ञा से ही सम्बोधित किया गया है; किन्तु वह मृत्यु आत्मा से सम्बन्धित नहीं, शरीर से सम्बन्धित है। परिवर्तन, मृत्यु, नाश, ये सब शरीर के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा एक-रस, अमृत तथा अविनाशी है। शरीर के गुण-धर्म से बिल्कुल विपरीत आत्मा के गुण-धर्म का विवेचन तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने प्रस्तुत किया है और बताया है कि इन दोनों के भेद को जानकर ही मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण कर अमृत का उपभोग कर सकता है। उस

आत्मा की महत्ता का विवेचन करने के लिए ही ईशोपनिषद् का यह चौथा मन्त्र प्रवृत्त हुआ है, जिसकी व्याख्या कल संक्षिप्त रूप से की गई थी। अब उसी सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें आगे पुनः बताई जाएँगी।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

यहाँ आत्मा का प्रथम लक्षण **''अन एजत्''** जो कहा है उसका प्रकारान्तर से एक अर्थ अपरिवर्तनशील भी होता है क्योंकि जहाँ गति है, जहाँ मूवमैंट है, वही परिवर्तन है और परिवर्तन में ही विनाश की स्थिति है, क्योंकि विनाश का अर्थ कार्य का कारण में लय होना है और यह कार्य-कारण-भाव गति और परिवर्तन से ही सिद्ध होता है। परमात्मा में गति न होने से न तो कार्य-कारण-भेद है, न ही परिवर्तन वा विनाश की ही सम्भावना है। वेद का कथन है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । (श्वेता० ६।८)

उस परमात्मा के कार्य-करण नहीं हैं क्योंकि एक-दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि वह कार्य और करण के स्वामियों का भी स्वामी है, अभिप्राय यह कि परमात्मा मे गति नहीं, परिवर्तन नहीं। कल भी मैने बताया था कि गति सदैव अपूर्ण में ही हुआ करती है, एकदेशीय में ही हुआ करती है। जैसे आपको यहाँ से चल करके वहाँ दूसरे देश में जाना है इसलिए आपमें गति होगी, आपको चलना होगा लेकिन जो सर्वदेशीय है, सर्वव्यापी है उसमें यहाँ और वहाँ का भेद नहीं। आकाशवत् वह सदैव सर्वत्र मौजूद है, इसलिए उसमें यहाँ से वहाँ जाने की क्रिया की कल्पना ही नहीं हो सकती। इस शब्द में एक और भी गम्भीर अर्थ छिपा हुआ है, उसे भी आप लोग ध्यान से समझ लें।

गति के दो कारण होते हैं, जिसे दार्शनिक भाषा मे आकर्षण और दबाव कहते हैं। जिस किसी वस्तु में गति हो रही है, उसमें इन दोनों में से कोई एक कारण अवश्य होगा—या तो उसे आगे से कोई खींच रहा होगा या फिर पीछे से कोई धकेल रहा होगा। आगे से खींचने को ही आकर्षण कहते हैं और पीछे से धकेलने को दबाव कहते हैं। इसके सिवा गति में और कोई कारण नहीं हो सकता। आप लोग अपने आपका ही अध्ययन कीजिए। आपमें जब गति होती है तो उसमें भी यही दो कारण होते हैं—या तो जहाँ आप जाते हैं वहाँ आपके लिए कोई आकर्षक तत्त्व होता है तब जाते हैं, या कभी-कभी पीछे से कोई धकेलता है, मजबूर करता है तब जाते हैं। जैसे आप लोग घर से चले और यहाँ इतनी दूर मेरे पास आए हैं, इसमें कोई मजबूरी नहीं है, आपको किसी ने धकेला नहीं है। आए हैं इस जिज्ञासा से, इस रुचि और उत्साह से कि यहाँ आकर आपको कुछ सुनने, समझने और ज्ञानवृद्धि के साधन सीखने को मिलेंगे। इसी प्रकार जहाँ जाने में मजबूरी न हो, सहज रुचि हो, उल्लास हो, उत्साह

हो तो वहाँ अवश्य ही कोई आकर्षण का केन्द्र होता है। यह आपकी गति में एक कारण है। कभी आप प्रातः बिस्तर से उठते हैं, शरीर में सुस्ती होती है, प्रमाद की मात्रा भी अधिक होती है, मन दबा हुआ-सा रहता है, आपको उठने तक की रुचि नहीं होती, फिर भी आपको काम पर जाना पड़ता है और न चाहते हुए भी आप जाते है। उस समय जो आपमें जाने की गति होती है, वह दबाव से ढकेले हुए मजबूरी-वश होती है, वह आकर्षण नहीं है, पुशिंग (दबाव) है। मजबूरी यह होती है कि नौकरी नहीं मिलेगी, पैसे नहीं मिलेंगे, जीविका कैसे चलेगी? परिवार का क्या बनेगा? इस प्रकार की विवशता आपकी गति में कारण बन जाती है। आप नहीं चाहते, आप स्वस्थ नहीं हैं, प्रसन्न नहीं हैं, फिर भी आपको चलना पड़ता है, करना पड़ता है। यह मैंने आप लोगों को सामान्यतः गति के कारण बताए हैं।

इसी रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो गति है उसके विषय में भी यही मान्यता है। प्राचीनकाल के विद्वानों ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रकृति में जो गति है उसका कारण क्या है? आकर्षण वा दबाव? इसके उत्तर में दार्शनिकों का कथन है कि प्रकृति की गति में दबाव नहीं, आकर्षण ही कारण है। सांख्यशास्त्र का एक सूत्र है—

पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते ।

पुरुष की सन्निधि में ही प्रधान की प्रवृत्ति होती है। यही बात गीता में भगवान् ने कही है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। (गीता ९।१०)

"मेरी अध्यक्षता में, मेरे सकाश से, यह प्रकृति चर-अचर-सहित सम्पूर्ण जगत् का सृजन करती है। इस हेतु से ही यह जगत्-चक्र चल रहा है अर्थात् मेरी उपस्थिति मात्र से ही इस चराचररूप जगत् की सम्पूर्ण गति चल रही है।" कहने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति की गति का कारण पुरुष का आकर्षण है, किसी का दबाव नहीं। प्रकृति किसी के द्वारा ढकेली नहीं जा रही, वह पुरुष के आकर्षण से स्वयं ही गतिशील हो रही है। सम्पूर्ण चराचर जगत् को आकर्षित करने से ही उस परमात्मा का एक नाम 'कृष्ण' है। कृष्ण का अर्थ होता है चराचर को अपनी ओर आकर्षित करने वाला।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह कैसे स्वीकार किया जाए कि चराचर जगत् के आकर्षण का केन्द्र वह परमात्मा है? इसके उत्तर में तत्त्ववेत्ता महर्षियों ने **"यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"** के सिद्धान्त की स्थापना की है। जो कुछ आपके इस व्यष्टि-जीवन में है, वही इस ब्रह्माण्ड में भी है। इसीलिए वेद कहता है **"सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषः"** यह पुरुष परमात्मा की प्रतिमूर्ति है। अब आप स्वयं अपना अध्ययन करें, अपने-आपको समझें तो इस जगत् की गतिविधि का बोध प्राप्त हो जाएगा। यह आपका शरीर असंख्य सजीव कोशों का संघात मात्र है। कोशों को इंग्लिश में सैल्ज़ कहते हैं, वे

सैल्ज़ जो आपके शरीर के रूप में संगठित हुए हैं, चर और अचर दोनों तत्त्वों के संघात से बने हैं। अब आप स्वयं विचार कीजिए—यह जो आपके शरीर की आकृति है, स्थिति है, यह जिन कोशों के संघात मात्र से बनी है, जिन परमाणुओं के संघात का परिणाम है, उन सब के संगठित होने का कारण क्या है? यह तो आप जानते ही हैं कि असंख्य परमाणुओं का एक रूप मे संगठित होना, यह किसी धक्के से सम्भव नहीं, यह किसी दबाव का परिणाम नही; इसमें तो केवल आकर्षण ही कारण हो सकता है। तो आपके शरीरगत असंख्य कोशों के, असंख्य परमाणुओं के आकर्षण में कारण कौन है? किसके द्वारा आकर्षित होकर ये सभी एक रूपविशेष की रचना किए हुए हैं? इस सम्बन्ध में आपका क्या उत्तर हो सकता है? केवल यही कि जिसके न होने पर ये सभी परमाणु बिखर जाते हैं, छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वही इन सबके आकर्षण में हेतु है। वेदान्त उसी को आत्मा शब्द से सम्बोधित करता है। यथार्थतः वही आपका अपना-आप है। इस शरीर में वही कृष्ण है, जो इन्द्रिय-समूहरूपी गोपियों के साथ शरीररूपी वृन्दावन के चित्तरूपी निकुञ्ज में अपनी परम प्रेयसी चेतना-शक्तिरूपी राधिका के सहित विराजित है। उस कृष्ण के द्वारा ही ये समस्त शरीरगत परमाणु आकर्षित हो रहे हैं।

जिस प्रकार से व्यष्टि-रूप में आत्मा की स्थिति है, उसी प्रकार इस चराचर जगत् में परमात्मा की। ये अनन्त ब्रह्माण्ड कोशों के ही समान हैं और उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सकाश में आकर्षित होकर चराचर जगत् की संरचना किए हुए हैं; वह परमात्मा केवल इस चराचर जगत् का आकर्षण-केन्द्र ही नहीं है, वह इन सब में रमा हुआ भी है, व्याप्त भी है। जब असंख्य परमाणु मिलकर एक कोश का निर्माण करते हैं तो कोशगत परमाणुओं के आकर्षण में भी वही आत्मतत्त्व कारण होता है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण चराचर में रमण करने के नाते उसे राम कहते हैं। अनन्त रूपों में अभिव्यक्त हो इन सब के साथ उसकी नित्य क्रीड़ा हो रही है, इसलिए वह परमतत्त्व परमात्मा राम शब्द से अभिहित किया जाता है।

इस विवेचन से आप लोग समझ गए होंगे कि राम, कृष्ण, पुरुष आदि नामों से अभिहित होने वाला जो परमात्मा है, जिसके आकर्षण से समस्त चराचर में गति हो रही है, भला उसे कौन आकर्षित कर सकता है? जो सबको आकृष्ट करने वाला है, उसे कौन आकृष्ट करेगा? जो सबका केन्द्र है उसका केन्द्र कौन होगा? इसलिए वेद कहता है—**''अन एजत् एकम्''** वह एक अद्वितीय परमात्मा अचल है, गति हीन है, क्योंकि उसे कोई आकर्षित करने वाला नहीं है, उसे कोई धकेलने वाला भीं नहीं है, इसलिए वह स्वयं में अचल है। परमात्मा का एक नाम कूटस्थ भी है जिसका अर्थ होता है **''कूटवत् स्थित''**। लुहार लोहे को गर्म करके जिस निहाय पर धरकर उसे कूटता है, उसे कूटस्थ कहते हैं। जैसे वह निहाय स्थिर होता है, उसी

प्रकार से वह परमात्मा स्थिर है, कूटस्थ है, अचल है। यहाँ आप यह भी समझ सकते हैं कि आकर्षण में जो हेतु होता है, वह उस आकर्षित होने वाले पदार्थ से श्रेष्ठ होता है, विशिष्ट होता है। दूसरे शब्दों में वह उसका अंशी होता है, आधार होता है। यह तो आप सभी जानते हैं कि आपकी दृष्टि में जो अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, उसी की तरफ आप दौड़ते हैं और किसी वस्तु की महत्ता को समझना, यह बुद्धि पर ही अवलम्बित है। जैसे बालक के लिए मिठाई और खिलौना महत्त्वपूर्ण होता है, युवावस्था में पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष महत्त्वपूर्ण होता है, प्रौढ़ावस्था में धन-सम्पत्ति, पद-पदार्थ आदि महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं; किन्तु जब विशुद्ध बुद्धि का उदय होता है तो केवल इस विश्व का अकंटक आधिपत्य ही नहीं बल्कि ब्रह्मलोक तक के समस्त सुख-साधन तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं और इन सबका प्रकाशक, इन सबसे परे स्थित वह परमात्मा ही यथार्थतः जीव के लिए प्राप्तव्य तथा वही उसके आकर्षण का केन्द्र होता है।

जब तक जीव अपना मूल्य पद-पदार्थ से मापता है, जब तक वह अपनी सत्ता वा महत्ता में संसार की धन-सम्पत्ति वा अधिकार को कारण मानता है, तब तक इनकी ओर ही उसकी दौड़ लगी रहती है, इन्हीं के पीछे वह पागल बना रहता है। इस प्रकार के पागलपन में उसकी अज्ञानता, अबोधता ही कारण होती है; किन्तु ज्ञान हो जाने पर संसार की ओर होने वाली भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है और वह अपने कारणरूप परमात्मा की ओर ही प्रयाण करता है। उससे युक्त हो वह सदा के लिए अचल हो जाता है। गोस्वामी जी ने रामायण में लिखा है—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई । होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ।।

यह तो रही जीवों की गति की बात। परमात्मा में अज्ञान का स्थान नहीं, वह सहज प्रकाशरूप है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ।।

श्रुति कहती है—"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" वह परब्रह्म परमात्मा सत्य, ज्ञान-स्वरूप और अनन्त है। इससे वह अबोधता, अज्ञानतावश किसी की ओर आकर्षित नहीं हो सकता और दूसरा उससे परे, उससे श्रेष्ठ, उससे महान्, उससे अधिक गुण-ज्ञान और ऐश्वर्ययुक्त कोई अन्य नहीं; इसलिए वह किसी की ओर आकर्षित नहीं होता। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है—

न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते । (श्वेता० ६।८)

उसके समान और उससे बड़ा कोई नहीं दीखता। गीता में प्रभु से प्रार्थना करते हुए अर्जुन कह रहा है—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव । (गीता ११।४३)

''अप्रतिम प्रभाव वाले प्रभु, आपके समान इस त्रिलोकी में दूसरा कोई नहीं है तो आपसे अधिक की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।'' मैं आप लोगों को समझा रहा था कि गति के जो दो कारण हैं—आकर्षण और दबाव, वह परमात्मा इन दोनों से ही परे है। इसलिए श्रुति का यह **'अनेजदेकं'** वाक्य सर्वथा सार्थक है। उपनिषद् उसे **''प्रशान्तं ब्रह्म''** तथा **''शान्तं शिवं अद्वैतं''** वह शान्त है, शिव है, अद्वैत है, ऐसा घोषित करती है।

जो स्वयं में एक है, अद्वैत है, पूर्ण है, तृप्त है, उसमें गति की गुंजायश नहीं, गति की सम्भावना नहीं, वह **''एकमेवाद्वितीय''** है। अभिप्राय यह कि वह अपने समान आप ही है, अपनी उपमा आप ही है। वेद कहता है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । (श्वेता० ४।१९)

जिसका महान् यशयुक्त नाम है, उसकी कोई प्रतिमा वा प्रतिमान नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वत्र, सर्वरूप में वही है। उस परमात्मा के सिवा और उससे परे कुछ है ही नहीं, तो उसमें गति किस प्रकार से हो सकती है? वही परमात्मा आपकी आत्मा के रूप में भी विराजित है, इसलिए आपमें जहाँ तक गति है वह प्राकृत है, मायामय है, किन्तु जो आपका अपना स्वरूप है, जो सबका साक्षी, ज्ञाता और द्रष्टा है, वह अचल है, कूटस्थ है, शान्त है, शिव है, अद्वैत है, यही उपनिषद् का सन्देश है।

वेद कहता है कि—**''अजायमानो बहुधाविजायते''** वह अजन्मा परमात्मा स्वयं ही अनन्त रूपों में प्रकट हुआ है। जिस प्रकार से अनेक आभूषणों के रूप में प्रकट होने पर भी स्वर्णतत्त्व में किसी भी प्रकार की गति वा परिवर्तन नहीं, ठीक उसी प्रकार से अनन्त रूपों में प्रकट होने पर भी परमात्मा में कोई गति वा परिवर्तन नहीं। जिस प्रकार से आभूषणों के नाम, उनकी आकृतियाँ, अनेक रूपों में उनका प्रयोग स्वर्ण के स्वर्णत्व में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाता, उसी प्रकार से अनन्त नाम-रूपों में अभिव्यक्त हुआ-सा प्रतीत होने वाला यह चराचर जगत् अपने कारणरूप परमात्मा की अचलता में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता। तत्त्वद्रष्टा मनीषी इस रहस्य को समझाते हुए उस परमात्मा की महिमा का गान करते हैं और कहते हैं—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

परमात्मा की अद्वितीय, अनुपम तथा अप्रतिम सत्ता और महत्ता को शास्त्रों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। जिस किसी प्रकार से यह तथ्य मनुष्य के लिए हृदयंगम हो सके, समझ में आ सके, उसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिए गए हैं। आप लोगों ने समुद्र देखा होगा—समुद्र में अनन्त लहरें उठती हैं, कोई छोटी और कोई बड़ी, कोई नीची और कोई उससे ऊँची। इन समस्त तरंगों के सतह पर उठते और विलीन होते हुए भी तत्त्वतः समुद्र में कोई हलचल नहीं है। जलरूप में समुद्र

एक और प्रशान्त है तथा तरंगरूप में अनेक और गतिशील। तत्त्वतः उसमें कोई हलचल नहीं, किन्तु तरंगरूप में अनेक प्रकार की हलचल दिखाई देती है। उसी प्रकार से तरंगवत् चराचर जगत् के रूप में सर्वत्र गति और हलचल होते हुए भी समुद्ररूप परमात्मा में न तो कोई गति है और न हलचल ही।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक दूसरा भी उदाहरण दिया गया है--जिस प्रकार मिट्टी के विविध प्रकार के पात्र बन जाते हैं, उनके विविध नाम, रूप और प्रयोग होते हैं, किन्तु मृत्तिका-रूप में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आता, वह सर्वत्र सर्वरूप मे समान ही रहती है, ठीक उसी प्रकार से उस परमात्मा से ही यह अनन्त नाम-रूपों वाला जगत् अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु तत्त्वतः उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं, व्यवधान नहीं। एक पद में मैंने इस रहस्य को व्यक्त करते हुए लिखा है—

हैं खांड के खिलवार सब, खिलवार खांड बना नहीं ।
भूषण अनेकों नाम बहु, पर स्वर्ण तत्त्व समान ही ।।
आकाश से सब द्रव्य हैं, आकाश सब में व्याप रे ।
त्यों राम तेरा बावरा, सब ठौर में वह आप रे ।।

इस सृष्टि में जितने पदार्थ हैं सभी आकाश के ही परिणाम हैं। विज्ञान की भाषा में उस आकाश को ही एनर्जी वा ऊर्जा कहते हैं। वैज्ञानिकों का भी यही कथन है, उनके अनुसन्धान का यही परिणाम है कि समस्त पदार्थों के रूप में एनर्जी ही अभिव्यक्त है। जिस प्रकार से एनर्जी वा आकाश समस्त द्रव्यों का कारण है, वही सबमें व्याप्त है और दृश्य जगत् की समस्त गतिविधियों का वही हेतु है किन्तु उसमें किसी प्रकार की गतिविधि नहीं है, वैसे ही वह परमात्मा जो आकाश का भी आकाश है, वेद के शब्दों में जिससे आकाश की सत्ता है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।

अर्थात् जो उस आकाश का भी कारण है, आकाश से भी सूक्ष्म है, वह एक, अद्वितीय, अचल है—**"अन एजत् एकम्"** है। न तो उससे कोई आगे है जो उसे आकर्षित कर सके और न कोई उससे पीछे है जो उसे ढकेल सके। वही सबके ऊपर है, वही सबके नीचे है, वही सबके आगे है, वही सबके पीछे है, सर्वत्र सर्वरूप में वही है, इसमें देशभेद, कालभेद, दिशाभेद नहीं है। वह न तो किसी से खींचा ही जा सकता है, न ढकेला ही। इसलिए उसके प्रति **"अनेजदेकं"** वाक्य सर्वथा सार्थक एवं उचित है।

इसके आगे का वाक्य है—**"मनसः जवीयः"** इस विषय में कल बताया गया था कि वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ होने से मन से भी अधिक गति वाला कहा गया है। श्रुति का कथन है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

(मुण्डक० २।२।५)

जिसमें स्वर्ग, पृथ्वी और उनके बीच का अन्तरिक्ष आकाश तथा समस्त प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत है, गुँथा हुआ है, उसी एक परमात्मा को जानो, दूसरी सब बातों को सर्वथा छोड़ दो, यही अमृत का सेतु है। उस परमात्मा के ज्ञान से ही तुम मृत्यु से पार हो अमृत-तत्त्व को प्राप्त कर पाओगे। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

सर्वैः प्राणैः सह मनः ओतम् ।

समस्त प्राणों अर्थात् इन्द्रियों के साथ मन उस परमात्मा में ओतप्रोत है, अभिप्राय यह कि वह मन का भी अधिपति है, मन से परे है। इसी बात को समझाने के लिए वेद कहता है—**''मनसः जवीयः''**। इस विषय में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। इससे आगे का वाक्य है—

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
पूर्वम् अर्षत् एनत् देवाः न आप्नुवन्

ज्ञान स्वरूप इस पूर्व पुरुष को देवतागण प्राप्त नहीं कर सके हैं। पूर्वम् का अभिप्राय है सबका आदि। अथर्ववेद की श्रुति कहती है—

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः । (अथर्व० १०।४।७।३३)

ज्येष्ठ शब्द का अर्थ होता है प्रथम। जो सबसे प्रथग है, सबसे श्रेष्ठ है, सबसे महान् है, सबका आदि है, उस ब्रह्म को नमस्कार है। सभी देवगण उस परमात्मा के ही अंग हैं, वह सभी का अंगी है, इसलिए यहाँ बताया गया कि देवतागण उसे प्राप्त नहीं कर सके। इस आशय का विशेष वर्णन अथर्ववेद दशम् अध्याय के सातवें सूक्त में किया गया है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में भी इसका वर्णन है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

(शु० यजु० सं० ३१। १२)

अभिप्राय यहं कि सभी देवगण उसी से उत्पन्न होकर उसमें ही स्थित हैं, सभी उसके अंग हैं, वह सभी का अंगी है, सबसे परे है, इसलिए देवतागण उसे प्राप्त नहीं कर सके हैं। श्वेताश्वतर की श्रुति कहती है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।

(श्वेता० ६।७)

वह ईश्वरों का भी ईश्वर है और देवताओं का भी परम देवता है। भला, देवगण उसे कैसे जान सकते हैं? बृहदारण्यक की श्रुति कहती है—

विज्ञातारेऽरे केन विजानीयात ।

'जो सबका ज्ञाता है उसे किसके द्वारा जाना जाए?'

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि जब उसे देवतागण ही नहीं जान सके तो वेद बार-बार उसे जानने का आदेश क्यों देता है? क्यों यह कहता है —

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

उसको जानकर ही मृत्यु से मुक्त हुआ जा सकता है, परे जाया जा सकता है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि देवतागण ही उसे नहीं जान सके तो मनुष्य के लिए उसका जानना सम्भव कैसे? इसके उत्तर में वेद का कथन है कि यद्यपि देवतागण उसे नहीं जान सके हैं किन्तु तुम्हारे लिए उसको जानना असम्भव नहीं है। यहाँ देवता शब्द का अभिप्राय जैसा कि पहले बताया था बाह्य और अन्तरेन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियों के अधिपति से है। वे सभी देवगण उसके अंशभूत हैं, उसके प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं, उनके आविर्भूत होने का प्रयोजन केवल उसकी महिमा को प्रकाशित करना मात्र है; किन्तु वे उसे प्रकाशित नहीं कर सकते, जान नहीं सकते। इसी भाव को व्यक्त करते हुए वेद कहता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(श्वेता० ६। १४)

उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चन्द्रमा और न तारागण ही, न यह विद्युत् ही वहाँ प्रकाशित हो सकती है, फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाश कर सकता है? अभिप्राय यह कि सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत् आदि जो सहज प्रकाशमय हैं, वे ही जब उसे प्रकाशित नहीं कर सकते तो इस बपुरे अग्नि की क्या गति! यह तो स्वयं ही पराश्रित है, इसे तो अपने-आपको व्यक्त करने के लिए भी ईंधन की आवश्यकता होती है, इसलिए इस मृतलोकगत अग्नि की वहाँ पहुँच नहीं।

एक बात यह ध्यान देने की है कि यहाँ जो ''कुतोऽयमग्निः'' कहा है वह मृत्युलोकगत अग्नि की बात है। वेद कहता है उसके प्रकाशित होने पर ही ऊपर बतलाए हुए सूर्यादि सभी उसके पीछे प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। जो प्रकाशकों का भी प्रकाशक है, उसे भला कौन प्रकाशित कर सकता है? इसलिए यहाँ पर बताया कि देवतागण उसे नहीं जान सके **''एनत् देवाः न आप्नुवन्''** किन्तु जीव की ऐसी स्थिति नहीं है। उसके विषय मे वेद कहता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

(कठ० १।२।२३)

यह आत्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर वाणी, श्रवण और बुद्धि के द्वारा उसकी प्राप्ति को असम्भव बताया है। वाणी कर्मेन्द्रियों का प्रतिनिधि है, श्रवण ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधि और बुद्धि अन्तरेन्द्रियों का प्रतिनिधि है। अभिप्राय यह कि कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं अन्तरेन्द्रियों से भी उस परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ये सभी देवतागण उसे पाने में असमर्थ हैं। फिर वह प्राप्त कैसे किया जा सकता है? श्रुति कहती है कि—

यम् एषः वृणुते तेन एव लभ्यः ।

जिसको यह स्वयं स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। और इतना ही नहीं—

एषः आत्मा तस्य स्वाम् तनूम् विवृणुते ।

यह आत्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि प्रभु अपनी कृपा से ही जीव के लिए प्राप्य हैं, साधन से नहीं। इसी बात को भगवान् ने गीता में भी कहा है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। (गीता ११।५३)

"न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार मैं देखा जाने को शक्य हूँ जैसे कि मेरे को तूने देखा है।" ये सभी बताई हुई साधनाएँ बाह्य तथा अन्तःकरणों की शुद्धि के लिए ही उपयोगी हैं, भगवद्-प्राप्ति में नहीं। इन साधनों से दैवी गुणों का विकास होता है, देवत्व की प्राप्ति भी हो जाती है, किन्तु भगवद्-प्राप्ति के ये साधन नहीं हैं। फिर भगवद्-प्राप्ति कैसे हो सकती है? प्रभु को कैसे जाना जा सकता है? इस जिज्ञासा पर प्रभु स्वयं अपनी प्राप्ति का साधन बताते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।। (गीता ११।५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्ति के द्वारा तो इस प्रकार से मैं देखने के लिए, तत्त्व से जानने के लिए तथा एकीभाव को प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ।'

उस प्रभु को तत्त्व से जानना, देखना और तत्त्वतः उनमें लीन हो जाना, उनसे अभिन्न हो जाना, ये सब-कुछ भी सम्भव है केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही। १८वें अध्याय में भी यही बात भगवान् ने कही है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।

(गीता १८।५५)

"पराभक्ति के द्वारा ही भक्त मेरे को तत्त्वतः, मैं जो और जिस प्रभाव वाला हूँ, भली प्रकार जानता है और उस भक्ति से ही मेरे को तत्वतः जानकर तत्काल ही मेरे में

प्रविष्ट हो जाता है, मुझमें लीन हो जाता है।'' अनन्य भक्ति ही परमात्मा को जानने और उसे प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। यही बात गोस्वामी जी ने अपनी रामायण में कही है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥

(अयोध्याकाण्ड १२७)

''हे प्रभो! आप जिसको जना दें वही आपको जान पाता है और आपको जानकर वह आपसे अभिन्न हो जाता है। हे भक्त-उर-चन्दन, रघुनन्दन! भक्तों को शीतलता प्रदान करने वाले प्रभु, तुम्हारी कृपा से ही तुम्हारा भक्त तुम्हें जान पाता है।'' श्रुति-स्मृति और इतिहास द्वारा यह निर्णीत सिद्धान्त है कि परमात्मा की अनन्य भक्ति से ही उसकी कृपा होती है और उसकी कृपा के द्वारा ही यह जीव उसे जानकर, देख कर, तत्त्वतः उसमें लीन होकर, उससे अभिन्न हो जाता है, फिर वह जन्म-मृत्युरूपी संसार-चक्र में नहीं पड़ता। प्रभु की कृपा की प्राप्ति का साधन क्या है? इस विषय में गोस्वामी जी ने लिखा है—

मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥

मन से, वचन से, कर्म से, चातुरी का त्याग कर जो प्रभु का सुमिरन, भजन, सेवा, उपासना करता है, उसी पर प्रभु अपनी कृपा-वृष्टि करते हैं। कठोपनिषद् कहती है—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।

(कठ० १।२।२०)

तम् आत्मनः महिमानम् अक्रतुः वीतशोकः धातुप्रसादात् पश्यति ।

परमात्मा की उस महिमा को कामनारहित, शोकरहित साधक ही उस सर्वाधार परमात्मा की कृपा से देख पाता है, जान पाता है। यहाँ साधक के लिए दो विशेषण दिये हैं—**''अक्रतुः, वीतशोकः''**। 'क्रतु' शब्द का अर्थ होता है कामनायुक्त कर्म करने वाला। इसलिए स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए, कामना पूर्ति के लिए जो यज्ञ किया जाता है उसे भी क्रतु कहते हैं। साधक को क्रतु नहीं, अक्रतु होना चाहिए, कामना-रहित होना चाहिए, दूसरे शब्दों में निष्काम कर्मयोगी होना चाहिए। शोक, चिन्ता आदि सभी कामना के ही परिणाम हैं। कामना सूक्ष्म तत्त्व है, वह अन्तर् में है या नहीं, उसकी अवबोधिका साधक की बाह्यवृत्तियाँ ही हुआ करती हैं। यदि वह शोकाकुल है, चिन्तित है तो अभी वह निष्काम नहीं हुआ और उस कामना की पूर्ति के लिए ही वह अनेक प्रकार के छल-कपट, दम्भ-पाखण्डादि का आश्रय लेता है, जो कि चित्त को मलिन करने वाले हैं। इसलिए श्रुति कहती है अक्रतुःअर्थात् शोकरहित साधक उस सर्वाधार प्रभु की कृपा का पात्र बनता है और वही उन्हें जान पाता है।

गोस्वामी जी ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए बताया कि मन, कर्म, वचन

से चातुरी का त्याग करके ही साधक प्रभुकृपा का पात्र बन सकता है। प्रभुकृपा ही उनके यथार्थ रूप को जानने, देखने तथा उन्हें प्राप्त करने में कारण होती है। साधक शास्त्र के निर्देशानुसार स्वयं को प्रभुकृपा का भाजन बनाकर उन्हें प्राप्त करने में सक्षम हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। जो अपने अहं को सुरक्षित रखते हुए, अपनी कामनाओं को सँजोए हुए प्रभु की उपासना करते हैं, वे उसकी कृपा के पात्र नहीं बन सकते। वे लोग केवल अपने साधनजन्य, प्रयत्नजन्य परिणाम को वा पुरस्कार को ही प्राप्त कर सकते हैं, प्रभु को नहीं। प्रभु को पाने के लिए मन, वचन, कर्म से प्रभु को समर्पित हो जाना ही एकमात्र साधन है। जो स्वयं के अहं को प्रभु-चरणों में समर्पित कर देता है, वही प्रभु का प्रिय होता है, उनका कृपापात्र बनता है। प्रभुकृपा से ही प्रभु को देखकर, जानकर उनसे अभिन्न हो जाता है। यजुर्वेद की श्रुति कहती है—

तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ।

'उसको देखा, वही हो गया क्योंकि वही था।' वेदान्त के सिद्धान्त में जीव का अलग अस्तित्व नहीं, वह परमात्मा की ही अंशाभिव्यक्ति है। अविद्याजन्य, अज्ञानवश वह स्वयं को उससे विलग मान अनेक प्रकार की यातनाओं का शिकार बना हुआ है। जब वह अपने विलगाव के मूल हेतु अहं को समर्पित कर देता है तो उससे अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है।

इससे आप लोग समझ गए होंगे कि देवतागण तो परमात्मा को नहीं जान पाए हैं, किन्तु आप उसे जान सकते हैं, प्राप्त कर सकते हैं, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। आपको परमात्मा तक पहुँचाने, परमात्मा को बताने, परमात्मा को जनाने और उससे अभिन्न करने के लिए ही तो वेदविद्या का अवतरण हुआ है। उस महिमावान् की महिमा का बोध कराने के लिए ही वेद कहता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

'देवा' शब्द का एक अर्थ विद्वान् भी होता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है ''**यो विद्वान् स देव :**'' जो विद्वान् है, वह देव है और श्रुति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वाणी के द्वारा, बुद्धि के द्वारा, श्रवण के द्वारा, शास्त्रज्ञान के द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता। केवल उसकी अनन्य भक्ति और उसकी कृपा के द्वारा ही उसे प्राप्त किया सकता है। इस दृष्टि से भी ''**नैनद्देवा आप्नुवन्**'' शब्द यहाँ सार्थक एवं अभिप्राययुक्त सिद्ध होता है।

आगे का भाग है—''तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'' इस सम्बन्ध में भी बहुत-सी बातें समझाई गई हैं। वह स्थिर रहता हुआ ही सभी दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर जाता है, पार कर जाता है। अभिप्राय यह कि जो सर्वव्यापी है, सर्वरूप है, वह स्थित होता हुआ भी दौड़ने वालों के आगे उपस्थित रहता है। इस मन्त्र में यह विरोधाभास अलंकार है। इस मन्त्र में विपरीत क्रम से प्रभु की व्यापकता और उसकी महिमा का

बोध कराया गया है। बैठा हुआ ही दौड़ने वाले को लाँघ जाता है, क्योंकि दौड़ने वाला जहाँ पहुँचना चाहता है वहाँ प्रभु पहले से ही उपस्थित है, यही तो उसकी सर्वव्यापकता है। उस महिमावान् की महिमा का वर्णन करने के लिए ही वेद इस प्रकार के विरोधाभासमय शब्दों का प्रयोग करता है। अन्वय तथा व्यतिरेक रूप में उसके यथार्थ स्वरूप का अवबोधन कराता है और बताता है कि—

तत् अन्यान् धावतः तिष्ठत् अत्येति ।

वह बैठा रहता हुआ ही, अचल रहता हुआ ही, दूसरे दौड़ने वालों को अतिक्रमण कर जाता है, उनसे आगे खड़ा रहता है।

आखिरी वाक्य है—"**तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति**"। इसकी व्याख्या में भी बहुत-सी बातें आप लोगों को बताई जा चुकी हैं। आपकी जीवनी शक्ति जो अपस् तत्त्व है, जो प्राणन्-क्रिया के द्वारा आपमें चेतना का संचार करती है, उस अपस्-तत्त्व को, प्राणमय तत्त्व को मातरिश्वा (वायु) उस परमात्मा की शक्ति से ही सम्पादन करती है, प्रदान करती है। यह प्राणमयी शक्ति तथा जीवनी शक्ति दोनों का ही आधार वह परमात्मा है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है—

प्राणो वा अन्नम् । आपो वा अन्नम् ।
अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्याप: प्रतिष्ठिताः ।।

(तैत्तिरीय० ३।८)

प्राण अन्न है, अपस् अन्न है, अपस् में तेज प्रतिष्ठित है, तेज में रस प्रतिष्ठित है। कहने का अभिप्राय कि वह परब्रह्म परमात्मा ही प्राण है, वह परमात्मा ही रस है, वह परमात्मा ही तेज है। उसकी सत्ता और महत्ता को समझकर जो उसे आराधते हैं, उनके जीवन में दुःख, शोक, चिन्ता, भय, मृत्यु, विनाश की आशंका नहीं रह जाती।

वेद के इस मन्त्र में उस परमात्मा की अचिन्त्य महिमा का विविध रूपों में वर्णन किया गया है, जिसको संक्षेप में आप लोगों को समझाने का प्रयत्न किया है। वेद के एक-एक शब्द में अनन्त भाव भरा हुआ है, यह स्वयं भगवान् की वाणी है। मुण्डक की श्रुति कहती है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।

(मुण्डक० २।१।४)

उस परमेश्वर का अग्नि मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं और प्रकट वेद ही उसकी वाणी है। वेदार्थ को समझना परमात्मा की वाणी को ही समझना है। उपनिषद् तो वेदान्त है, परमात्मा की वाणी का भी सार है—यह ब्रह्मविद्या विज्ञान है। यथार्थ रूप से इसे समझते हुए भी इसकी पूरी व्याख्या कर पाना कठिन ही नहीं असम्भव है।

यहाँ पर आप लोगों को इन मन्त्रों की व्याख्या के रूप में जो कुछ भी बताया

जा रहा है, इतना ही इसका अर्थ है, भाव है, ऐसा कहना उस अनन्त के अनन्त ज्ञान को सान्त सिद्ध करने के दुःसाहस के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। इसलिए अनन्त परमात्मा की वाणीरूप वेद की व्याख्या भी अनन्त है। उस परमात्मा की कृपा से आप लोगों के लिए जो कुछ उपयोगी तथा अवश्य ज्ञातव्य है, वह बताने, समझाने की चेष्टा की जा रही है। भला आप सोचिए—जिसके एक अंश में अनन्त ब्रह्माण्डों का समूह स्थित है, उसके अल्पांश से भी न्यून अणुमात्र स्थान रखने वाली इस पृथ्वी पर रहने वाला प्राणी मानव अपनी अत्यल्प बुद्धि के द्वारा उस अनन्त की महिमा का वर्णन कैसे कर सकता है? यह तो उस प्रभु की ही कृपा है जो कि वह अत्यन्त महान् होता हुआ भी अपनी करुणावशात् इस अल्पज्ञ मानव के मस्तिष्क में अपनी महिमा को प्रकाशित कर स्वयं को उसके लिए सुगम बना दिया है।

इन चार मन्त्रों में साधक, साधन एवं साध्य के स्वरूप का संक्षिप्त रूप से विवेचन किया गया है। इन्हीं की विस्तृत विवेचना आगे के मन्त्रों में भी की गई है, जिस पर क्रमशः विचार किया जाएगा। अभी तो आप लोग उस महिमावान् की महिमा का चिन्तन करते हुए इस मन्त्र का मनन करें—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

□□

१४

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

मैं आप लोगों को ईशोपनिषद् के माध्यम से शाश्वत सनातन धर्म के मूल सिद्धान्तों को समझा रहा हूँ। अब तक उपनिषद् के चार मन्त्रों की व्याख्या की गई है जिनमें क्रमशः इस चराचर जगत् के मूल आधार-तत्त्व ईश्वर, कर्म और उसकी उपयोगिता, विकर्म तथा अधर्माचरण के परिणाम में मिलने वाली गति तथा परमात्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है। आज मैं इस उपनिषद् के पाँचवें मन्त्र की विवेचना करूँगा। मुझे विश्वास है कि इससे आप सभी शाश्वत सनातन धर्म में परम तत्त्व को किस दृष्टि से देखा और समझा जाता है, इसे सुगमता से जान पाएँगे। परमात्म तत्त्व की व्याख्या करते हुए श्रुति कहती है—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

तत् एजति—वह चलता है, **तत् न एजति**—वह नहीं चलता; **तत् दूरे**—वह दूर से भी दूर है—**तत् उ अन्तिके**—वह अत्यन्त समीप है। **तत् अस्य सर्वस्य**—वह इस सम्पूर्ण जगत् के अन्तः माने भीतर है और **तत् अस्य सर्वस्य**—वह इस सम्पूर्ण जगत् के उ **बाह्यतः**—बाहर भी है। यह हुआ इस मन्त्र का शब्दार्थ। इससे पूर्व वाले मन्त्र में कहा है—**''अनेजदेकं''** जिसका अर्थ होता है—वह परमेश्वर अचल और एक है; किन्तु इस मन्त्र में तत्त्वद्रष्टा ऋषि कहता है **तत् एजति**—वह चलता है, गति करता है। इन दोनों मन्त्रों में विरोधाभास-सा प्रतीत होता है, किन्तु परमेश्वर की व्याख्या करते हुए श्रुति कहती है कि वह परमात्मा समस्त विरोधी गुणों का समाश्रय है। वह चलता भी है और वह नहीं भी चलता—**तत् एजति, तत् न एजति**। एक बात यहाँ ध्यान देने की है कि इस मन्त्र में ब्रह्म की व्याख्या की जा रही है, ईश्वर की नहीं। शास्त्रीय दृष्टि से जहाँ पर ईश्वर की व्याख्या की जाती है वहाँ पर पुँल्लिगरूप में 'सः' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु ब्रह्म के लिए नपुंसकलिंग में तत् शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ पर इस मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या की गई है। ब्रह्म समस्त विरोधी गुणों का समाश्रय है और ईश्वर समस्त दिव्य गुणों का निधान। कुछ आचार्यों ने ब्रह्म और ईश्वर को एक ही परमतत्त्व स्वीकार किया है, किन्तु कुछ आचार्यों के विचार से ईश्वर ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। पंचदशीकार ने विद्योपहित चेतन को ईश्वर

स्वीकार किया है और अविद्योपहित चेतन को जीव। विद्या और अविद्या इन दोनों प्रकार की उपाधियों से परे और इन दोनों के कारणरूप में स्थित सच्चिदानन्दघन को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया है। इस मन्त्र में ब्रह्म के अचिन्त्य स्वरूप की ओर संकेत करते हुए श्रुति कहती है—"**तत् एजति, तत् न एजति**" एज् धातु गति के अर्थ में प्रयुक्त होती है। वह परब्रह्म परमात्मा गतिशील है और उसमें किसी भी प्रकार की गति नहीं होती। ये दोनों वाक्य एक-दूसरे के विरोधी हैं, किन्तु ब्रह्म की व्याख्या में इससे अतिरिक्त कुछ कहा भी नहीं जा सकता।

सृष्टि में सर्वत्र दो प्रकार के तत्त्व दिखाई देते हैं—एक स्थिर और दूसरा गतिशील। गतिशील को संसार, जगत् वा दृश्य कहते हैं और स्थिर को द्रष्टा। दृश्य और द्रष्टा इन दोनों रूपों में उस ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, यही वेदान्त का सिद्धान्त है। प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न में कात्यायन के पुत्र कबन्धी के इस प्रश्न पर कि—

भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति । (प्रश्न० १।३)

"भगवन्! किस कारणविशेष से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है?" महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर में बताया—

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।। (प्रश्न० १।४)

तस्मै सः ह उवाच— उससे वह प्रसिद्ध महर्षि बोले, **वै प्रजाकामः प्रजापतिः**—निश्चय ही सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा वाला वह प्रजापति है। **सः तपः अतप्यत**—उसने तप किया। **सः तपः तप्त्वा**—उसने तपस्या करके। **सः रयिम् च प्राणम् च इति मिथुनं उत्पादयते**—उसने रयि और प्राण यह जोड़ा उत्पन्न किया। **एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः इति**—ये दोनों मेरी विविध प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे। पिप्पलाद ऋषि के इस उत्तर से यह ज्ञात होता है कि परमात्मा से प्राण और रयि, जिसको हम दूसरे शब्दों में चेतन और जड़ कह सकते हैं, इन दोनों की ही उत्पत्ति हुई और इन्ही से सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन हुआ है। गीता में भगवान् ने इन्हीं को प्रकृति और पुरुष कहा है और बताया है—

प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि । (गीता १३।१९)

"प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तू अनादि जान।" गीता के सातवें अध्याय में इन्हीं को परा और अपरा प्रकृति के नाम से वर्णित किया है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, यह अष्टधा अपरा प्रकृति है तथा जीवभूता चैतन्य शक्ति परा प्रकृति है। पिप्पलाद ऋषि जिसे प्राण कहते हैं। वह गीता की परा प्रकृति

है, और वे जिसे रयि कहते हैं वह अपरा प्रकृति है, क्योंकि भगवान् ने इन्हीं दोनों के संयोग से सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव बताया है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (गीता ७।६)

ब्रह्म से परा और अपरा प्रकृति वा प्राण और रयि, इन दोनों तत्त्वों का आविर्भाव होता है और उन्हीं से इस सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार होता है। इसलिए श्रुति कहती है कि इस चराचर जगत् में जो गति और स्थिति दिखाई देती है, इन दोनों का ही कारण वह परब्रह्म परमात्मा है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए इस मन्त्र में श्रुति का कथन है—"**तत् एजति, तत् न एजति।**"

हमारे यहाँ परमात्मा की अनेक रूपों में उपासना की जाती है। उनमें से दो रूप प्रधान हैं—भगवान् विष्णु और भगवान् शिव। भगवान् विष्णु प्रेमाभक्ति के श्रेष्ठतम समाश्रय हैं और भगवान् शिव ज्ञान के। भगवान् शंकर के स्वरूप में ब्रह्म की ही उपासना की जाती है। आप लोगों ने भगवान् शंकर के अद्भुत स्वरूप को देखा होगा, उनकी उस दिव्य मूर्ति में समस्त विरोधी गुणों को अभिव्यक्त किया गया है क्योंकि वे परमेश्वर समस्त विरोधी गुणों के समाश्रय हैं। उनके शीश पर गंगा और मस्तक पर अर्धचन्द्र विराजित हैं, ये दोनों चल और अचल अमृत के आधार हैं। उनके कण्ठ में गरल और गले में सर्प सुशोभित हो रहे हैं, ये दोनों चल और अचल विष के आधार हैं। गले में मुण्डों की माला और शरीर पर श्मशान की भस्म, ये वैराग्य के परिचायक हैं और वाम अंक में विराजित शैलजा, भगवती उमा राग की अधिष्ठात्री हैं; उनके करुणामय दोनों नेत्र जीवन प्रदान करने वाले और अग्निमय तृतीय नेत्र विश्व का संहारक है। इस प्रकार से वह परमेश्वर जीवन और मृत्यु, अमृत और विष, त्याग और भोग, विराग और राग, सृष्टि और विनाश सभी विरोधी गुणों का समाश्रय है। इससे आप लोग समझ गये होंगे कि उपनिषद् के इस मन्त्र में जो विरोधी बातें प्रतीत होती हैं वे ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति और अनन्त महिमा की अवबोधिका हैं। अथर्ववेद का एक मन्त्र है, जिसमें कहा गया है—"**अर्द्धेन विश्वं भुवनं जजानः**" उस परमतत्त्व के अर्धभाग से यह सारा विश्व प्रकट हुआ और उसका अर्धभाग अव्यक्त एवं अचिन्त्य है। वह क्या है, उसका क्या लक्षण है, इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस मन्त्र में जिस अर्धभाग से विश्व का आविर्भाव हुआ है, उसी के सम्बन्ध में श्रुति कहती है "**तत् एजति**" और उसका अर्धभाग जो अचिन्त्य है, अगोचर है, अलिंग है, उसके विषय में श्रुति का कथन है "**तत् न एजति।**"

जैसा कि पहले भी बताया गया है, ऋग्वेद में उस परमात्मा के चार पादों की व्याख्या की गई है। उनमें एक पाद में यह अनन्त ब्रह्माण्ड विराजित है और तीन पाद अमृतमय बताए गए हैं। परमात्मा का वह त्रिपाद अमृतमय, नित्य, शाश्वत और

अचल है तथा उसके एक पाद में यह समस्त आविर्तिरोभाव, उत्पत्ति और प्रलय, सृष्टि और विनाशादि की क्रिया चल रही है। इसलिए उसके स्वरूप की व्याख्या में श्रुति के ''**तत् एजति, तत् न एजति**'' ये दोनों ही वाक्य सार्थक हैं। सामान्य दृष्टि से यदि देखा जाए तो यह ज्ञात होगा कि मनुष्य प्रारम्भ से ही जब इस सृष्टि में नेत्र खोलता है तो उसे जो कुछ भी दिखाई देता है वह सभी कुछ भी गतिमान ही होता है। प्रारम्भिक अनुभूति गतिशीलता की ही होती है। इस गति में ही परिवर्तन है, वृद्धि और ह्रास है। सम्पूर्ण जगत् का वैविध्य और वैचित्र्य इस गति पर ही अवलम्बित है, इसलिए इस मन्त्र में ''**तत् एजति**'' इस वाक्य का प्रथम प्रयोग हुआ है। जैसे-जैसे मानव प्रबुद्ध होता है और इस समस्त गतिशील पदार्थों के मूल में स्थित उसके कारणस्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है, ज्ञान-विज्ञान द्वारा उसका अनुसन्धान करता है, तब उसे इस अनेकता के मूल में निहित एक, अद्वैत, शाश्वत, अचल तत्त्व की अनुभूति होती है। कार्य गतिशील, चल है और कारण गतिरहित, अचल। कार्य और कारण, स्थूल और सूक्ष्म, व्याप्य और व्यापक इन समस्त भावों से युक्त और इनका जो आधार है वही परम तत्त्व परब्रह्म है। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए ही श्रुति उसके लिए ''**तत् एजति, तत् न एजति**'' इन वाक्यों का प्रयोग करती है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी है कि ब्रह्म के समग्र रूप की व्याख्या में ''**इदं**'' और ''**अदः**'', कार्य और कारण को अलग नहीं किया जा सकता। जैसे मिट्टी रूप कारण से घड़े रूप कार्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता, जैसे स्वर्ण रूप कारण से आभूषण रूप कार्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्म रूप कारण से इस सृष्टि रूप कार्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता। सारांश यह कि जड़ और चेतन, दृश्य और द्रष्टा, प्रकृति और पुरुष, कार्य और कारण, जगत् और जगदीश, ये सब-कुछ उस ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति हैं, इन समस्त रूपों में ब्रह्म ही अभिव्यक्त है, इसलिए उस परम तत्त्व के अवबोधन में विरोधी वाक्यों का प्रयोग निरर्थक नहीं, सार्थक है। जैसे हम जब किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो उसके केवल आत्मा वा केवल शरीर को ही दृष्टि में नहीं रखते, क्योंकि केवल आत्मा को लेकर किसी भी प्रकार की व्याख्या नहीं की जा सकती और केवल शरीर को दृष्टि में रखकर उसके व्यक्तित्व की व्याख्या करना सर्वथा निरर्थक है। व्यक्ति का व्यक्तित्व शरीर और शरीरी दोनों से युक्त ही हुआ करता है, उसकी सत्ता और महत्ता में दोनों ही अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। केवल चेतन पुरुष और केवल शरीर प्रकृति है, किन्तु जब चेतन शरीर से युक्त होता है तो उसकी संज्ञा पुरुषोत्तम होती है। वही पुरुषोत्तम, परमात्मा वा ब्रह्म शब्द से अभिहित होता है। अब इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि परमब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करने में विरोधी शब्दों का प्रयोग कितना सार्थक है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी है कि वैदिक विज्ञान के अनुसार अनन्त ब्रह्माण्ड का अधिपति आत्मा विराट् है और वह विराट् प्रभु की महिमा मात्र है। विराट् केवल पुरुष वा चेतन ही नहीं है, प्रकृतियुक्त पुरुष, महतत्त्वयुक्त चेतन वा गुण-युक्त ज्ञान ही इस विराट् रूप में प्रकट हुआ है, इसलिए ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या में इन दोनों के गुण-धर्मों का विवेचन सार्थक है। शाश्वत सनातन सिद्धान्त के इस रहस्य को न जानकर कुछ लोग वैदिक मन्त्रों में इस प्रकार के विरोधी वाक्यों को पढ़कर भ्रमित हो जाते हैं और उन मन्त्रों को निरर्थक तथा असंगतियुक्त करार देते हैं। भारत के एक विद्वान् ने गीता से इसी प्रकार के अनेक विरोधी वाक्यों का संकलन कर एक पुस्तक छपाई है, जिसको श्रीमान्‌जी ने गीता को 'भानुमति का पिटारा' नाम दिया है और जिन श्रीमान् ने इस प्रकार का भ्रमपूर्ण कार्य किया है, वे भारत में हिन्दी के जाने-माने विद्वानों में अपना स्थान रखते हैं और बौद्ध धर्म के प्रख्यात विद्वान् हैं। केवल वे ही नहीं, वैदिक विज्ञान से वंचित ऐसे अनेक पठित लोग हैं जिन्हें वेद के इस प्रकार के वाक्यों में असंगति और निरर्थकता की भ्रान्ति होती है। इसलिए विविध प्रकार के उदाहरणों द्वारा मैं आप लोगों को इन मन्त्रों के भावों को स्पष्ट करने की चेष्टा कर रहा हूँ।

''तत् एजति, तत् न एजति'' इन विरोधी वाक्यों के अभिप्राय को अब आप लोग थोड़ा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की कोशिश करें—किस प्रकार से एक ही तत्त्व के ये द्विविध रूप आपके समक्ष अभिव्यक्त होते हैं। यह तो सभी का जाना हुआ सत्य है कि जो कुछ भी दृश्य पदार्थ दिखाई दे रहा है, उसके दो पहलू हैं एक तत्त्वात्मक और दूसरा रूपात्मक। तत्त्वात्मक पहलू को दार्शनिक भाषा में पारमार्थिक सत्य कहा जाता है और रूपात्मक पहलू को व्यावहारिक सत्य। इन दोनों में गम्भीरता से विचार करने पर कहीं कोई भेद, दूरी वा असंगति दिखाई नहीं देती। तत्त्व और रूप, ये दोनों एक ही पदार्थ को देखने की दो विधाएँ हैं। इन दो विधाओं में विवेचित वह पदार्थ एक है, अखण्ड है—इसमें सन्देह नहीं। जैसा कि आप लोगों को पूर्व में घड़ा और मिट्टी, स्वर्ण और आभूषण आदि के उदाहरणों से समझाया गया है, जैसे सूत्र और वस्त्र, ये दोनों एक ही तत्त्व को देखने की दो विधाएँ हैं। सूत्र के अभाव में वस्त्र का कोई अस्तित्व नहीं। वस्त्र रूपात्मक एवं व्यावहारिक सत्य है और तन्तु तत्त्वात्मक एवं पारमार्थिक। इसको और गहराई से समझने की कोशिश कीजिए। परमाणुओं का संघात ही सारा दृश्य जगत् है और वे परमाणु अव्यक्त शक्ति के अभिव्यक्त तत्त्व हैं। समस्त संघातों के विनष्ट हो जाने पर भी उन परमाणुओं में किसी प्रकार का कोई क्षय और वृद्धि नहीं होती। संघात और विघात की प्रक्रिया उन परमाणुओं से ही होती है, किन्तु उन परमाणुओं में नहीं होती। तात्त्विक दृष्टि से यदि यह कहा जाए कि गति और स्थिति, ये दोनों ही उन परमाणुओं की कारणभूता उस अव्यक्त शक्ति में ही निहित हैं तो इसमें असंगति और आश्चर्य क्या है? वह परब्रह्म परमात्मा

तो उस अव्यक्त शक्ति का भी आधार है। अतः इसके स्वरूप की व्याख्या में विरोधी वाक्यों का प्रयोग असंगत कैसे हो सकता है?

इन वाक्यों की व्याख्या हमारे भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने एक अन्य दृष्टिकोण से भी की है। उनके विचारानुसार वह परब्रह्म परमात्मा निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार, इन दोनों रूपों में सदैव स्थित रहता है। निर्गुण-निराकार रूप में वह अचल है, किन्तु अपने भक्तों की अभीप्सा को पूर्ण करने के लिए वह सगुण-साकार श्री-विग्रह से अनेक दिव्य लीलाएँ किया करता है। इस रूप में वह चलता भी है, दौड़ता भी है, इस धराधाम पर अवतरित होकर वह विविध प्रकार की लीलाएँ किया करता है। इसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिए श्रुति कहती है **''तत् एजति, तत् न एजति।''** ज्ञानियों की दृष्टि में निर्गुण-निराकार ब्रह्म भले ही निश्चल हो, किन्तु उसके प्रेमानुरागी भक्तों की दृष्टि में तो वह सदैव गतिशील रहता है। यदि उसमें गति न हो तो वह इस धराधाम पर अवतार ही कैसे ले? भक्तों के आर्तनाद को सुनकर वह कारुणिक प्रभु उनके दुःख को दूर करने के लिए दौड़कर कैसे आवे? फिर उसके लिए प्रयुक्त होने वाले भक्त-वत्सल शब्द का अभिप्राय ही क्या होगा? जिस प्रकार से गऊ अपने नवजात शिशु के मल को चाटकर स्वयं निर्मल बना देती है, जिस प्रकार से उस बछड़े की आवाज़ सुनकर वह अधीर होकर दौड़ पड़ती है, उसी प्रकार से भक्त-वत्सल प्रभु अपने नित्य चरणानुरागी भक्तों को स्वयं ही अपनी करुणा से निर्मल बना देते हैं और उनकी सम्भाल के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। वे अचल होते हुए भी सदैव गतिशील रहते हैं। श्रुति का कथन है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।

(श्वेता० ३।१९)

वह प्रभु बिना पाँव के चलता है, बिना हाथ के ग्रहण करता है, बिना नेत्र के देखता है और बिना श्रोत्र के भी सुनता है। इस मन्त्र में भी प्रभु की अद्भुत महिमा को व्यक्त करने के लिए विपरीत वाक्यों का प्रयोग हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास जी इन मन्त्रगत भावों को स्पष्ट करते हुए मानस में लिखते हैं—

आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमानि निगम अस गावा ।।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।।

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ।।

(मानस० बाल० दो० ११८)

गोस्वामीजी की इन चौपाइयों में श्रुति का वह अभिप्राय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है; वह तत्त्वतः अचल होते हुए भी भक्तों की भावना से भावित होकर चलता है, निष्क्रिय ब्रह्म भी सक्रिय हो जाता है क्योंकि भक्त को निष्क्रिय ब्रह्म से कोई प्रयोजन नहीं होता। उसकी अभीप्सा की पूर्ति तो सक्रिय ब्रह्म ही कर पाता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कविरत्नाकर ने अपने 'उद्धव शतक' में उद्धव और गोपियों के वार्तालाप को बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त करते हुए सगुण ब्रह्म की आवश्यकता और उपयोगिता को चित्रित किया है। उद्धव गोपियों को निर्गुण-निराकार ब्रह्म का उपदेश देते हैं, जिसको सुनकर गोपियाँ प्रश्न करती हैं—उद्धव! आपके ब्रह्म के हाथ-पाँव, आँख-कान आदि इन्द्रियाँ हैं वा नहीं हैं? यदि नहीं हैं तो भला बताइए—

कर बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारे वह ।
पग बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहैं ।।
कहैं रत्नाकर बदन बिनु कैसे खाइ ।
माखन बजाय बेनु गोधन गवाइहैं ।।
देखि सुनि कैसे दृग श्रवन विहीन हाय ।
भोरे ब्रजबासिन की बिपति बराइहैं ।।
रावरो अनूप ब्रह्म अलख अरूप कहो ।
ऊधो वह कौन धौं हमारे काम आइहैं ।।

सन्त कवि सूरदास ने भी इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म के प्रति उद्भावना की है। श्रीमद्भागवत में भी हमें इसी प्रकार के भाव दिखाई देते हैं। गोपियों का कथन है कि यदि तुम्हारे ब्रह्म के हाथ-पाँव, आँख-कान, मुखादि नहीं हैं तो वह हमारे किसी काम का नहीं है। हमें तो एक ऐसे परमेश्वर की आवश्यकता है जो हमारे काम आने वाला हो। हमारे कृष्ण ही हमारे लिए परमाराध्य और परमेश्वर हैं। वे हाथों से हमारी गायें दुहते हैं, पाँव से नाचते हैं, विपत्ति आने पर दौड़कर आते हैं और हमारी विपत्ति को दूर करते हैं, मुख से हमारा माखन खाते हैं, बंसी बजाते हैं, गौओं को बुलाते हैं, आँख से हमारी विपत्ति को देखते हैं और उसे दूर करते हैं, कान से हमारी आर्त पुकार को सुनते हैं और दौड़े आते हैं, हमारे प्रेम-भरे शब्दों को सुनकर हमें कृतकृत्य करते हैं। हमें तो ऐसे ही ब्रह्म की आवश्यकता है जो सदैव हमारे लिए सक्रिय हो, गतिशील हो। गीता का ब्रह्म इसी प्रकार का है। वह सृष्टि में सदैव सक्रिय हो भाग लेता है, निष्क्रिय हो केवल स्थिर ही नहीं रहता। इस सम्बन्ध में भगवान् ने स्वयं कहा है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।। (गीता १३।२२)

वह परमात्मा इस शरीर में रहता हुआ भी इससे परे वा असंग ही रहता है। साक्षी

होने से उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति प्रदान करने से अनुमन्ता, धारण करने से भर्ता, कारणरूप से भोक्ता, मनसहित समस्त इन्द्रियों और अहं का भी स्वामी होने से महेश्वर और अपने दिव्य रूप से सच्चिदानन्दघन परमात्मा, ऐसा कहा जाता है। इतना ही नहीं, गीता में प्रभु कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (गीता ९।२६)

''पत्र, पुष्प, फल, जल जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से अर्पण करता है, उस जीते हुए अन्तःकरण वाले प्रेमी भक्त का भक्तिपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पदार्थ मैं खाता हूँ।'' **''तत् अहम् अश्नामि''** इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि भगवान् स्वयं प्रकट होकर भक्त द्वारा प्रेमपूर्ण समर्पित पदार्थों को ग्रहण करते हैं। अभिप्राय यह कि ज्ञानियों की दृष्टि में वह परमात्मा निर्गुण, निराकार, निरीह, निरंजन भले ही हो, किन्तु भक्तों की दृष्टि में वह सगुण-साकार हो अपनी विविध प्रकार की चेष्टाओं से उनकी अभीप्साओं को पूर्ण करता है। इसलिए उसके विषय में श्रुति का कथन है—**''तत् एजति, तत् न एजति''** और ये दोनों वाक्य ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या में पूर्णतया सार्थक एवं समीचीन हैं।

इससे आगे श्रुति कहती है **''तद् दूरे तद्वन्तिके''** वह दूर से भी दूर है और वह अत्यन्त समीप है। इससे पूर्व वाले मन्त्र में यह बात कही गई है कि **''तत् अन्यान् धावतः तिष्ठत् अत्येति''** वह दूसरे दौड़ने वालों को स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाता है। अभिप्राय यह कि सर्वत्र, सर्वरूप में परिव्याप्त होने से वह दौड़ने वालों के सदैव आगे ही तिष्ठित रहता है। यहाँ दौड़ने वाले कौन हैं? इस विषय में उसी मन्त्र में बताया गया **''एनत् देवाः न आप्नुवन्''** उन परमेश्वर को इन्द्रादि देवतागण नहीं पा सके। अभिप्राय यह कि दौड़ने वाले देवतागण हैं। तैत्तिरीय की श्रुति का कथन है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ (तैत्तिरीय० २।९)

जहाँ से मन के सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं। अभिप्राय यह कि मन, वाणी आदि इन्द्रियों की जहाँ तक गति है, उससे भी परे वह परमात्मा विराजमान है, इसलिए वे इन्द्रियाँ उसे न पाकर, न जानकर, निराश होकर लौट आती हैं। बाह्य तथा अन्तः इन्द्रियों से वह बहुत दूर है। श्रुति के इस भाव को स्पष्ट करते हुए गोस्वामीजी 'रामचरित मानस' में लिखते हैं—

मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई । जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥
(बाल० दो० ३४१)

वह परमात्मा मन, वाणी आदि इन्द्रियों की पहुँच से परे है। मननशील मुनि भी अपनी तर्कना-शक्ति से जिसका अनुमान नहीं लगा सकते। वेद जिसकी महिमा को नेति-नेति

कहकर गान करता है। जो त्रिकालातीत है, सदैव एकरस रहता है, वह दूर से भी दूर है। अन्तर् और बाह्य इन्द्रियों की गति जहाँ तक है वह माया का क्षेत्र है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानउ भाई ॥

परमात्मा मायापति है और माया से परे है, इसलिए श्रुति कहती है—"**तद् दूरे**" वही परमात्मा समस्त प्राणियों का जीवन है, सभी का आदि कारण है इसलिए—"**तत् उ अन्तिके**" उससे अधिक निकट तुम्हारे और कोई नहीं है। तुम्हारे सबसे निकट, सबसे बड़ा हितैषी, सर्वश्रेष्ठ, सुहृद् वह परमात्मा ही है। भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (गीता ५।२९)

"यज्ञ और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर, सम्पूर्ण प्राणियों का परम सुहृद् मुझे जानकर प्राणी परम शान्ति को प्राप्त होता है।" इसलिए वह परमात्मा दूर से भी दूर और अत्यन्त निकटतम विराजित है। ऋग्वेद कहता है—

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् । (श्वेता० ३।१४)

वह परमात्मा समस्त जगत् को सब ओर से घेरकर उससे दश अंगुल ऊपर स्थित है। अभिप्राय यह कि समस्त ब्रह्माण्डों को आवृत करके वह सबसे ऊपर विराजित है, इसलिए उससे और दूर किसी अन्य की कल्पना नहीं की जा सकती। भगवान् अपनी विभूति की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ (गीता १०।२०)

"हे अर्जुन! मैं सब भूतों के अन्तर् में स्थित, सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।" श्रुति कहती है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

वह एक देव, अद्वैत परमात्मा समस्त प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वत्र व्याप्त, समस्त जीवों की अन्तरात्मा है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

राम प्रान प्रिय जीवनजी के । स्वारथ रहित सखा सबही के ॥

वह परमात्मा प्राण के भी प्राण, जीव के भी जीवन और स्वार्थ रहित परम सुहृद् सखा हैं। इस भाव को स्पष्ट करते हुए एक पद में मैंने संकेत किया है—

ज्यों रश्मियाँ सब भास्कर से भास्कर में पूर रे ।
त्योंही सदा तू राम से, अरु राम में न दूर रे ॥
है वारि निधि से बीचि ज्यों, न होत बिलग विकार है ।
त्यों जान अपने को सदा, यह पार का भी पार है ॥

उपनिषदों में आत्मा को परमात्मा की रश्मि कहा गया है। जिस प्रकार से सूर्य की किरणें सूर्य से प्रकट हो सूर्य में ही स्थित होती हैं, उसी प्रकार से समस्त जीव-समुदाय परमात्मा से ही प्रकट, परमात्मा में ही स्थित रहते हैं, इसलिए परमात्मा से अधिक निकट और कोई नहीं है। इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए श्रुति कहती है—''**तद् दूरे तद्वन्तिके**'' वह परमात्मा आपकी इन्द्रियों से, आपके विचार से, आपकी कल्पना से अत्यन्त परे है, अत्यन्त दूर है, किन्तु आपकी आत्मा के अत्यन्त निकट है वा यूँ कहिए कि आपकी आत्मा के रूप में वह स्वयं ही विराजित है।

मन्त्र का तीसरा चरण है—''**तदन्तरस्य सर्वस्य, तत् अस्य सर्वस्य अन्तः**''—वह इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर परिपूर्ण है। विश्वात्मा होने से वह परमात्मा विश्व के प्रत्येक प्राणी और पदार्थ में परिव्याप्त है। श्रुति का कथन है कि वह केवल पुण्यात्मा, धर्मात्मा, महात्मा के अन्तर्तम में ही विराजित नहीं है, वह सृष्टि के प्रत्येक प्राणी और पदार्थ के अन्तर्तम में स्थित है। उसी से इस चराचर जगत् की सत्ता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गीता में भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। (गीता ६।३१)

''जो अद्वैत भाव में स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिदानन्द को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मेरे में ही बर्तता है।'' सम्पूर्ण भूतों की आत्मा रूप में परमात्मा ही विराजित है, ऐसा स्वीकार कर सर्वभाव से उसकी सेवा करना ही परमात्मा की भक्ति है। इस भक्तिभाव का उदय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वेद के इस वाक्य के तात्पर्य को अच्छी प्रकार से अनुभव न कर लिया जाए ''**तदन्तरस्य सर्वस्य।**'' गोस्वामी तुलसीदासजी परमात्मा के इस स्वरूप का अनुभव करते हुए मानस में लिखते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुगपानि ।।

यहाँ एक आशंका हो सकती है कि चेतन में तो आत्मरूप से परमात्मा विराजित है—यह स्वीकार करना असंगत नहीं, किन्तु जड़ में भी वह विराजित है, यह कैसे स्वीकार किया जाए? इस शंका के निवारण में तो ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र ही यह उद्घोष करता है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि यदि पापी और पुण्यात्मा दोनों के अन्तर्तम में परमात्मा विराजित है तो उन दोनों में अन्तर ही क्या है? इसके उत्तर में गीता के पाँचवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।। (गीता ५।१५)

सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप को और न किसी के शुभकर्म को ही ग्रहण करता है। अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सभी प्राणी मोहित हो रहे हैं। परमात्मा सभी प्राणियों में स्थित है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसकी स्थिति किस प्रकार से है—इस विषय में परमात्म-स्वरूप की व्याख्या करते हुए गीता के तेरहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। (गीता १३।१४)

सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला, सर्व इन्द्रियों से रहित तथा आसक्ति-रहित गुणों से अतीत होता हुआ भी सबका धारण-पोषण करने वाला और गुणों का भोक्ता है। वह परब्रह्म परमात्मा सबमें रहते हुए भी सबसे अतीत है, वह किसी के पाप और पुण्य को स्पर्श नहीं करता। कठोपनिषद् की श्रुति कहती है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।
(कठ० २।२।११)

जिस प्रकार से समस्त नेत्रों का प्रकाशक होते हुए भी सूर्य उन नेत्रों से होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार से सब प्राणियों की अन्तरात्मा होते हुए भी वह परमात्मा लोगों के दुःखों और दोषों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह सबमें रहता हुआ भी सबसे परे है।

इस मन्त्र का अन्तिम चरण है—"**तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः, तत् अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः**"—वह इस सम्पूर्ण जगत् के बाहर भी है। सम्पूर्ण भूत-समुदाय के अन्तस् में ही नहीं, उसके बाहर भी जो कुछ है उसमें भी वही परमात्मा विराजित है। इस मन्त्र के समग्र भाव को व्यक्त करते हुए भगवान् ने स्वयं गीता के तेरहवें अध्याय में कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। (गीता १३।१५)

वह परमात्मा चराचर प्राणियों के बाहर और भीतर परिपूर्ण है। चर और अचर रूप में भी वही है। वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी वही स्थित है। यह जगत् त्रिगुणात्मक है—इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वे तीनों गुण उस परमात्मा के ही त्रिविध भाव हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। (गीता ७।१३)

"गुणों के कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकार के भावों से यह सम्पूर्ण जगत् विमोहित हो रहा है, इसलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता।" ये तोनों गुण कहाँ से उत्पन्न होते हैं? जब उस परमात्म-सत्ता के सिवा और किसी का कोई अस्तित्व ही नहीं है तो इन गुणों को स्वतन्त्र कैसे स्वीकार कर लिया जाए? इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

(गीता ७।१२)

"जो सतोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजोगुण तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, उन सबको मेरे से ही उत्पन्न हुआ जान। किन्तु उनमें मैं और वे मेरे में नहीं हैं।" यही उस परमात्मा की अचिन्त्य महिमा है। सब कुछ उससे है और वह सबमें है, किन्तु सबमें होते हुए भी वह सबसे परे है।

मन्त्र के इस अभिप्राय को समझकर उसको हृदयंगम करने से मानव में एक अद्भुत आशा एवं आत्मविश्वास का उदय होता है। वह अपनी वर्तमान स्थिति से निराश नहीं होता। अपनी लघुता, अल्पज्ञता एवं असमर्थता पर आँसू नहीं बहाता। उसे एक नई दिशा, नई चेतना और नया उत्साह प्राप्त होता है, क्योंकि उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह अनन्त शक्तिमान् परमात्मा उसके अन्तर्तम में विराजित है। उसके बल से, उसके सहारे से वह अपनी समस्त तुच्छताओं, निर्बलताओं को दिव्यता एवं पूर्णता में परिवर्तित करने के लिए उठ खड़ा हो जाता है। इसी आत्मविश्वास ने रत्नाकर डाकू को ब्रह्मर्षि वाल्मीकि बना दिया था। ऐसी अनेक आत्माएँ जो दीनता-हीनता एवं आत्मग्लानि से निराशा के महासागर में डूब रही थीं, उन्हें पुनः अपने उद्धार की शक्ति एवं उत्साह प्राप्त हुआ है। हमारे अतीत के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यह बात सर्वथा सत्य है कि वह परमात्मा सभी के अन्तर्तम में स्थित है। यदि ऐसा न होता तो अनेक दुष्कृति सुकृति कैसे बन जाते? पतित आत्माएँ महात्मा कैसे बन जातीं? वेद का यह उपदेश हमें अपने अन्तर् में स्थित उस परमात्म-तत्त्व को ढूँढने, जानने एवं अनुभव करने की प्रेरणा देता है। वेदान्त का यह कथन—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।

हमारे जीवन को सर्वरूप से ईश्वरीय भावना से अभिभूत कर रहा है। हमारे अन्तर् और बाहर एकमात्र परमेश्वर की सत्ता ही विद्यमान है—ऐसी उद्भावना होते ही हमारा समग्र जीवन उस परमेश्वर से अभिन्न हो ज़ाता है। यही तो इस ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है।

गम्भीरता से विचारने पर यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार माचिस की एक तीली

में अग्नि-तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार आकाशमण्डल में दिखाई देने वाले अमित प्रकाश-पुंज सूर्य में भी वही अग्नि तत्त्व है। तात्त्विक दृष्टि से सूर्यगत अग्नि और तीलीगत अग्नि में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल उसके ईंधन की मात्रा में है। ठीक उसी प्रकार से व्यक्ति और विराट् इन दोनों रूपों में प्रकट होने वाली आत्म-सत्ता में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है; अन्तर केवल दोनों के माध्यम में है। इसी रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए श्रुति कहती है कि जो परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तर् में स्थित है, वही बाहर इस विराट् में भी स्थित है। इस मन्त्र से हमें यह सीख प्राप्त होती है कि वह परमात्मा केवल हमारे अन्तर् में ही नहीं है, बाहर भी है। हम अपने-आपको पवित्र और श्रेष्ठ तथा अन्य को तुच्छ और पतित समझने की भूल न करें, क्योंकि जो हमारे जीवन का आधार है वही प्रत्येक प्राणियों के अन्तर् में विराजमान है और वही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हमारे समस्त क्रिया-कलाप का क्षेत्र बाह्य जगत् है। यदि बाह्य जगत् में सर्वत्र परमात्मा ही परिपूर्ण है—ऐसी दृष्टि हो जाए तो हम कभी भी पापाचरण में प्रवृत्त नहीं होंगे। हमारा जीवन सदैव सत्य, शिव और सौन्दर्य से युक्त होगा।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि भगवान् को बाहर नहीं, अन्दर ही ढूँढना चाहिए, वह बाहर नहीं, अन्दर ही है; किन्तु श्रुति कहती है—वह अन्तर् भी है और बाहर भी है। यह साधक की रुचि, योग्यता और आस्था पर निर्भर है कि वह प्रभु को कहाँ, किस रूप में देखना चाहता है। गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है कि प्रभु अन्दर भी विराजमान हैं और बाहर भी, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अन्तर्यामी प्रभु के होते हुए भी जीवों की दीनता-हीनता-दरिद्रता और दुःख बने ही रहते हैं। ऐसे अन्तर में विराजित ईश्वर से जीव का कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है? मानस में वे लिखते हैं—

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी । सत चेतन घन आनँदरासी ।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

सच्चिदानन्दघन एक अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म सर्वत्र परिव्याप्त है। ऐसे अविकारी प्रभु के होते हुए भी सृष्टि के सभी प्राणी दीन और दुःखी हैं। सर्वव्यापी ब्रह्म जीवों में अन्तर्यामी-रूप से विराजित होते हुए भी प्रयोजनशून्य और निरर्थक है। साधन और सुमिरन से जब प्रभु को प्रकट किया जाता है तभी वे जीवों के आनन्ददाता बनते हैं। कवितावली के एक पद में अपने विश्वास को व्यक्त करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

अन्तरजामिहुतें बड़े बाहेरजामि हैं रामु, जे नाम लियेतें ।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाई ज्यों बालक-बोलनि कान कियेतें ॥
आपन बूझि कहै तुलसी, कहिबेकी न बावरि बात बियेतें ।
पैज परें प्रहलादहुको प्रगटे प्रभु पाहनतें, न हियेतें ॥

(कवितावली उत्तर० १२९)

अन्तर्यामी ईश्वर की अपेक्षा करुणानिधान भगवान् बाहरयामी श्रीराम श्रेष्ठ हैं, क्योंकि जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े की पुकार सुनकर दौड़ पड़ती है, उसी प्रकार से वे अपने दीन-जन की पुकार सुनकर उसकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि मैं अपने अन्तर् की समझी हुई बात कहता हूँ, यह बात दूसरे से कहने की नहीं है। जिस समय प्रह्लाद के ऊपर विपत्ति पड़ी और उसने पुकारा तो उसकी पुकार सुनकर उसके अन्तर् से नहीं, बल्कि उस पाषाण के खम्भे से बाहरयामी प्रभु ही प्रकट हुए। अभिप्राय यह कि अन्तर्यामी की अपेक्षा बाहरयामी की आराधना, उसकी अभिव्यक्ति और अनुभूति भक्त की दृष्टि से अधिक सुगम और सुलभ होती है। जो अनन्यभाव से सर्वत्र प्रभु को सर्वरूप में स्वीकार कर उनमें ही चित्त को निरत रखता है, प्रभु कहते हैं उनके लिए मैं अत्यन्त सुलभ हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। (गीता ८।१४)

नित्ययुक्त योगी ही अनन्यचरणानुरागी भक्त है और उसे ही प्रभु सुलभ होते हैं। उसकी दृष्टि में बाहर और अन्तर् में कोई भेद नहीं होता। वह सर्वभूतात्मभूतात्मा की दृष्टि को प्राप्त कर लेता है, इसलिए उसके जीवन में भेद के लिए स्थान नहीं रह जाता। सन्त कबीर के शब्दों में—

लाली मेरे लाल की जित देखउँ तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।।

इस अवस्था में ऊँच-नीच, पतित-पुनीत, तुच्छ और महान् आदि अहंजन्य भावों का अवसान हो जाता है और साधक यह अनुभव करने लगता है—

सब घट मेरा साईंयां सूनी घट न कोय ।

वेद का कथन है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।
(कठ० २।२।९)

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक ही अग्नि अनेक रूपों में उनके समान रूप वाला-सा हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा वा परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपों में उन्हीं जैसा प्रतीत हो रहा है और उनके बाहर भी विद्यमान है। मन्त्र के इसी भाव को व्यक्त करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

एक दारुगत देखइ एकू । पावकजुग सम ब्रह्म बिबेकू ।।

जिस प्रकार से सभी पदार्थों में परिव्याप्त अग्नि और नाना प्रकार के ईंधनों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई अग्नि, दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार से जीवरूप से अन्तःकरण में प्रकट और बाह्य जगत् में अव्यक्त रूप से व्याप्त परमात्मा एक है, इनमें भेद नहीं।

इसलिए सदैव सावधान रहते हुए मनुष्य को अपने आचार और व्यवहार को शुद्ध, सात्त्विक तथा सर्वोपयोगी बनाकर सर्वेश्वर की समर्चना में निरत रहना चाहिए। मनुष्य जब कभी भी अप्रिय वा असुन्दर कार्य करता है, उस समय उसमें अहंजन्य भेददृष्टि ही कारण हुआ करती है। वह यह भूल जाता है कि जिसकी पूर्ति और तृप्ति के लिए वह कर्म में प्रवृत्त होने जा रहा है, वह केवल उसके अन्तर्तम में ही नहीं, उसके बाहर भी वही विराजित है। यदि उसे वेद के इस आदेश में आस्था हो जाए तो वह कभी भी अनर्थकारी कार्यों में प्रवृत्त होकर नाना प्रकार के दुःखों का पात्र न बने। जिसे यह अनुभव हो गया है कि वह परमतत्त्व,जो उसके अन्तर् में विराजित है वही बाह्य जगत् में भी व्याप्त है, वह सदैव सर्वत्र सभी को आत्मवत् ही देखता है, प्यार करता है और वही स्वयं के जीवन को पूर्ण, तृप्त और कृतकृत्य बना पाता है। इसलिए वेद के इस मन्त्र पर पुनः-पुनः विचार और चिन्तन करने के लिए बार-बार इसका मनन करते रहना चाहिए जिससे उस परमात्मा की अचिन्त्य महिमा का बोध और सहज ही उसमें अनुरक्ति प्राप्त हो सके—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

□□

१५

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोग शाश्वत सनातन धर्म के मूलाधार ब्रह्मविद्या-विज्ञान से सम्बन्धित विचार सुन रहे हैं। मेरी चाह है कि ब्रह्मविद्या के माध्यम से आप लोग अपने धर्म के मूल सिद्धान्त को जान लें, समझ लें। इसे यदि आप अच्छी प्रकार से नहीं समझेंगे तो आपको अपने जीवन में एक अभाव की प्रतीति होती रहेगी और सम्भव है वह अभाव आपको अपने सही रास्ते से भटका दे। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आप अपने धर्म के दार्शनिक आधार को समझें और उसके व्यावहारिक स्वरूप को भी जानें तथा उसका दैनिक जीवन में प्रयोग करें। तभी आप शाश्वत शान्ति और नित्य सुख के पात्र हो सकेंगे। मैं समझता हूँ कि जो लोग अपनी मातृभूमि से बहुत दूर यूरोप, अमेरिका वा किसी भी अन्य देश में रह रहे हैं उनके लिए यह परमावश्यक है कि अपनी संस्कृति, सभ्यता और धर्म के यथार्थ रूप को जानने और उसे व्यवहार में लाने के लिए उसके सूक्ष्मतम दार्शनिक दृष्टिकोण को समझें और उसे जीवन में क्रियात्मक रूप दें। जैसा कि आप लोग भी अनुभव करते होंगे; आप और आपकी सन्तानें यहाँ पर भारत से बिल्कुल भिन्न वातावरण में रह रही हैं। पश्चिम की सभ्यता, संस्कृति, धर्म और जीवन-विधान भारत से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत है। जिस वातावरण में आप रह रहे हैं, उसके दुष्प्रभाव से बचने के लिए स्वयं में आस्था एवं आत्मविश्वास की विशेष आवश्यकता है। तभी आप अपनी सन्तानों को शाश्वत सनातन धर्म की सीख दे सकेंगे, उनमें उसके प्रति आस्था और गौरव को जागृत कर सकेंगे जबकि आप उसके सूक्ष्मतम, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण को सही रूप से समझ और जान पाएँगे। मैं समझता हूँ कि विदेशों में रहने वाला प्रत्येक भारतीय अपने देश की संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म का प्रतिनिधि है। वह अपने पवित्र और उदार जीवन द्वारा ही उसके गौरव को उन लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है जो कि उससे सर्वथा दूर एवं अपरिचित हैं। इसीलिए मैं आप लोगों को ईशोपनिषद् के माध्यम से ब्रह्मविद्या-विज्ञान के सूक्ष्मतम रहस्यों को समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

ब्रह्मविद्या दो भागों में विभाजित है, जिसे अपरा और परा के नाम से अभिहित किया गया है। विश्व के पद-पदार्थों से सम्बन्धित समस्त विद्याएँ अपरा विद्या कही जाती हैं। भौतिक विज्ञान की सभी विधाएँ, जैसे विविध प्रकार की यन्त्र-विद्याएँ, विविध

प्रकार की कलाएँ, जिसे दूसरी भाषा में आर्ट एवं टैक्नालोजी कहते हैं, वे सभी अपरा विद्या के ही अन्तर्गत हैं। दूसरे शब्दों में शरीर तथा उसके कारण और उसके प्रयोग से सम्बन्धित समस्त ज्ञान अपरा विद्या है, और शरीर से परे उसका आधार जो शरीरी वा आत्मा है उसके अनुसन्धान और अनुभूति से सम्बन्धित विद्या को परा विद्या कहा जाता है। वैदिक साहित्य इन द्विविध विद्याओं का कोष है। हमारे यहाँ वेद-वेदाङ्ग, शास्त्र आदि को अपरा विद्या में परिगणित किया जाता है और वेदान्त को परा विद्या में। उपनिषद्, गीता, सांख्य, योग, वेदान्त और दर्शनशास्त्र, ये सभी ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। मैं आप लोगों को ब्रह्मविद्या के मूल स्रोत उपनिषद् के माध्यम से उस शाश्वत विज्ञान को समझाने की कोशिश कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि इसके द्वारा आप सभी शाश्वत धर्म के गौरवमय स्वरूप को समझकर उसके प्रति आस्थावान होंगे।

पिछले मन्त्र की व्याख्या में यह समझाया गया है कि इस जीवन और जगत् का आधार वह परब्रह्म परमात्मा समस्त विरोधी गुणों का समाश्रय है। उसमें गति है, उसमें गति नहीं है। वह दूर से भी दूर है और निकट से भी निकटतम है। वही सबके अन्तर् और बाहर भी विराजित है। दूसरे शब्दों में सर्वरूप से सर्वत्र वही है, उसके सिवा अन्य किसी की सत्ता नहीं। उसको समझने के लिए एक बिन्दु और उससे बनी हुई रेखा का उदाहरण उपयोगी होगा। बिन्दु अनन्तता का अवबोधक चिह्न है और वह अपने-आपमें पूर्ण है। जब उसमें गति होती है तो वह रेखा का रूप धारण कर लेता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि बिन्दु, बिन्दु के रूप में पूर्ण है, किन्तु गतिमान होने पर, रेखा के रूप में परिणत होते ही अपूर्ण हो जाता है। बिन्दु पूर्ण है, रेखा अपूर्ण। वह अपूर्ण रेखा पुनः पूर्णत्व को प्राप्त करने में तभी सक्षम हो सकती है जबकि वह अपने उसी मूल बिन्दु से युक्त हो जाए जहाँ से उसका उद्गम हुआ है।

वेदान्त की दृष्टि में यह जीव बिन्दु के समान है। वह उस अनन्त ब्रह्म का अवबोधक तत्त्व है। किन्तु जब इसमें गति होती है, चाह होती है तो उस रेखा के समान ही अपूर्ण हो जाता है और तब तक इसमें पूर्णता की अनुभूति नहीं हो पाती जब तक कि वह पुनः अपने मूलरूप में प्रतिष्ठित न हो जाए। बिन्दु और रेखा, इन दोनों के स्वरूप और सम्बन्ध पर विचार करने से, उसकी यथार्थता को समझ लेने से आप लोग सुगमता के साथ इस मन्त्र के प्रथम भाग के रहस्य को जान पाएँगे। वह बिन्दु रेखा के अत्यन्त निकट भी है और दूर भी। मन्त्र के दूसरे भाग में उस परमात्मा को अन्तर् और बाहर बताया गया है। यह अन्तर और बाहर की कल्पना केवल उसकी सर्वव्यापकता को समझाने के लिए की गई है। तत्त्वतः तो वहाँ अन्तर्-बाहर का भेद ही नहीं है। अनन्त आकाशवत् वह स्थित है, उससे तथा उसमें ही यह चराचर विश्व आविर्भूत हो तिरोभाव को प्राप्त हो रहा है। अहंजन्य आवरण द्वारा भ्रमवश उसमें भेद

की उद्भावना होती है और उसी के द्वारा अन्दर और बाहर की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। तत्त्वतः उस अनन्त का कभी भी किसी भी अवस्था में विभाजन सम्भव नहीं। अहंजन्य आवरण को दूर कर इस भेद और भ्रान्ति का निराकरण करते हुए अद्वैत सत्य की अनुभूति कराना ही ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही श्रुति उस परमात्मा के अचिन्त्य, अद्भुत स्वरूप तथा उसकी महिमा का गान करते हुए कहती है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जब साधक उस परमात्मा का अनुभव कर उसकी महिमा को जान लेता है, समझ लेता है तो उस समय उसकी क्या स्थिति होती है और वह अपने जीवन में किस प्रकार का व्यवहार करता है? इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ही आगे का छठा मन्त्र उपस्थित होता है। इस मन्त्र में तत्त्वद्रष्टा ऋषि कहता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

''तु यः सर्वाणि भूतानि'' किन्तु जो सम्पूर्ण प्राणियों को **''आत्मनि एव अनुपश्यति''**—परमात्मा में ही निरन्तर देखता है, **''च सर्वभूतेषु''** और सम्पूर्ण प्राणियों में **''आत्मानम् अनुपश्यति''** परमात्मा को देखता है **''ततः न विजुगुप्सते''** उसके पश्चात् वह कभी, किसी से भी घृणा नहीं करता।

पहले दो मन्त्रों में प्रकारान्तर से परमात्मा की सर्वरूपता एवं सर्वव्यापकता का विवेचन किया गया है। जो साधक परमात्मा के यथार्थ रूप को समझ लेता है वह सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही अनुभव करता है। उस स्थिति में वह किसी भी प्राणी को तुच्छ वा अपवित्र नहीं मानता, इसलिए किसी से घृणा नहीं करता। इस मन्त्र में साधक की दो अवस्थाओं का वर्णन है—पहली अवस्था में वह सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में देखता है, दूसरी अवस्था में सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखता है। ये दोनों अवस्थाएँ साधक को क्रमशः प्राप्त होती हैं। गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने इसका विशेष रूप से वर्णन किया है। जिस अवस्था में समस्त प्राणी परमात्मा में ही स्थित दिखाई देते हैं, उस अवस्था में साधक के लिए राग और द्वेष का सर्वथा अन्त हो जाता है और वह—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। (गीता ६।९)

सुहृद्-हितैषी, मित्र-शत्रु, उदासीन-मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में, धर्मात्मा और पापात्मा में भी वह समान बुद्धि वाला हो जाता है। अब उसका जीवन सामान्य स्तर से,

द्वन्द्वात्मक भावों से ऊपर उठा हुआ होने से विशिष्ट हो जाता है। उसके हृदय में किसी के प्रति घृणा और द्वेष के लिए स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि वह देखता है कि सभी प्राणी प्रभु में हैं और प्रभु की प्रेरणानुसार ही बरत रहे हैं। इसलिए मित्र और शत्रु, उदासीन और मध्यस्थ, हितैषी और द्वेष बुद्धि रखने वाले आदि सभी के भावों को, उनके क्रिया-कलापों को वह प्रभु-प्रेरित ही स्वीकार करता है। इसलिए वह सभी के प्रति समभाव रखते हुए किसी से भी राग वा द्वेष नहीं करता। गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

लोमश ऋषि द्वारा अकारण ही भुशुण्डिजी को ब्राह्मण कुमार से काग योनि प्राप्त होने का श्राप मिल जाता है। ऐसी स्थिति में भी भुशुण्डिजी लोमश ऋषि को दोषी नहीं मानते। उनके उस कृत्य में भी प्रभु की करुणा का ही दर्शन करते हैं और गरुड़ से कहते हैं कि—

सुनहु तात नहि कछु ऋषि दूषन।
उर प्रेरक रघुबंस विभूषन ॥
कृपा सिंधु मुनि मति करि भोरी।
लीन्हीं प्रेम परीछा मोरी ॥

सम्पूर्ण प्राणियों को परमेश्वर में, परमेश्वर के अधीन अनुभव करने वाले साधक की यही स्थिति होती है। उपनिषद् के इस मन्त्र के प्रथम भाग में इस अवस्था में पहुँचे हुए साधक की स्थिति का ही वर्णन किया गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

इससे उन्नत अवस्था है जिसमें साधक सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा का दर्शन करता है—

सर्वभूतेषु चात्मानमनुपश्यति।

इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक की अवस्था का वर्णन करते हुए गीता के पाँचवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ (गीता ५।१७)

जिनकी बुद्धि परमात्मामय हो गई है, जिनका मन परमात्मा में ही निरत रहता है, जिनकी परमात्मा में अनन्य निष्ठा हो चुकी है और जो सर्वभाव से परमात्मा के ही आश्रित हो गए हैं, ऐसे ज्ञान के द्वारा कल्मष-रहित विशुद्ध भाव को प्राप्त हुए व्यक्ति अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद परमपद को प्राप्त कर लेते

हैं, पुनः इस संसार में लौटकर नहीं आते। वे तत्त्वज्ञानी अपने जीवनकाल में जिस समत्व-भाव से संसार में बर्तते हैं, व्यवहार करते हैं, उसमें उनकी सर्वत्र, सर्वरूप में विराजित परमात्मा की अनुभूति ही कारण होती है। उनकी उस अवस्था का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ।। (गीता ५।१८)

सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धि, **'सा पण्डा'** ऐसी पण्डा-बुद्धि जिनके पास है वे मनीषीजन ही पण्डित कहे जाते हैं। वे पण्डितजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गऊ, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल में भी समभाव से सर्वत्र परमात्मा को ही देखते हैं। सबको परमात्मा में देखना और सबमें परमात्मा को देखना, इन दोनों ही अवस्थाओं में साधक जुगुप्सा-दोष से विमुक्त हो जाता है। श्रुति का कथन है **''ततो न विजुगुप्सते''**। जुगुप्सा शब्द के कई अर्थ होते हैं जैसे घृणा, द्वेष, भय तथा अपवित्रता आदि। ये सभी भाव व्यक्ति में द्वैत दृष्टि से ही उत्पन्न होते हैं। स्वयं को पवित्र, सुन्दर, सदाचारी और दूसरों को इसके विपरीत अपवित्र, असुन्दर और कदाचारी स्वीकार करने से ही मनुष्य में अन्य के प्रति जुगुप्सा भाव का जन्म होता है। हमारे व्यावहारिक जीवन में अनेक अनर्थकारी दुःखद परिस्थितियों को जन्म देने वाली जुगुप्सा वृत्ति ही हुआ करती है। समाज में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और विनाशकारी परिस्थतियों को भी जन्म देने में यह कारण हो जाती है। हमारे सामाजिक जीवन में आज भी जो भेद-भावयुक्त एक महान् रोग व्याप्त है, ऊँच-नीच की भावना ने जो हमारे सामाजिक जीवन को राजयक्ष्मा-ग्रस्त बना दिया है, उसमें यह जुगुप्सा ही कारण है। इस भयंकर रोग ने ही हमारे गौरवपूर्ण धर्म, संस्कृति, सभ्यता और दर्शन को सर्वथा निस्तेज और निष्क्रिय बना दिया है। जुगुप्सा एक महान् पाप है, यह मनुष्य को मनुष्यता से गिराकर अनेकविध नारकीय यातनाओं को भोगने के लिए विवश कर देती है। समाज में विघटन और विनाश की जन्मदात्री जुगुप्सा ही है। जिस समय मनुष्य का अहं रज और तम से अभिभूत होता है, उस अवस्था में इस जुगुप्सारूपी रोग का जन्म होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ और अन्य को तुच्छ समझने की भ्रान्ति से ग्रस्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में जुगुप्सा ही आसुरी गुणों की जन्मदात्री है। जब तलक व्यक्ति में यह वृत्ति रहती है, तब तक उसमें दैवी सम्पत्ति का उदय नहीं हो पाता। रज और तम-भाव को ही चित्त का कल्मष वा दोष कहा गया है। इसी के द्वारा सीमित अहं का जन्म होता है; सीमित अहं ही आकृति में आबद्ध होने के नाते अहंकार कहा जाता है; यही अहंकार अपने में विशिष्टता और दूसरों में तुच्छता की दृष्टि को जन्म देता है। स्वयं में श्रेष्ठता की स्वीकृति से दो प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं—सौन्दर्य-वृत्ति और पवित्र वृत्ति। जब व्यक्ति स्वयं को पवित्र स्वीकार करता है, तभी उसे अन्य में

अपवित्रता दिखाई देती है। इसी प्रकार से जब वह स्वयं को सुन्दर समझता है, तभी उसे दूसरे में असुन्दरता दिखाई देती है, और यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि अपवित्रता से घृणा और असुन्दरता से अरुचि का जन्म होता है। यह घृणा और अरुचि ही जुगुप्सा है। गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि जुगुप्सा का कारण बाह्य जगत् में नहीं, बल्कि अपने अन्तर्तम में ही निहित है। रजोगुण और तमोगुण के संयुक्त परिणाम से ही अपवित्रता और असुन्दरता की दृष्टि का जन्म होता है। श्रुति का कथन है कि जब चित्त निर्मल हो जाता है, तम और रज से रहित हो विशुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाता है, उस अवस्था में उसमें सात्त्विक ज्ञान का उदय होता है। भगवान् के शब्दों में सात्त्विक ज्ञान का उदय होने पर साधक अनेकता में एकता की अनुभूति करता है। गीता के १८वें अध्याय में प्रभु कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।

(गीता १८।२०)

"जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही अव्यक्त परमात्म-भाव को देखता है और समस्त विभिन्नताओं में एक अविभक्त तत्त्व का दर्शन करता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।" यही सात्त्विक ज्ञान सर्वत्र, सर्वप्राणियों में आत्मदर्शन की दृष्टि प्रदान करता है और जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व को देखता है, भला वह घृणा और अरुचि क्यों करेगा? किससे करेगा? यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है कि इस मन्त्र में श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

यहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग उपाधि-रहित विशुद्ध चेतन के अर्थ में किया गया है। तत्त्वतः वह चेतन न तो जीव है न ईश्वर ही। वह न जीवात्मा है न परमात्मा। जीवात्मा और परमात्मा का भेद उपाधिजन्य है, मायाजन्य है; तत्त्वतः नहीं। गोस्वामी जी ने 'रामचरित मानस' में कहा है—

परबस जीव स्वबस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ।।
मुधा भेद जदपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ।।

जीव और ईश्वर की सम्पूर्ण भेदात्मक मान्यताएँ मिथ्या हैं, मायाजन्य हैं, किन्तु भगवत्कृपा के बिना इनका निराकरण नहीं हो पाता। श्रुति कहती है कि जब साधक का चित्त विशुद्ध हो जाता है, उस समय वह उपाधि-रहित आत्मतत्त्व को ही सम्पूर्ण भूतों में अनुभव करता है। इसलिए वह किसी से घृणा नहीं करता, जुगुप्सा नहीं करता।

यहाँ पर एक बात और समझ लेना आवश्यक है कि चेतन तत्त्व निरवयव होने से एक, अखण्ड, अक्षय और अद्वितीय है। उसमें जैसे जीव और ईश्वर भाव की

कल्पना मिथ्या है, उसी प्रकार से स्त्री और पुरुष की कल्पना भी भ्रमपूर्ण एवं मिथ्या है। जहाँ पर हम उस परम चैतन्य में ईश्वर की कल्पना करते हैं, वहीं भेद-दृष्टि का जन्म हो जाता है। जिन धर्मों में ईश्वर को सृष्टि का मूल कारण स्वीकार किया गया है, उनमें अद्वैत ज्ञान का अभाव है क्योंकि सृष्टि में सर्वत्र जड़-चेतन, स्त्री-पुरुष आदि द्वैत भावों का दर्शन होता है। वेदान्त कहता है—इन समस्त द्वन्द्वों के पीछे एक निर्द्वन्द्व तत्त्व है, न उसे स्त्री कहा जा सकता है न पुरुष। यथार्थत: उसे न जड़ कहा जा सकता है न चेतन ही। वेदान्त की भाषा में वह स्त्रीलिंग और पुंल्लिग दोनों से ही परे है, इसलिए उसे तत् कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनन्त सत्, अनन्त चित् तथा अनन्त आनन्द को किसी लिंगविशेष में आबद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए उपनिषद् का यह कथन है—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ (श्वेता० ५।१०)

इसीलिए वेदान्त उसे 'तत्' शब्द से सम्बोधित करता है जो कि नपुंसकलिंग के लिए प्रयुक्त होता है। यह ब्रह्मानुभूति का सौभाग्य वेदान्तवादियों को ही उपलब्ध है। दुनिया के अन्य जितने धर्म हैं उनकी मान्यता में ईश्वर की ही स्वीकृति है, इसीलिए वह ईश्वर जीवों से भिन्न और जीवों को दण्ड और पुरस्कार में नरक और स्वर्ग का प्रदाता माना जाता है।

यू० एस० ए० में एक बार एक विश्वविद्यालय में वेदान्त-सिद्धान्त की मीमांसा को सुनकर एक प्राध्यापक ने यह प्रश्न किया कि वेदान्त के ब्रह्म और बाइबिल के गॉड में क्या अन्तर है? क्या ये दोनों समानार्थक शब्द नहीं? इसके उत्तर में मैंने उसे बताया कि बाइबिल में गॉड पिता स्वीकार किया गया है, किन्तु वेदान्त का ब्रह्म इस सम्पूर्ण सृष्टि का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। बाइबिल में त्रैतवाद की प्रतिष्ठा है—ईश्वर, जीव और उसके लिए नरक-स्वर्गादि स्थान, किन्तु वेदान्त में तत्त्वतः किसी भी प्रकार के भेद के लिए स्थान नहीं। ब्रह्म अखण्ड, अनन्त, अद्वैत तत्त्व है, उसका खण्डन वा विभाजन सम्भव नहीं है। अचिन्त्य शक्ति का स्रोत होने से उस ब्रह्म से ही ज्ञान और गुणरूप में द्विविध तत्त्वों का आविर्भाव होता है। गम्भीरता से विचार करने पर इसको सरलता से सभी लोग समझ सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में गुण और ज्ञान का दर्शन होता है। इन दोनों के आधार वा कारण को ही व्यक्ति की आत्मा कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह आत्मतत्त्व समस्त द्वन्द्वात्मक भेदों से परे है और वही परमतत्त्व वा पारमार्थिक सत्य है। प्रत्येक ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वत्र, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ स्वीकार करता है। यदि ईश्वर से जीव और जगत् की सत्ता को अलग मान लिया जाए तो ईश्वर की सर्वत्र विद्यमानता की कल्पना सर्वथा युक्तिहीन और असंगत हो जाती है, क्योंकि जहाँ जितनी मात्रा में भी जगत्

और जीव की अलग सत्ता स्वीकार की जाती है वहाँ उतनी मात्रा में ईश्वर का होना सम्भव नहीं, और यदि वहाँ भी ईश्वर है तो जगत् और जीव की सत्ता की कल्पना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण एवं मिथ्या है। इसलिए वेदान्त का अद्वैत सिद्धान्त ही वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त सत्य सिद्धान्त है। बाइबिल के गॉड की स्थिति एक सर्वसत्ता-सम्पन्न शासक के समान है जो कि अनुग्रह कर जीवों को स्वर्ग देता है तथा कुपित हो उन्हें अनन्त काल के लिए नारकीय यातनाओं में ढकेल देता है, किन्तु वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म के विषय में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। तो मैं आप लोगों को समझा रहा था कि श्रुति जिस आत्मतत्त्व की अनुभूति की बात यहाँ कर रही है, वही परमतत्त्व ब्रह्म तत्त्व है।

कुछ विद्वानों की राय है कि मन्त्र के पूर्वार्द्ध में भक्ति-मार्ग के साधकों की अनुभूति का वर्णन है। वे सभी प्राणियों को परमात्मा में ही अनुभव करते हैं, उनकी दृष्टि में प्राणियों की सत्ता परमात्मा के ही आश्रित है। जैसे किरणों की सत्ता सूर्य के आश्रित है, सूर्य से भिन्न किरणों का कोई अस्तित्व नहीं; किन्तु किरणें ही सूर्य हैं, ऐसा कहना अनुचित और असंगत है, ठीक उसी प्रकार से जीवों की सत्ता स्वतन्त्र नहीं, परमात्मा के ही आश्रित है। परमात्मा से भिन्न जीवों का अस्तित्व नहीं; किन्तु जीवों को ही परमात्मा स्वीकार कर लेना सर्वथा असंगत एवं अनर्थकारी है। भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों में तत्त्वतः इसी का प्रतिपादन किया है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखने वाले साधक की अनुभूति का वर्णन है। यह अनुभूति ज्ञानी साधक की है। योगमार्ग से साधन में निरत साधक ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करने के पश्चात् समस्त प्राणियों में अभेद-रूप से आत्मानुभूति करता है। गीता के छठे अध्याय में योगी की इस अवस्था का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (गीता ६।२९)

योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समभाव से समदृष्टि रखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में और सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में ही देखता है। इस प्रकार की अनुभूति को प्राप्त हुआ योगी कभी किसी से घृणा वा द्वेष नहीं करता। यही श्रुति का कथन है **''ततो न विजुगुप्सते''**। जैसा कि आप लोगों को पहले बताया गया है कि बिन्दु से चली हुई रेखा जब तक उसी बिन्दु तक न पहुँच जाए तब तक उसकी गति का अन्त नहीं, यही स्थिति इस जीव की है। जहाँ से यह चला है वहीं पहुँचकर इसें परम विश्राम की प्राप्ति हो सकती है, वही इसका गन्तव्य स्थान है, लक्ष्य है। जैसे अगाध जल से ही नदियाँ निकलती हैं और अगाध जलराशि समुद्र में मिलकर ही स्थिर और शान्त होती हैं, उसी प्रकार से परमतत्त्व से अभिव्यक्त हुआ यह जीव जब तक उसी में नहीं पहुँचता, उसी में लीन नहीं होता, तब तक इसका भटकाव, इसकी दूरी, इसका भेद

समाप्त नहीं होता। वेदान्त उसी अद्वैतानुभूति की सीख देता है। जिस अवस्था में समस्त भेदों का अन्त हो जाए वही वेदान्त का प्राप्तव्य है। भेद में ही घृणा, द्वेष, भयादि का जन्म होता है। भेद-दृष्टि का नाश करना ही वेदान्त का प्रयोजन है। एक बार कुछ विद्वान् आपस में बैठे हुए बातचीत कर रहे थे। वहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि एक शब्द में वेदान्त का सार व्यक्त करना हो तो वह क्या हो सकता है? एक सन्त ने इसका उत्तर दिया—वह शब्द है ''भेदान्त''। भेदान्त ही वेदान्त का सार है। जहाँ पर एक है, अद्वैत है, वहाँ पर कौन किसको देखेगा, कौन किसको सुनेगा, कौन किसको जानेगा? छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति कहती है—

यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

(छां० २।४।१४)

अभिप्राय यह है कि आत्मा ही भूमा है। भूमा में भेद नहीं; भेद अल्प में है। अल्प में ही नानात्व-दृष्टि का जन्म होता है और यह नानात्व की दृष्टि अशुद्ध चित्त का ही परिणाम है। गीता के १८वें अध्याय में कहा है—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। (गीता १८।२१)

''जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को पृथक्-पृथक् करके जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।'' सारांश यह है कि सृष्टि में भेद-दृष्टि वा नानात्व का भेद रजोगुण वा विपरीत ज्ञान का परिणाम है। यही विपरीत ज्ञान घृणा एवं भय रूप जुगुप्सा को जन्म देता है; किन्तु जिस साधक ने चित्तशुद्धि के द्वारा शुद्ध सात्त्विक ज्ञान के प्रकाश में अज्ञान का आवरण दूर कर दिया है, वह सर्वभूतों को आत्मा में और सर्वभूतों में आत्मा को अनुभव करता हुआ किसी से घृणा वा भय नहीं करता। जैसा मैंने आप लोगों को बताया है कि जुगुप्सा का कारण बाह्य जगत् में नहीं, अपने अन्तर् में ही होता है। जब तक अन्तर् मलिन है तब तक बाहर अशुद्धता और मलिनता का दर्शन होता ही रहेगा और उससे उत्पन्न होने वाली जुगुप्सा सदैव जीवन को पतन की ओर ढकेलती रहेगी, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन विखण्डित एवं छिन्न-भिन्न होता ही रहेगा। इसलिए उपनिषद् कहती है कि सर्वत्र सर्वरूप में आत्मा की अनुभूति का अभ्यास ही इस महान् रोग का निदान है। यही वेदान्त की सीख है और इसकी सिद्धि में ही वेदान्त-ज्ञान की सार्थकता है।

वेदान्त का एक अर्थ ज्ञानान्त भी होता है। ज्ञानान्त का अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें कुछ जानने के लिए शेष न हो। जैसे समस्त ईंधन के ढेर को भस्मसात् करके अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार से समस्त ज्ञेय पदार्थों के यथार्थ

रूप का अनुभव कर ज्ञान भी शान्त हो जाता है। जिस अवस्था में ज्ञान के लिए कुछ ज्ञेय शेष नहीं रह जाता, उस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय इन दोनों प्रकार के भेदों का भी अन्त हो जाता है। वेदान्त उसी स्थिति का अवबोधन कराता है। जैसे ईंधन के रहते हुए अग्नि शान्त नहीं होती क्योंकि ईंधन अग्नि का आहार है, ठीक उसी प्रकार से ज्ञेय के रहते हुए ज्ञान भी शान्त नहीं होता। ज्ञेय ही ज्ञान के प्रकाश में हेतु है। यहाँ पर एक बात और समझ लेनी चाहिए कि यथार्थ ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहते हैं। जब तक अज्ञान का अन्त नहीं हो जाता तब तक ही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की स्थिति रहती है। अज्ञान से ही भेदभाव का जन्म होता है, यह बात आप लोगों को पहले ही समझा दी गई है और उस भेदभाव का नाश कर्म के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म स्वयं ही भेद के आश्रित खड़ा होता है। नाना प्रकार की पूजा-प्रार्थना आदि की प्रक्रियाएँ भी भेद को मिटाने में समर्थ नहीं, क्योंकि यह भी भेदभाव पर ही अवलम्बित होती हैं। भेद का नाश केवल ज्ञान के प्रकाश में ही सम्भव है क्योंकि जिस अज्ञान से भेद का जन्म हुआ है वह अज्ञान किसी भी प्रकार के कर्म से वा यज्ञ, तप, दान, पूजा, अर्चना आदि से दूर नहीं होने का। केवल यथार्थ ज्ञान ही उसे दूर कर सकता है; और कोई दूसरा उपाय नहीं। इसी भाव को व्यक्त करते हुए भगवान् कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । (गीता ५।१५)

अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है इसीलिए प्राणी विमोहित हो रहे हैं। गोस्वामी जी ने मानस में लिखा है—

छूटइ मल के मलहि के धोए। घृत कोउ पाव कि बारि बिलोए ।।

जैसे मल के धोने से मल दूर नहीं होता, जैसे जल के बिलोने से घृत नहीं मिलता, उसी प्रकार से विविध प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान से अज्ञान का नाश नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। (गीता ५।१६)

जिनके अन्तःकरण का अज्ञान आत्मज्ञान के प्रकाश में नष्ट हो गया है उनका ज्ञान सूर्य के सदृश उस परमात्मा को सर्वत्र प्रकाशित करता है, अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में जिनके अन्तःकरण का अज्ञान नष्ट हो गया है उनकी दृष्टि में सर्वत्र परमात्मा ही विराजित होता है। जिस तत्त्वज्ञान के प्रकाश में अज्ञान, भेद तथा उससे उत्पन्न हुई जुगुप्सा-वृत्ति का अन्त होता है, उस ज्ञान की उपलब्धि तभी सम्भव है जबकि ज्ञान की साधिका बुद्धि सात्त्विक हो; और सात्त्विक बुद्धि प्राप्त करने के लिए सात्त्विक आहार, सात्त्विक व्यवहार, सात्त्विक जीवन का होना परमावश्यक है। जब जीवन पवित्र

हो जाएगा तो उससे हृदय भी पवित्र हो जाएगा, बुद्धि भी पवित्र हो जाएगी। पवित्र बुद्धि में पावन ज्ञान का उदय होगा, जिससे सर्वत्र आत्मतत्त्व का दर्शन होगा और समस्त दुःखों, सन्तापों को जन्म देने वाली जुगुप्सा-वृत्ति का सदैव के लिए अन्त हो जायेगा। यही इस मन्त्र का सार-सन्देश है। इसे पुनः आप लोग याद कर लें—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

□ □

१६

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोगों को कई दिनों से ईशोपनिषद् के माध्यम से शाश्वत सनातन धर्म का मूल सिद्धान्त समझाया जा रहा है। कल इसके छठे मन्त्र पर विचार किया गया था, जिसका सार यह बताया गया था कि जो व्यक्ति साधना में प्रवृत्त होता है, अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे अपनी चेतना को ऊपर उठाता है, वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहं आदि के व्यापार से विरत हो विशुद्ध अन्तःकरण के द्वारा आत्मप्रकाश की अनुभूति का पात्र बनता है। साधन-क्रम में अनुभूति के तीन स्तर बताए गए हैं—प्रथम अवस्था में समस्त प्राणियों को आत्मा में देखना, दूसरी अवस्था में समस्त प्राणियों में आत्मा को देखना और तीसरी अवस्था में सर्वरूपों में आत्मा ही प्रकट है—ऐसा अनुभव करना। पूर्व की दो अवस्थाओं में आत्मा और प्राणी-जगत् दोनों का अस्तित्व दिखाई देता है, किन्तु तीसरी अवस्था में द्वैत का सर्वथा अभाव हो जाता है। उपनिषद् के इस छठे मन्त्र में साधक की पूर्व की दोनों अवस्थाओं का वर्णन है और आगे के सातवें मन्त्र में तीसरी वा अन्तिम अवस्था का वर्णन किया जाएगा। पहली अवस्था में आत्मा और उसमें सम्पूर्ण प्राणी, इन दोनों की अनुभूति साथ-साथ होती है। प्राणी-जगत् है किन्तु स्वतन्त्र नहीं, वह परमात्मा में है और उसके अधीन है। दूसरी अवस्था में प्राणी-जगत् है और उसमें परमात्मा विराजित है, इन दोनों अवस्थाओं में परमात्मा और प्राणी-जगत् दोनों की अनुभूति साथ-साथ होती है। यद्यपि इनमें प्रधानता आत्म तत्त्व की है फिर भी कुछ अंश में द्वैत भाव रह जाता है। हमारे यहाँ दार्शनिक दृष्टि से वैष्णवाचार्यों के सिद्धान्त इन्हीं अवस्थाओं के अवबोधक कहे जा सकते हैं। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि के दार्शनिक सिद्धान्त इन्हीं अवस्थाओं का प्रकारान्तर से विवेचन करते हैं और इन सिद्धान्तों के अनुसार जो प्राप्तव्य मोक्ष है उसमें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य आदि अवस्थाओं में भी इस प्रकार की स्थिति बनी रहती है। ये अवस्थाएँ सामान्य नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं में रहने वाला योगी भेद में अभेद का दर्शन करता है, इसलिए उसमें भय और घृणा के लिए स्थान नहीं होता। श्रुति का कथन है—**''द्वितीयाद् भयं भवति''** दूसरे से भय होता है। यहाँ पर यह बात समझने की है कि दो के होने से भय होता है या द्वैतभाव होने से भय होता है? गम्भीरता से विचार करने पर यह

ज्ञात होगा कि दो के होने से भय नहीं होता, द्वैतभाव होने से भय होता है। यह तो सभी का जाना हुआ सत्य है कि भय की अवस्था से मुक्त होने के लिए हम किसी शक्तिशाली प्रियजन का आश्रय ग्रहण करते हैं। बच्चा भयभीत होकर माँ के आँचल में छुपना चाहता है। इसी प्रकार से और भी अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दो का होना भय का कारण नहीं, बल्कि द्वैतभाव का होना ही भय का कारण है। जिस अवस्था में द्वैतभाव का सर्वथा अभाव हो जाता है उस अवस्था में व्यक्ति भयभीत नहीं होता।

घृणा के सम्बन्ध में भी यही देखा जाता है। अपने शरीर पर लगे हुए मल से घृणा नहीं होती, सहजभाव से हम उसे साफ कर लेते हैं। यही बात शिशु के प्रति माँ में भी देखी जाती है। माँ अपने बच्चे को मल से लिपटा हुआ देखकर उससे घृणा नहीं करती, बल्कि वह सहजभाव से उसे निर्मल बनाती है। वही मल यदि किसी अन्य बच्चे वा व्यक्ति में दिखाई दे तो स्वभावतः वह वीभत्स-सा दिखाई देगा और उसे देखकर वह आँख और नाक भी बन्द कर लेगी। अभिप्राय यह कि जहाँ द्वैतभांव है वहीं घृणा होती है। श्रुति का कथन है—जो सबको आत्मा में और सबमें आत्मा को देखता है वह किसी से भयभीत नहीं होता, किसी से घृणा नहीं करता **''ततो न विजुगुप्सते''**। भगवान् गीता के छठे अध्याय में इन अवस्थाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। (गीता ६।३०)

''जो सम्पूर्ण भूतों में मुझे देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझमें देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं।'' इन दोनों अवस्थाओं में परमात्मा की नित्य अनुभूति बनी रहती है। इसलिए वह द्वैतभावजन्य भय और घृणा से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी मानस में कहते हैं—

स्वर्ग नरक अपबरग समाना । जहँ तहँ देख धरे धनुबाना ।।
करम बचन मन राउर चेरा । राम करहु तेहि के उर डेरा ।।

महर्षि वाल्मीकि भगवान् के लिए निवास-स्थान बतला रहे हैं और उस अवस्था को प्राप्त हुए भक्त की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं जिसमें स्वर्ग-नरक-अपवर्ग, जहाँ भी कहीं उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ वह धनुषबाणधारी अपने प्रभु का ही दर्शन करता है। उसके लिए अब जगत् में नरक-स्वर्ग, अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच आदि का भेद समाप्त हो गया है। सर्वत्र सर्व प्राणियों में उसके प्रभु ही विराजित हैं—ऐसा अनुभव करता हुआ वह मन, वचन और कर्म से अपने प्रभु की अर्चना में ही निरत रहता है। ऋषि

वाल्मीकि कह रहे हैं—ऐसे भक्त के हृदय में ही आप विश्राम करें। साधन की इस उच्च अवस्था को प्राप्त हुआ साधक भला किससे भय और घृणा करेगा? यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि भय और घृणा दोनों द्वैतभाव की ही सन्तानें हैं। गोस्वामीजी ने 'विनय पत्रिका' में घोषणा की है—

सपनेहुँ नहीं सुख द्वैत दर्शन बात कोटिक को कहै ।

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस अवस्था की प्राप्ति किस प्रकार से हो? इस विषय में मनीषियों ने साधन की व्यवस्था दी है। उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति स्वयं को साधक स्वीकार करे और किसी सद्गुरु की शरण लेकर उससे समुचित साधना की विधि को समझे और तत्परता से उसमें प्रवृत्त हो। तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने साधक की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। पहली अवस्था में साधक मानता है, दूसरी अवस्था में अनुभव करता है और तीसरी अवस्था में जानता है। इसके सम्बन्ध में आचार्यों ने बताया है कि साधक पहली अवस्था में यह स्वीकार करे कि हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ—''**तवास्मि**'' वाल्मीकि रामायण में भगवान् ने स्वयं प्रतिज्ञा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (६।१८।३३)

''जो मेरी शरण में आकर एक बार भी कहता है, हे प्रभु! मैं तेरा हूँ, उसको मैं समस्त प्राणियों से निर्भय कर देता हूँ, यह मेरा दृढ़ व्रत है।'' यह ''**तवास्मि**'' की भावना सम्पूर्ण साधनों का बीज है। देखे हुए नहीं, जाने हुए नहीं, केवल सुने हुए प्रभु को स्वीकार कर उनके शरणापन्न होना—यह साधक की प्रथम अवस्था है। जैसे दुनिया का समस्त ज्ञान और विज्ञान स्वीकार किए हुए अक्षर और अंक पर ही आश्रित है, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्मविज्ञान के लिए भी प्रारम्भ में ब्रह्म को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह सभी जानते हैं कि गणित का विद्यार्थी अंकों के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं निकाल सकता। यदि वह अंकों की यथार्थता का बुद्धि वा तर्क द्वारा पहले विश्लेषण करना चाहे और यह सोचे कि इसकी यथार्थता को बिना समझे इसे स्वीकार करना बुद्धि-विरुद्ध है तो मेरे विचार से वह कभी भी गणितज्ञ नहीं हो सकता। जैसे गणितज्ञ होने के लिए उसमें माने हुए अंकों और चिह्नों को स्वीकार करना आवश्यक है इसी प्रकार से ब्रह्मज्ञ होने के लिए साधक को सुने हुए परमात्मा की स्वीकृति परम आवश्यक है, कुछ लोग भ्रान्तिवश ऐसा समझते हैं कि बिना जाने, बिना देखे किसी तत्त्व को स्वीकार करना बुद्धि-विरोधी, असंगत तथा अवैज्ञानिक है; किन्तु ऐसे लोग न तो यथार्थतः विज्ञान से ही परिचित हैं और न उसके अनुसन्धान की प्रक्रिया से। विज्ञान का आधार गणित है और गणित का आधार अंक।

अंक का भी आधार बिन्दु है जो कि सर्वथा अनिर्वचनीय है, जिसका निर्वचन वा जिसकी विवेचना कभी भी, किसी काल में भी नहीं हो सकती। यदि किसी से पूछा जाए कि शून्य वा ज़ीरो की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, गोलाई आदि क्या और कितनी है तो इसका क्या उत्तर दिया जा सकेगा? यह सभी गणितज्ञ मानते हैं कि शून्य की व्याख्या नहीं हो सकती। 'वह है' केवल इतना ही स्वीकार किया जाता है और इस स्वीकृति पर ही विविध प्रकार की गणित-विद्या का आविर्भाव हुआ है। अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित आदि का आधार वही शून्य वा ज़ीरो है जिसकी व्याख्या में बुद्धि सर्वथा असमर्थ है। इसी प्रकार से समस्त ज्ञान का आधार शब्द है और शब्द का आधार अक्षर। अक्षर भी स्वयं में नित्य और अनिर्वचनीय है। विद्यार्थी यदि यह सोचे कि 'अ' को 'अ' क्यों माना जाए तो इसके लिए क्या उत्तर हो सकता है? स्वर और व्यंजन की स्थिति को स्वीकार कर लेने पर ही उनके संयोग से शब्द का निर्माण किया जाता है और शब्द के द्वारा ही विविध प्रकार के भावों को अभिव्यक्त किया जाता है जो कि ज्ञान-वृद्धि में कारण होते हैं। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि किसी प्रकार के भी अनुसन्धान का प्रारम्भ स्वीकृति पर ही अवलम्बित होता है चाहे वह ज्ञान हो, विज्ञान हो वा तत्त्वज्ञान हो। बिना देखे हुए, बिना जाने हुए, केवल सुने हुए तत्त्व को स्वीकार कर उसको प्राप्त करने के लिए उसकी खोज में प्रवृत्त होने की भावना को ही श्रद्धा कहते हैं। भगवान् का कथन है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । (गीता ४।३९)

श्रद्धावान् ही तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर पाता है। श्रद्धा की प्रबलता में तत्परता एवं इन्द्रियसंयम, ये दोनों स्वतः ही हो जाते हैं। इससे यह बात समझ में आ गई होगी कि साधना में प्रवृत्त होने के लिए सुने हुए प्रभु के प्रति समर्पण—यह पहली शर्त है। इसमें विविध प्रकार के तर्क वा ऊहापोह के लिए कोई स्थान नहीं है।

साधन में बुद्धि की बड़ी महत्ता है। यदि यह कहा जाए कि सर्वविध साधनों का आधार बुद्धि ही है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु बुद्धि का प्रयोग साधन में, साधन-सामग्री के प्रयोग के लिए ही किया जाता है, साध्य के अस्तित्व के प्रति तर्क में नहीं। गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि हमारे जीवन के समस्त क्रिया-कलाप में बुद्धि का केवल २० प्रतिशत ही स्थान है। अभिप्राय यह है कि आपके क्रिया-कलाप में ८० प्रतिशत ऐसे तत्त्व हैं जो बुद्धि के क्षेत्र से परे हैं अथवा जिनमें बुद्धि का कोई दखल नहीं है। गीता के अठारहवें अध्याय में प्रभु ने इसका विवेचन करते हुए बताया है—

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। (गीता १८।१३)

''हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि में इन पाँच हेतुओं को सांख्य सिद्धान्त में

बताया गया है। उनको तू मेरे से अच्छी प्रकार जान ले।'' वे पाँच हेतु कौन-से हैं? इस सम्बन्ध में प्रभु कहते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।। (गीता १८।१४)

अधिष्ठान और कर्ता, विभिन्न प्रकार के करण, विविध प्रकार की चेष्टा तथा पाँचवाँ दैव ही हेतु कहा गया है। भगवान् कहते हैं, अच्छा और बुरा जो कुछ भी कर्म शरीर, मन और वाणी से मनुष्य आरम्भ करता है, उनमें ये पाँचों ही कारण होते हैं। इन पाँच में से यदि एक भी न हो तो किसी प्रकार के क्रिया-कलाप नहीं हो सकते। इन पाँचों में किसी को छोटा और बड़ा वा अधिक और कम महत्त्व का भी नहीं कहा जा सकता। विचार यह करना है कि इन पाँचों में अपनी बुद्धि का स्थान कहाँ है? उसकी उपयोगिता वा उसका प्रयोग कहाँ है? जीवन के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को यदि पाँच भागों में विभक्त कर दिया जाए तो प्रत्येक के भाग में २० प्रतिशत आता है। इनमें अधिष्ठान का पहला स्थान है। अधिष्ठान का अभिप्राय है शरीर। यह शरीर जो, जैसा, जिस आकृति-प्रकृति वाला आपको मिला है, क्या आपकी बुद्धि इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकती है? क्या वह अपने प्रयत्न से इसमें आपकी रुचि के अनुसार परिवर्तन कर सकती है? गम्भीरता से शरीर की बनावट के ऊपर विचार कीजिए! आप देखेंगे कि उस प्राकृतिक विधान से कितनी सुन्दर और सुव्यवस्थित रचना है इसकी! आपके प्रत्येक अंग की स्थिति कितनी उचित और उपयोगी है ज़रा कल्पना कीजिए! यदि चारों अँगुलियाँ बराबर होतीं और अँगूठा भी उनके साथ होता तो उसकी क्या उपयोगिता होती? जैसे सिर के दोनों बगल में कान हैं ऐसे यदि दोनों बगल में नाक भी होती और जैसे सामने देखने के लिए आँखें हैं वैसे पीछे देखने के लिए भी बना दिया होता तो इस ढाँचे की क्या स्थिति होती? क्या बुद्धि इससे अधिक उत्तम आकृति की कल्पना कर सकती है? नहीं—सर्वथा असम्भव है। अभिप्राय यह है कि अधिष्ठान अर्थात् शरीर जैसा है वह उत्तम और उपयोगी है, इसकी स्थिति में बुद्धि का कोई दखल नहीं। दूसरा स्थान कर्ता का है। कर्ता का अभिप्राय जीव से है जिसकी अभिव्यक्ति 'अहं' वा 'मैं' रूप में हो रही है। वह भी बुद्धि वा तर्क की सीमा से परे है। तीसरा स्थान करण का है। करण माने इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ जितनी, जिस रूप में, जैसी मिली हैं, बुद्धि उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में बुद्धि का उसमें भी दखल नहीं। जैसे बुद्धि का प्रयोग करके आप अपनी देखने की शक्ति को तो बढ़ा सकते हैं किन्तु दो के स्थान पर चार आँखें नहीं बना सकते, इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा स्थान विविध प्रकार की चेष्टाओं का है और पाँचवाँ स्थान दैव का है। दैव माने प्रारब्ध। जिन कर्मों के विपाक के परिणाम में, जिन कर्मों के फल के

रूप में आपको शरीर, इन्द्रियाँ, इनका आयुमान और इनके द्वारा होने वाली सुख-दुःख की अनुभूति-रूप भोग की प्राप्ति है, ये सभी उस दैव के ही परिणाम हैं। दैव भी बुद्धि की सीमा से परे है। इनमें बुद्धि का प्रयोग केवल चेष्टा में ही किया जाता है। चेष्टा का अभिप्राय है प्राप्त हुए शरीर, इन्द्रियाँ आदि साधनों के समुचित प्रयोग की प्रवृत्ति, जो कि सर्वथा बुद्धि पर ही अवलम्बित है। कठोपनिषद् में एक रूपक द्वारा इस रहस्य को समझाया गया है। उसमें कहा गया है—शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथि है और आत्मा इस रथ में बैठा हुआ रथी है। इसमें शरीर, इन्द्रियाँ और मन ये सब साधन हैं और आत्मा साधक। इन समस्त साधनों के प्रयोग की जिम्मेदारी बुद्धिरूपी सारथि के ही अधीन है। सारथि यदि अकुशल और निर्बल है तो वह इन साधनों का उचित प्रयोग नहीं कर पाएगा, रथी को उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँचा पाएगा। इसलिए सारथि की कुशलता, योग्यता और उसकी सामर्थ्य की महत्ता है—इसमें सन्देह नहीं; किन्तु रथ, घोड़े और लगाम आदि साधनों के अभाव में उसकी योग्यता तथा सामर्थ्य भी निरर्थक होंगे। यही स्थिति जीवन में बुद्धि की है। बुद्धि की कुशलता ही व्यक्ति के उत्थान में कारण है। कार्य की सफलता भी बुद्धि की कुशलता पर ही निर्भर होती है। बुद्धि की विशुद्धता में व्यक्ति का उत्थान और उसकी विकृति में व्यक्ति का पतन निहित होता है। भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है—''**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**'' यह सब-कुछ होते हुए भी अधिष्ठान, करण तथा दैव की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन सबके होने पर भी यदि कर्ता अनुपस्थित हो तो अन्य सारे साधन निरर्थक हो जाएँगे। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि जीवन के विकास में बुद्धि की महत्ता होते हुए भी उसका हर क्षेत्र में प्रयोग नहीं किया जा सकता, उसकी भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं, इसलिए साधन में साधक के लिए सुने हुए साध्य को स्वीकार करना अनिवार्य है। जिस प्रकार अंकों को स्वीकार कर कुशलता के साथ उनका प्रयोग करते हुए मनुष्य पृथ्वी से चन्द्रलोक की यात्रा कर लेता है, विभिन्न ग्रहों की दूरी को नाप लेता है, ठीक उसी प्रकार से साधक साध्य को स्वीकार कर उस तक पहुँचने के लिए, उसको प्राप्त करने के लिए, मिली हुई साधन-सामग्री का समुचित प्रयोग कर अभीष्ट की प्राप्ति कर लेता है। जैसा कि पहले भी बताया गया है कि शास्त्र तथा सद्गुरु के द्वारा सुने हुए परमात्म तत्त्व में अटल आस्था और उसके गुण-स्वभाव की धारणा ही श्रद्धा शब्द से वर्णित है। श्रद्धा ही ज्ञानप्राप्ति का प्रथम सोपान है। गोस्वामी जी ने मानस में ज्ञान-दीप को प्रज्वलित करने की विधि का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है और उसके प्रारम्भ में सात्त्विक श्रद्धा को ही आधार बताया है—

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई । जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई ।।

सुन्दर सात्त्विक श्रद्धारूपी धेनु यदि भगवत्कृपा से साधक के हृदय में आकर बस जाए

तो उससे क्रमशः परम धर्मरूपी दूध, उससे परम-वैराग्यरूपी मक्खन और फिर ज्ञानरूपी घृत की उपलब्धि हो सकती है, जिसके द्वारा **''सो अहम् अस्मि''** रूपी दीप शिखा प्रज्वलित की जा सकती है और उससे आत्मानुभूति रूपी प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि साधक के लिए श्रद्धा का कितना बड़ा महत्त्व है।

श्रद्धा के द्वारा जिस प्रभु के प्रति हम स्वयं को समर्पित करते हैं और **तवास्मि** की भावना से जिसके प्रति समर्पित हो जाते हैं, वह सर्वथा विश्वास पर ही अवलम्बित है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। शास्त्र उसके होने में अनुमान-प्रमाण का प्रयोग करता है। जो कुछ भी बाह्य जगत् में हम देख रहे हैं वह कारण नहीं, कार्य है; और यह सर्वमान्य सत्य है कि बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। वैज्ञानिकों की भी यह मान्यता है कि मूल रूप में कारण अनेक नहीं, एक ही हो सकता है। इससे निश्चित होता है कि चराचर जगत् में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है उन सबका एक, अद्वैत, अखण्ड, अनन्त कारण अवश्य ही होगा। यद्यपि हम सामान्य अवस्था में उसे देख नहीं सकते, जान नहीं सकते, किन्तु कार्य को देखते हुए उसके कारण के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आस्तिक की भाषा में उस परम कारण को ही परमात्मा कहते हैं। यह सारा कार्य उसी का अपना है, इसलिए यदि साधक स्वयं को उसके आश्रित करता हुआ यह स्वीकार करता है कि **''प्रभु, मैं तेरा हूँ''** तो इसमें कहीं कोई असंगति नहीं है और न इसे बुद्धि-विरोधी वा अन्धविश्वास ही कहा जा सकता है।

जब साधक यह स्वीकार कर लेता है कि मैं इस दुनिया का नहीं, इस दुनिया के सम्बन्धियों का भी नहीं, केवल प्रभु का हूँ तो उसकी साधना प्रारम्भ हो जाती है; फिर सुने हुए, स्वीकार किए हुए अपने प्रभु को देखने और उनके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए आतुर हो जाता है। यही आतुरता उसमें उत्कण्ठा, तत्परता तथा सांसारिक विषयों से विरति उत्पन्न कर देती है और वह तीव्रता के साथ साध्य को प्राप्त करने की साधना में प्रवृत्त हो जाता है। यहाँ पर आप लोगों को एक बात और बता देना आवश्यक समझता हूँ, हमारे यहाँ साधना में गुरु, इष्ट और मन्त्र की बड़ी महत्ता है। साधक को सर्वप्रथम अपने इष्ट का चयन करना चाहिए। सनातन धर्म में परमात्मा के अनेक रूपों की कल्पना की गई है। यद्यपि वह परमतत्त्व निराकार है किन्तु ये सम्पूर्ण आकृतियाँ उसमें तथा उससे ही प्रकट हुई हैं। रामतापनी उपनिषद् में बताया गया है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ (राम ता०/१७)

यद्यपि वह परब्रह्म परमात्मा चिन्मय, अद्वितीय, निर्गुण, अशरीरी और निराकार है,

फिर भी वह उपासकों के लिए स्वयं में अनेक रूपों की कल्पना करता है, अभिप्राय यह कि अनेक रूपों में प्रकट होता है। कठोपनिषद् में भी यही बात कही गई है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ।

(कठ० १।२।२३)

जिसको वह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है। इसलिए साधक के लिए यह बताया गया है कि वह परमात्मा के किसी रूप को अपने इष्ट के रूप में वरण कर ले और इष्ट से सम्बन्धित साधन-पद्धति को अपनाकर उसमें प्रवृत्त हो। सनातन धर्म में जो अनेक प्रकार के सम्प्रदाय हैं वे उसके दूषण नहीं, भूषण हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश वर्तमान के समाज-सुधारक उनकी महत्ता से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। तथाकथित पठित समुदाय भी उनकी यथार्थता और प्रयोजन से सर्वथा अपरिचित है, इसलिए प्रत्येक समझदार कहा जाने वाला व्यक्ति अनेक सम्प्रदायों को धर्म के दोषरूप में ही देखता है और अनभिज्ञतावश उनकी आलोचना करते हुए उन्हें समाप्त करने की वकालत करता है। सनातन धर्म में विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही की गई है। यह आप सभी जानते हैं कि हर एक व्यक्ति का अपना अलग बौद्धिक स्तर है; साधना की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार ही साध्य की कल्पना और उस तक पहुँचने की पद्धति को अपना सकता है। दुनिया में कभी कोई ऐसा समय नहीं आने का जबकि मनुष्यमात्र की बुद्धि समान स्तर की हो जाए। बौद्धिक विषमता होने से इष्ट और साधन की विभिन्नता स्वाभाविक है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रहने वाले अपने स्तर से इष्ट का चयन और तदनुसार साधन में रुचि को ध्यान में रखकर ही विभिन्न साधन-पद्धतियों की प्रतिष्ठा की गई है और उन्हें ही विभिन्न सम्प्रदायों के नाम से पुकारा जाता है। वर्तमान में दिनोंदिन साधन-निष्ठा का अभाव होता जा रहा है। आस्तिक कहा जाने वाला जनसमुदाय भी साधन की भावना से रिक्त है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अनेक देवी-देवताओं के चित्रों को रखकर उनको धूप-दीप देकर स्वयं को सन्तुष्ट कर लेता है, न उसकी किसी रूप में निष्ठा हो पाती है और न अनुरक्ति ही।

साधक के लिए एक इष्ट में निष्ठा होना अनिवार्य है। जो एक-इष्ट, एक-निष्ठ नहीं है वह साधना में प्रगति नहीं कर सकता और न वह कभी आन्तरिक शान्ति को ही प्राप्त कर सकता है। एक सन्त एक कहानी सुनाया करते थे। एक बार एक व्यक्ति नदी को पार करने के लिए उसमें कूद पड़ा। नदी चौड़ी थी और गहरी थी। कुछ दूर जाकर वह हार गया और आप लोग जानते हो कि हारे को हरिनाम के सिवा और कोई आश्रय नहीं होता, इसलिए वह भगवान् को पुकारने लगा—हे नारायण! मेरी सहायता करो। उसकी पुकार सुनकर उसकी सहायता के लिए भगवान् नारायण तत्पर

हुए। इतने में ही उसके अधीर मन ने दूसरी गुहार लगा दी—हे भगवती ! हे माँ दुर्गे ! मेरी सहायता करो। अब भगवान् नारायण निश्चिन्त हो गए; सोचा कि भगवती उसे बचा लेगी। भगवती सहायता के लिए तत्पर हुई, इतने में वह पुकार उठा—हे भगवान् शंकर! मैं आपकी शरण में हूँ, मेरी रक्षा करो। इसी प्रकार से बारी-बारी से वह परमात्मा की सभी विभूतियों का नाम लेकर पुकारता रहा। उसकी पुकार सुनकर जब तक एक उसकी रक्षा के लिए तत्पर होता था, तब तक वह दूसरे को पुकारने लगता था। परिणाम यह हुआ कि वह अपने अस्थिर चित्त के परिणामस्वरूप नदी में डूब गया और कोई भी उसे बचाने के लिए नहीं आ सका। कहानी सत्य है या ग़लत—इससे कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु इसका अभिप्राय स्पष्ट और सत्य है।

मैं आप लोगों को समझा रहा था कि जब तक एक इष्ट में निष्ठा नहीं होती तब तक चित्त एकाग्र नहीं हो पाता और एकाग्रता के अभाव में न तो योग ही सधता है और न भक्ति ही। इसलिए साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम अपनी रुचि और आन्तरिक अवस्था के अनुसार एक इष्ट का चयन करे और उस इष्ट तत्त्व के ज्ञाता किसी महापुरुष के चरणों में उपस्थित हो उससे इष्ट-मन्त्र की दीक्षा और उसकी साधना की पद्धति ग्रहण करे; फिर उसे साधन में सफलता प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं। वर्तमान में ऐसा देखा जाता है कि प्रत्येक आस्तिक हिन्दू अपने घर में एक छोटा-सा पूजा-स्थान बनाकर सभी देवी-देवताओं के चित्र रख लेता है और बारी-बारी से सभी को चन्दन-अक्षत चढ़ाकर सभी की आरती उतारता है और इतने में ही वह अपनी साधना की इतिश्री समझ लेता है। जितना समय इन कार्यों में वह व्यतीत करता है उतने समय में ही वह एक इष्ट में आस्था कर, एकाग्र हो उसका सुमिरन और चिन्तन करे तो सुगमता से ही उसे साधन में प्रगति प्राप्त हो सकती है और धीरे-धीरे वह लक्ष्य तक पहुँच सकता है। किन्तु इस प्रकार की क्रियाओं से उसके आस्तिक मन को स्वल्प काल के लिए थोड़ी-सी तसल्ली तो मिल जाती है, किन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो पाता। सनातन धर्म में जो भगवान् के अनेक रूपों की कल्पना की गई है, वह विभिन्न रुचियों के अनुसार साधकों के इष्ट-चयन की सुगमता के लिए ही की गई है, विविध प्रकार के चित्रों की प्रदर्शनी के लिए नहीं। कितने लोग एक चित्र की पूजा करने के पश्चात् यह सोचते हैं कि यदि इसी प्रकार दूसरे चित्र की पूजा न की तो वह देवता नाराज़ हो जाएगा। यह कितनी बड़ी भ्रान्ति और अज्ञानता है! सनातन धर्म के सही स्वरूप और उसके यथार्थ दृष्टिकोण को न समझने का ही यह परिणाम है। हमारे यहाँ सम्प्रदायाचार्यों ने अपने यहाँ भिन्न-भिन्न रूप में अपने इष्टदेव की प्रतिष्ठा की है और वे उसी से सम्बन्धित मन्त्र और साधना की दीक्षा देते रहे हैं, किन्तु वहाँ रुचि-भेद से रूप में भेद होते हुए भी तत्त्वतः किसी भी प्रकार के भेद के लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि एक ही परिवार के भिन्न-भिन्न

सदस्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में इष्ट का चयन कर उसकी उपासना करते हैं; वहाँ किसी भी प्रकार के भेद और द्वेष के लिए स्थान नहीं होता; यह आज भी हमारे अनेकों परिवारों में देखा जा सकता है।

हाँ, तो मैं आप लोगों को समझा रहा था कि अपनी रुचि के अनुसार परमात्मा के किसी भी नाम-रूप को स्वीकार करके उसके प्रति समर्पित हो जाओ। जैसे-जैसे आप एकाग्र हो इष्ट का चिन्तन और ध्यान करेंगे, वैसे-वैसे ही आपका चित्त शुद्ध होता जाएगा; परिणाम में बाह्य जगत् से विरति और इन्द्रिय-संयम स्वयं सधता रहेगा। आपकी विशुद्ध बुद्धि जब 'अस्मि' और 'तव' इन दोनों तत्त्वों का विश्लेषण करने लगेगी तो एक अवस्थाविशेष में स्वयं ही आप अपने को उस 'तव' तत्त्व से सम्बन्धित पाएँगे और फिर आप **''तवास्मि''** की अवस्था से आगे की स्थिति **"त्वदेवास्मि"** की अनुभूति करेंगे। पहली अवस्था में यह स्वीकार करते हैं कि हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ। फिर यह चिन्तन करने पर कि 'मैं' क्या है, जो प्रभु का होने का दावा कर रहा है, इस स्थिति में साधक 'मैं' और 'प्रभु' दोनों के स्वरूप का अनुसंधान करता है और वह अनुभव कर लेता है कि 'मैं' का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं, यह तो प्रभु के द्वारा ही अनुप्राणित हो रहा है। 'मैं' का अस्तित्व प्रभु में और प्रभु से ही है, उनसे भिन्न इसकी सत्ता नहीं है। फिर इस अनुभूति के साथ ही साधक पुकार उठता है **"त्वदेवास्मि"** तुम से ही हूँ। 'हूँ' की सत्ता 'त्वत्' से ही है, यह अनुभूति विशुद्ध बुद्धि का परिणाम है। जिस प्रकार से किरणें सूर्य से हैं, सूर्य में हैं, उसी प्रकार से साधक बुद्धि में प्रकट हुए चेतनांश को प्रभु से अभिन्न ही अनुभव करता है और यह भी अनुभव करता है कि जैसे मेरा बुद्धिगत चेतनांश प्रभु से है, ठीक उसी प्रकार से समस्त प्राणियों की आत्मा परमात्मा से ही सम्बन्धित है। इसी स्थिति में साधक परमात्मा के साथ पिता-पुत्र-भाव की अनुभूति करता है। जैसे पिता के अंश से पुत्र की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार से परमात्मा के अंश से इस जीवमात्र का आविर्भाव हुआ है। इस अनुभूति की घोषणा करते हुए वैदिक ऋषि कहता है—**''ते अमृतस्य पुत्राः''** समस्त जीवमात्र उस अमृत परमात्मा की ही सन्तान हैं। जैसे ईसाई लोग विश्वास करते हैं कि परमात्मा का केवल एक पुत्र ईसामसीह है, बाकी दुनिया के सभी जीव परमात्मा की सन्तान नहीं, उसकी रचना हैं, वेदान्त ऐसा स्वीकार नहीं करता। वेदान्त की यह मान्यता नहीं अनुभूति है कि सृष्टि के समस्त प्राणी उस ब्रह्म के ही अंश हैं। दूसरे शब्दों में परमात्मा की ही सन्तानें हैं, उसी की अभिव्यक्ति हैं।

जिस अवस्था में साधक "त्वदेवास्मि" की अनुभूति करता है और अपने समान ही समस्त प्राणियों को परमात्मा में और परमात्मा को ही अंशरूप से प्रकट हुआ प्राणिमात्र में अनुभव करता है, उस अवस्था में उसमें किसी के प्रति घृणा और किसी से भय के लिए स्थान नहीं रह जाता। इस उपनिषद् के छठे मन्त्र में इस अवस्था में

पहुँचे हुए साधक की स्थिति का ही वर्णन किया गया है जिसके लिए श्रुति कहती है—

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।

यह पहले भी बताया गया है कि भय और घृणा का आधार द्वैत भाव है। द्वैतभाव का अभिप्राय भेद-दृष्टि से है, दो के अलग-अलग दिखाई देने से नहीं। जहाँ दो अलग-अलग दिखाई देते हों किन्तु उसमें द्वैतभाव, भेदभाव न हो, वहाँ भय और घृणा के लिए स्थान नहीं रह जाता। इस मन्त्र में वर्णित साधक की दृष्टि में भिन्न-भिन्न वस्तु और व्यक्ति तो होते हैं, किन्तु उनमें द्वैतभाव नहीं होता, क्योंकि वे सभी उस एक में और एक से ही हैं—ऐसा वह देखता है। जो साधक सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा में और परमात्मा को विश्व की प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति में देखता है, वह निर्भय और निर्द्वन्द्व हो जाता है। भारत के एक महान् सन्त स्वामी रामतीर्थ ने इस आशय की एक कहानी का उल्लेख किया है। कहानी इस प्रकार है—

एक बार सामुद्रिक नाव में कुछ लोग यात्रा कर रहे थे। एकाएक समुद्र में बहुत बड़ा तूफान आ गया। उससे नाव डगमगाने लगी। नाव-चालक ने सभी यात्रियों को सावधान करते हुए कहा—नाव अब हमारे बस की नहीं है, इस तूफान से ईश्वर ही हमें बचा सकता है। जीवन को मृत्यु के निकट देख नाव में बैठे हुए सभी यात्री अधीर हो चीखते-चिल्लाते हुए ईश्वर को पुकारने लगे। किन्तु उसमें एक व्यक्ति नाव के एक कोने में बैठा हुआ शान्ति से समुद्र की तरंगों को देख रहा था; उसके हृदय में न तो किसी प्रकार की अधीरता थी, न भय और न चिन्ता ही। उसकी इस स्थिति को देख उसकी धर्मपत्नी ने उसे सावधान करते हुए कहा—आप देखते नहीं? नाव अब डूबने ही वाली है! सभी यात्री अधीर हो चीत्कार कर रहे हैं और आप ऐसे शान्त बैठे हैं जैसे कुछ हो ही न रहा हो! उस व्यक्ति ने स्त्री के कथन पर कोई ध्यान नहीं दिया, उसी मस्ती में बैठा रहा। स्त्री ने पुनः उसके शरीर को झकझोरते हुए, खीझते हुए कहा—आप क्यों मौन बैठे हैं? देखते नहीं, अपनी नाव डूबने ही वाली है? अब क्या होगा? पत्नी की बात सुनकर उस शान्त व्यक्ति ने उसे पकड़ लिया, नीचे गिराकर हाथ में कटार ले उसके सीने पर लगाकर उसकी तरफ देखने लगा। पत्नी ने उसकी इस क्रिया को देख हँसते हुए पूछा—अरे, आप यह क्या तमाशा कर रहे हैं? उस व्यक्ति ने कहा—यह तमाशा नहीं, तुम देखती नहीं! मेरे हाथ में कटार है और यह कटार तेरे सीने पर है, फिर भी तुम्हें भय नहीं? उसकी स्त्री ने मुस्कराते हुए कहा—भला, मुझे भय किस बात का—कटार आपके हाथ में है, किसी गैर के नहीं। भय तो तब हो जब यह किसी गैर के हाथ में हो। पति ने कहा—मेरे हाथ की कटार तुम्हारे भय का कारण क्यों नहीं हो सकती? उसने उत्तर दिया—आप मेरे सर्वस्व हैं, प्राणेश्वर हैं, रक्षक हैं; मुझे विश्वास है कि आपके हाथ में रहते हुए कटार मेरा अनिष्ट

नहीं कर सकती। उस व्यक्ति ने कटार को उसके सीने से दूर करते हुए कहा—अरी पगली! एक मनुष्य जो शरीर के नाते तुम्हारा पति है, तुम्हें प्यार करता है, जो विवाह से पूर्व तुम्हें नहीं जानता और तुम जिसे नहीं जानती थी, मृत्यु के पश्चात् जिस सम्बन्ध के बने रहने की कोई सम्भावना नहीं, उसके प्रति तुम्हारा इतना विश्वास है कि वह तेरा पति है इसलिए उसके हाथ में कटार होने से तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। इसलिए तुम भयभीत होने की बजाय उसे देखकर मुस्करा रही हो, तो क्या तुम्हें पता नहीं कि यह समुद्र, यह नाव, यह तूफान, ये सब कुछ मेरे प्रभु के हाथ में हैं? भला, उसके हाथ में होते हुए इस भयानक तूफान से मुझे भय क्यों हो? मेरे हाथ की कटार यदि तुम्हारे में भय की अपेक्षा मुस्कान उत्पन्न कर सकती है तो मेरे प्राणेश प्रभु के हाथ में तो यह समुद्र और तूफान सभी-कुछ है। भला, मुझे भय क्योंकर हो सकता है? मैं तो उसकी इस क्रीड़ा को देखकर भयभीत नहीं, आनन्दित हो रहा हूँ। तुम भी उस प्राणेश की महिमा का समुद्र और उसके तूफान के रूप में दर्शन करो। इससे तुम भी निर्भय, निश्चिन्त होकर प्रसन्नता की अनुभूति करोगी।

इस कहानी से आप लोग यह समझ गए होंगे कि दो का होना भय में कारण नहीं होता, बल्कि द्वैत भाव का होना भय में कारण होता है। उस भक्त के समान, जो सर्वत्र, सर्वरूप में परमेश्वर की महिमा का दर्शन करता है, वह कभी किसी से भयभीत नहीं होता। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि जुगुप्सा का एक अर्थ भय भी होता है। अनेकता में एकता के दर्शन करने वाला भय और घृणा से विमुक्त हो जाता है। छान्दोग्य की श्रुति कहती है कि जो इस जगत् में नानात्व को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है। एक में अनेकता की दृष्टि मृत्यु और अनेकता में एकता की दृष्टि अमृत-तत्त्व को प्रदान करती है। जिस साधक की स्थिति का वर्णन इस छठे मन्त्र में किया गया है, वह उस अवस्था को प्राप्त हो चुका है जहाँ से वह अनेकता में एकता का दर्शन कर रहा है। अतः उसके जीवन में लेशमात्र भी जुगुप्सा का स्थान नहीं है। इसलिए श्रुति कहती है—''**ततो न विजुगुप्सते**''। जैसाकि मैंने आप लोगों को साधक की तीन अवस्थाओं का संकेत किया था—पहली 'तवास्मि', दूसरी 'त्वदेवास्मि' और तीसरी 'त्वमेवासि'। इस छठे मन्त्र में दूसरी अवस्था की विस्तार से व्याख्या कर दी गई है, अब तीसरी 'त्वमेवासि' की व्याख्या आगे सातवें मन्त्र में की जाएगी।

□□

१७

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याण-प्रद हो, इस शुभकामना के साथ ही आज ईशोपनिषद् के सातवें मन्त्र की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। संप्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त हुए साधक के विषय में पिछले मन्त्र की व्याख्या में आप लोगों को बहुत कुछ समझाया गया है। अब इस सातवें मन्त्र में असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए योगी की अवस्था का वर्णन किया जाएगा। मन्त्र इस प्रकार है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वनुपश्यतः ।।

इसका अन्वयार्थ है—"**यस्मिन् विजानतः**" जिस अवस्था में पूर्ण प्रज्ञ, तत्त्वज्ञ, विज्ञानी महापुरुष के लिए "**सर्वाणि भूतानि**" सम्पूर्ण प्राणी जगत्—"**आत्मा एव अभूत**" आत्मा ही हो गया है—"**तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः**" उस स्थिति में एकत्व का निरन्तर साक्षात् करने वाले तत्त्वद्रष्टा के लिए—"**को मोहः कः शोकः**"—कौन-सा मोह और कौन-सा शोक? अभिप्राय यह कि जिस अवस्था में साधक पूर्ण प्रज्ञता को प्राप्त कर लेता है, विज्ञानवान् हो जाता है, उस अवस्था में सम्पूर्ण चराचर जगत् आत्मा ही हो गया है, उसे ऐसा दिखाई देने लगता है। वहाँ द्वैत का लेश भी शेष नहीं रह जाता, फिर उस अद्वैत द्रष्टा के लिए मोह किस से हो और शोक किसका हो? इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक "**त्वम् एव असि**" की अनुभूति करता है—तू ही है, तेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, ऐसा वह सर्वत्र देखता है। यह साधन की चरमावस्था है, जो कि उस तत्त्वद्रष्टा योगी को उपलब्ध हुई है। इस अवस्था को प्राप्त होने वाले योगी को भगवान् ने गीता में सुदुर्लभ बताया है। इसकी प्राप्ति इतनी सुगमता से नहीं होती। संप्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुआ योगी अमितकाल तक ब्रह्मलोकादि दिव्य लोकों में निवास करता है, पुनः अनेकों बार इस भूमण्डल पर जन्मता और शरीर छोड़ता हुआ अन्त में परमात्मा में अपने सीमित अहं को पूर्णरूपेण समर्पित कर उससे युक्त हो, वह जो, जैसा, जिस महिमा वाला है, उसे विशिष्ट रूप से जान पाता है। उसे जानने के साथ ही वह स्वयं के अहं को उसमें लीन कर सर्वरूप में अभिव्यक्त हुए उस परमतत्त्व का ही दर्शन करता है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (गीता ७।१९)

''बहुत जन्मों के बाद तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुआ विज्ञानी सर्वरूप में वासुदेव ही है, इस प्रकार अनुभव कर मुझे समर्पित होता है, वह महात्मा इस संसार में सुदुर्लभ है।''

सर्वरूप में सर्वेश्वर की अनुभूति ही साधन का अन्तिम लक्ष्य है, साधक का अन्तिम प्राप्तव्य है। उस लक्ष्य को प्राप्त करने वाले के लिए मोह और शोक की कारणभूता अविद्या का ही सर्वथा अभाव हो जाता है, फिर ऐसी स्थिति में उसके लिए मोह कैसा और शोक कैसा? छान्दोग्य की श्रुति भी यही कहती है—''**तरति शोकं आत्मवित्**'' आत्मज्ञानी शोक से पार हो जाता है। अद्वैतानुभूति ही मोह और शोक से विमुक्त होने में कारण है, उसी को प्राप्त करना जीवमात्र का परम लक्ष्य है।

द्वैतभाव की जननी अविद्या है, अविद्या से ही अहं और अहं से ही मोह का जन्म होता है। यही मोह नाना प्रकार के शोकों को जन्म देता है। गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में मोह, लोभ, काम, क्रोध, मद-मत्सर, राग-द्वेष, चिन्ता-भय, ममता और शोकादि को अविद्या-माया का ही परिवार बताया है। वे कहते हैं—

यह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमिति को बरनै पारा ॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं । अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥
ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाषंड ॥

माया वा अविद्या क्या है जिससे इन समस्त दोषसमूहों का जन्म होता है? क्या इसकी कोई यथार्थ सत्ता है? यदि है तो वह स्वतन्त्र है वा परतन्त्र? यदि वह स्वतन्त्र है तो उससे छुटकारा मिलना सम्भव नहीं, और यदि वह परतन्त्र है तो किसके? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—अविद्या वा माया स्वतन्त्र नहीं है—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि ।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि ॥

वह अविद्या माया प्रभु की दासी है और यथार्थतः समझ लेने पर उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, वह मिथ्या है, भ्रान्तिमात्र है, किन्तु बिना भगवत्कृपा-प्रकाश के यह भ्रान्ति दूर नहीं हो पाती। भगवत्कृपा-प्रसाद से ही विज्ञानवान् साधक स्वयं को परिपूर्ण रूप से परमात्मा को समर्पित करता है। अपने सीमित अहं को उस असीम में विलीन कर सर्वत्र, सर्वरूप में वही प्रकट है—ऐसा अनुभव करता है। जब सीमित अहं ही नहीं रह जाता तो उससे उत्पन्न होने वाले मोह-शोक आदि समस्त दोषों के लिए स्थान ही कहाँ होगा? प्रभु-प्रदत्त विज्ञान के प्रकाश में अविद्या का ही अवसान हो जाता है। सीमित अहं वा अस्मिता अविद्या की ही सन्तान है; आगे इसी से अन्यान्य दोष उत्पन्न होते हैं। महर्षि पतंजलि कहते हैं—''**अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां**'' अस्मिता आदि

समस्त दोषों का मूल कारण अविद्या ही है। आत्मप्रसाद से उपलब्ध हुई ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रकाश में अविद्या के विनष्ट हो जाने पर उसका समस्त परिवार सदैव के लिए समूल समाप्त हो जाता है। उस अवस्था को प्राप्त हुए योगी की दृष्टि में लेशमात्र भी द्वैत शेष नहीं रह जाता। इसलिए श्रुति कहती है—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

पूर्व की अवस्था में आत्मा में सम्पूर्ण प्राणियों को और सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा को देखने की बात कही गई। उससे इस अवस्था को प्राप्त हुए योगी में भिन्नता यह है कि प्राणी-जगत् और परमात्मा यह द्वैतभाव अब नहीं रहा। आत्मा ही सर्वरूप में प्रकट हो गया है, ऐसी अखण्ड अनुभूति हो रही है। इसलिए इस मन्त्र में ज़ोर देते हुए **''आत्मा एव अभूत विजानतः''** ऐसा कहा गया है। **''एव''** शब्द इसमें विशेष महत्त्व का है। **''विजानतः''** शब्द भी यहाँ पर उस तत्त्वद्रष्टा की विशिष्ट स्थिति का संकेत कर रहा है। इसी स्थिति का संकेत करते हुए गीता के चौथे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से कहा है—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।। (गीता ४।३५)

''जिसको जानकर फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा, हे पाण्डव! जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को देखेगा और फिर मेरे में सम्पूर्ण भूतों को देखेगा। अभिप्राय यह कि मैं ही सम्पूर्ण भूतों के रूप में प्रकट हुआ हूँ, ऐसा अनुभव करेगा, देखेगा।'' क्योंकि—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। (गीता ७।७)

''मेरे सिवाय इस सृष्टि में किंचित् मात्र भी अन्य कुछ नहीं है।''

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । (गीता ७।६)

''मैं ही सम्पूर्ण विश्व के रूप में प्रकट होता हूँ और पुनः उसको स्वयं में आत्मसात् कर लेता हूँ।'' इसी सत्य की घोषणा करते हुए ऋग्वेद कहता है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । (श्वेता० ३।१५)

यह जो वर्तमान है, जो बीत गया है और जो आगे होने वाला है, यह सब-कुछ वह परमपुरुष परमात्मा ही है। इतना ही नहीं कि यह केवल शास्त्रीय घोषणा है। भारत में ऐसे अनेकों सन्त हो गये हैं और हैं भी जो इस परम सत्य की साक्षात् अनुभूति किए हैं और करते हैं। एक महान् महिला सन्त सहजोबाई अपनी अनुभूति का वर्णन करते हुए कहती है—

जब मैं थी तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
प्रेम गली अति साँकरी, जा में दुइ न समाँहि ।।

तू तू करती तू भई, मुझ में रही न हूँ ।
बारी तेरे नाम पै, जित देखूँ तित तू ।।

अपनी अनुभूति का वर्णन करते हुए परमहंस स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

न मैं बन्दा न खुदा था, मुझे मालूम न था ।
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था ।।

लययोग की समाधि की अवस्था में इस अनुभूति को मैंने एक पद में व्यक्त किया है—

अहा! दीखता है यह विश्व सभी, मुझ में है समाया सजाया हुआ ।
मिटी कल्पना सत्य असत्यमयी, जो सदा से रहा भ्रम छाया हुआ ।।
रहा मेरे सिवा कुछ और नहीं, जग जीव का भेद बनाया हुआ ।
स्वयं खेलता खेल खिलाड़ी बना, खुद खेल का कारण माया हुआ ।।

साधन की इस उच्चतम अवस्था में अद्वैत ही परम सत्य है—यह कल्पना में नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस उच्चतम अवस्था को प्राप्त करके ही योगी अक्षय सुख का भोक्ता बनता है। गीता के एक श्लोक में भगवान् ने इन दोनों अवस्थाओं का संकेत किया है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् । (गीता ५।२१)

बाह्य स्पर्श माने इन्द्रियाँ-मन आदि के द्वारा जो जगत् के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का अनुभव करता है और अन्तःकरण द्वारा इन विषयों के दिव्य रूप का उपभोग करता है, वे लौकिक और दिव्य दोनों प्रकार के भोग बाह्यस्पर्श ही कहे जाते हैं। इन बाह्य स्पर्शों से उत्पन्न होने वाले सुख से जो परे हो जाता है, अनासक्त हो जाता है, वही इन्द्रियातीत हो आत्मसुख की अनुभूति कर पाता है। बाह्य स्पर्शजन्य सुख पराश्रित है और आत्मसुख स्वाश्रित। आत्मसुख का अनुभव करने वाला योगी संप्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त हुआ योगी है। इससे उच्चतम अवस्था को प्राप्त होने वाले योगी के लिए भगवान् कहते हैं—

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते । (गीता ५।२१)

वह ब्रह्मयोगयुक्त साधक अक्षय सुख का अनुभव करता है। आत्मयोग में सबको आत्मा में और सबमें आत्मा को देखता है और ब्रह्मयोग में सब-कुछ आत्मा ही हो गया है, दूसरे शब्दो में आत्मा के सिवा और कुछ भी नहीं है, ऐसा अनुभव करता है। सृष्टि के प्रत्येक प्राणी और पदार्थ इन सभी रूपों में आत्मा ही प्रकट हुआ है—इस प्रकार की अखण्ड अद्वैतानुभूति जिसे प्राप्त हो गई है, उसके लिए मोह और शोकादि नहीं रह जाते। यहाँ प्रश्न होता है, क्या उसे जगत् की विभिन्नता और विचित्रता दिखाई ही नहीं देती? कहा—नहीं, दिखाई तो देती है किन्तु वह सब-कुछ उस आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में ही दीखती है। जैसे वर्तमान के वैज्ञानिक के लिए सृष्टि का

प्रत्येक पदार्थ ऊर्जा वा एनर्जी का ही अभिव्यक्त रूप है, जैसे वैज्ञानिक सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ परमाणुओं का ही संघात है, जैसे नमक का डला खारापन के सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार से तत्त्वद्रष्टा के लिए सर्वरूप में आत्मा के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। वह अनुभव करता है कि वह परम कारण-तत्त्व अविभाज्य है; उसे जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष आदि भागों में तत्त्वतः विभाजित नहीं किया जा सकता। अनन्त का विभाजन नहीं होता। सत्य का विभाजन नहीं होता। ज्ञान का विभाजन नहीं होता। सत्य, ज्ञान और अनन्त ही ब्रह्म है, वह ब्रह्म ही नाना रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। जैसे हम अनेकों प्रकार के मिष्टान्नों को देख सकते हैं किन्तु मिठास हमें दिखाई नहीं देती और यह परम सत्य है कि मिठास के अतिरिक्त मिष्टान्नों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एक सन्त का कथन है—

सभी खिलौना खँड में, खाँड खिलौना नाहिं ।
तैसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत है नाहिं ॥

आप लोगों को पहले भी इस विषय में बहुत से-उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है। जैसे हमारी आँखे एनर्जी को नहीं, परमाणुओं को नहीं, उनके संघात पदार्थों को ही देख सकती हैं, जैसे हम मिठास को नहीं केवल मिठाई को ही देख सकते हैं, जैसे हम ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को नहीं, पानी को ही देख सकते हैं, उसी प्रकार से हम आत्मा को नहीं, उसके अभिव्यक्त रूप जगत् के वैविध्य और वैचित्र्य को ही देख सकते हैं। हमारे देखने-मात्र से ही वा दिखाई देने-मात्र से ही किसी प्राणी और पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो जाती। कारण से भिन्न कार्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करना भ्रान्ति के सिवा और कुछ नहीं, यही वेदान्त का उपदेश है। जब तक विभिन्नता की भ्रान्ति है, तब तक शोक और मोह से मुक्ति नहीं मिल सकती। वेद का कथन है कि इस द्वैत के पीछे मूल में स्थित अद्वैत तत्त्व की अनुभूति करो, फिर तुम मोह और शोक से सदा के लिए विमुक्त हो जाओगे—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

जिन दर्शनों में प्रकृति और पुरुष की भिन्न रूप से विवेचना की गई है, वहाँ पर केवल सृष्टि की विविधता और विभिन्नता को समझाने की दृष्टि से ही ऐसे किया गया है। तत्त्वतः जल और तरंग, वाणी और अर्थ के समान ही प्रकृति और पुरुष अविभाज्य हैं। यदि यह कहा जाए कि एक ही तत्त्व के ये दो नाम हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वेद का कथन है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वेता० १।१२)

आत्मा-रूप में स्थित इस परम तत्त्व को ही नित्य जानना चाहिए, क्योंकि इससे श्रेष्ठ

जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता-जीव, भोग्य-पदार्थ और प्रेरिता-ईश्वर, इन तीनों को जानकर यह सब-कुछ जान लिया जाता है। इन त्रिविध रूपों में वर्णित हुआ परमतत्त्व ही ब्रह्म है। गीता में भी भगवान् ने अष्टधा प्रकृति और परा प्रकृति के नाम से दोनों प्रकार की अपनी ही अभिव्यक्तियाँ बताई हैं। इसको आप लोग और भी स्पष्ट रूप से समझ लें। एक ही तत्त्व अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव रूप से विराजित है। अधिदैव प्रेरिता है, अधिभूत भोग्य और अध्यात्म भोक्ता। जैसे प्रकाश प्रेरक है, रूप भोग्य तथा नेत्र भोक्ता। एक ही तेज-तत्त्व प्रकाश, रूप और नेत्र के रूप में प्रकट हुआ है। इन त्रिविध रूपों में तेज-तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। सांख्य की प्रकृति गुण है, पुरुष ज्ञान। यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि गुण सदैव ज्ञान के ही आश्रित रहता है। गुण और ज्ञान, ये दोनों ही अविभाज्य तत्त्व हैं। गुण को कभी भी ज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे अलग होते ही गुण का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। इनका भेद केवल वाचारम्भण मात्र है, तत्त्वतः नहीं। दूसरे शब्दों में, केवल व्यवहार की दृष्टि से ही इनकी भिन्न-भिन्न रूपों में विवेचना की जाती है; तत्त्वतः नहीं, क्योंकि ये दोनों एक ही परम तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं जो अचिन्त्य तथा अनिर्वचनीय है। यहाँ पर आप लोगों को एक बात और भी बता देना आवश्यक समझता हूँ। कुछ आचार्यों ने वेदान्त-प्रतिपादित तत्त्व की व्याख्या में सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय माया की उद्भावना की है। इस सृष्ट तत्त्व को माया-मात्र कह कर उसे मिथ्या घोषित किया है, किन्तु मुझे उपनिषदों में कहीं भी इस प्रकार के सिद्धान्त का दर्शन नहीं हुआ। उपनिषद् के ऋषि मायावादी नहीं, ब्रह्मवादी हैं। उपनिषद् में वर्णित माया मिथ्या वा भ्रान्ति नहीं, वह परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति है, जो सदैव उससे अभिन्न रहती है। श्वेताश्वतर की श्रुति स्पष्ट रूप से घोषित करती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(श्वेता० ४।१०)

माया तो प्रकृति को जानना चाहिए और मायापति महेश्वर को; उसी के अंगभूत कार्य-कारणरूप से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। अभिप्राय यह है कि माया और मायापति का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार से है जैसे सूर्य और उसकी प्रभा, समुद्र और उसकी तरंगें, वाणी और उसका अर्थ। इनमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। वह ब्रह्म स्वयं ही अनन्त नाम-रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। यह नाम-रूपात्मक जगत् बीज में निहित वृक्ष के समान सदैव उस ब्रह्म में स्थित रहता है। ब्रह्म से ही इसकी अभिव्यक्ति होती है, ब्रह्म में ही यह स्थित रहता है और अन्ततोगत्वा ब्रह्म में ही इसका लय हो जाता है। वेद की अनेकों ऋचाएँ इस सत्य की घोषणा करती हैं। मुण्डक की श्रुति

कहती है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम-रूपमन्नं च जायते ।। (मुण्डक० १।१।९)

जो सर्वज्ञ, सर्व का ज्ञाता, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परमात्मा से यह विराट् जगत् तथा नाम, रूप और अन्न आदि उत्पन्न होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में तो उस ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का सारा क्रम ही वर्णित किया गया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।।

(तैत्तिरीय० २।१)

इस श्रुति से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि यह जड़ चेतनात्मक जगत् उस अनन्त आत्मा की अंशाभिव्यक्ति है। इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने इस रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।। (गीता १०।४२)

"अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ।" ऋग्वेद की ऋचा भी इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को परमात्मा की अंशाभिव्यक्ति ही घोषित करती है— **'पादोऽस्यविश्वाभूतानि'**। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह विश्व ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। गोस्वामी तुलसीदास जी मानस में घोषणा करते हैं—

बिस्वरूप रघुबंसमणि करउ बचन बिस्वासु ।

लोक कल्पना वेद कर अंग अंग प्रति जासु ।।

इसके साथ ही एक बात और समझ लें कि जिस प्रकार से यह विराट् विश्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार से यह आपका अपना व्यक्तित्व भी उस ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। विराट् और व्यक्ति में केवल मात्रा का भेद है तत्त्व का नहीं। इसीलिए तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने "यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे" का सिद्धान्त घोषित किया है। जो कुछ पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है क्योंकि पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही प्रतिरूप है।

वर्तमान के कई विद्वानों ने पुरुषसूक्त में वर्णित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि के आधार पर राष्ट्र को ही विराट् पुरुष का स्वरूप बताया है क्योंकि राष्ट्र में ही इस प्रकार के सामाजिक विभाजन का दर्शन होता है। इसी आधार पर हमारे यहाँ पंजाब में प्रायः ग्राम को पिंड कहते हैं क्योंकि जो कुछ राष्ट्र में है, वही एक ग्राम में भी उपलब्ध होता है। जैसे तत्त्वतः राष्ट्र और ग्राम दोनों एक हैं; इनमें केवल सीमा का ही अन्तर होता है ठीक उसी प्रकार से पिण्ड और ब्रह्माण्ड भी तत्त्वतः एक हैं,

इनमें भी केवल सीमा का ही अन्तर है। जैसे ग्राम राष्ट्र का अविभाज्य अंग होता है उसी प्रकार से यह पिण्ड भी ब्रह्माण्ड का अविभाज्य अंग है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड इन दोनों शब्दों का प्रयोग व्यावहारिक है, पारमार्थिक वा तत्त्वतः नहीं। गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि हमारी सभ्यता, संस्कृति, समाज और धर्म की व्यवस्था में सर्वत्र इस ब्रह्म-विज्ञान का ही दर्शन होता है। व्यक्ति, ग्राम, राष्ट्र और ब्रह्माण्ड इनमें सर्वत्र समान रूप से एक ही प्रक्रिया दिखाई देती है। ब्रह्माण्ड का ही छोटा अंशरूप राष्ट्र, राष्ट्र का छोटा अंशरूप ग्राम और ग्राम का छोटा अंशरूप व्यक्ति है। व्यक्ति के शरीरमें अनेकों अवयव हैं। इन समस्त अवयवों को चार भागों में विभाजित किया गया है। मुख-कण्ठ से ऊपर का भाग, भुजा-कण्ठ से हृदय तक का भाग, उरु-उदर वा हृदय से जंघा तक का भाग, पाँव और जंघा से नीचे तक का भाग। इन चारों भागों में विभाजित अंगों के विशेष रूप से चार प्रकार के मुख्य कार्य हैं। ज्ञान का आदान-प्रदान तथा शरीर के प्रत्येक अंग के संचालन का कार्य प्रथम भाग का है। शरीर की सँभाल और सुरक्षा दूसरे भाग का। शरीर द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों को रसरूप में परिणत कर सम्पूर्ण अंगों को पहुँचाना तथा समान तत्त्व का उत्पादन तीसरे भाग का कार्य है। शरीर की समस्त अन्य गति-विधियों का कार्यभार चौथे भाग पर है। एक ही व्यक्तित्व के ये चारों अविभाज्य एवं अनिवार्य अंग हैं। इनमें किसी को तुच्छ वा कम महत्त्व का नहीं कहा जा सकता। जो व्यवस्था एक व्यक्ति के शरीर में है वही एक ग्राम, एक राष्ट्र के जीवन में भी देखी जा सकती है। हमारा शरीर अनेक प्रकार के कोषों का संघात है। शरीर के कोष भी चार प्रकार के बताए जाते हैं; जिनके द्वारा अनुभूति, रक्षा, वृद्धि और स्थिति की क्रियाएँ होती रहती हैं। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि शरीरगत कोषों की क्रियाओं के आधार पर शरीर के अंगों को चार भागों में विभाजित क़िया गया है। जिस अंग का जो काम है उसकी पूर्ति वही अंग कर पाता है दूसरा नहीं। मस्तिष्क और मुख का काम हृदय और हाथ नहीं कर सकता। हृदय और हाथ का काम उदर और उरु नहीं कर सकते। उदर और उरु का काम पाँव से नहीं होने वाला। शरीर की व्यवस्था के आधार पर ही योग्यता के अनुसार समाज में व्यक्तियों का विभाजन कर उनके लिए कर्तव्य निर्धारित किया गया है। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि यह सम्पूर्ण मानव समुदाय एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति है वा एक ही परमेश्वर की सन्तानें हैं, तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं है।

वर्तमान का विज्ञान बताता है कि पुरुष के एक बूँद वीर्य में लगभग पाँच अरब जीवाणु होते हैं और उनमें से एक जीवाणु नारी के अण्ड के साथ युक्त होकर गर्भ रूप में परिणत होता है। उसी के द्वारा सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि होती है। मुख, हाथ, उदर और पाँव, उस एक से ही निर्मित होते हैं और उस एक के ही अंग हैं। उस एक के व्यक्तित्व की पूर्णता इन समस्त अंगों से युक्त होने में ही निहित है, ठीक

उसी प्रकार से यह समाज, राष्ट्र वा ब्रह्माण्ड भी एक तत्त्व की ही अभिव्यक्ति हैं, विभिन्न रूपों में एक ही सत्ता सक्रिय है, इसमें सन्देह नहीं। अध्यात्मवादी समाज की रचना में यही दृष्टिकोण मूल आधार रहा है। यह समग्र रूप में ही पूर्ण कहा जाता है, इसके किसी भी अंश को अलग करके पूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे शरीर की पूर्णता में उसके सभी अंग समाहित होते हैं उसी रूप से समाज की पूर्णता में सभी वर्ण समाहित होते हैं, यही स्थिति राष्ट्र और ब्रह्माण्ड की भी है। उपनिषदों में विराट् पुरुष में चार वर्गों की उद्भावना की गई है और उसमें पृथ्वी को शूद्र के रूप में वर्णित किया है और ऋग्वेद की ऋचा पृथ्वी को विराट् का चरण बताती है। जैसे चरण के अभाव में व्यक्ति का व्यक्तित्व अधूरा होता है उसी प्रकार से पृथ्वी के अभाव में विराट् का अस्तित्व भी अधूरा ही होगा। समाज के व्यक्तित्व की कल्पना में शूद्र वर्ग का भी वही स्थान है। जिस प्रकार से एक ही शरीर के चार अंग अपनी-अपनी कार्यक्षमता के अनुसार शरीर की वृद्धि, सुरक्षा, स्थिति आदि में सदैव सक्रिय रहते हैं इसी प्रकार से समाज के सभी वर्ग के लोगों को राष्ट्र की वृद्धि, सुरक्षा, स्थिति आदि के लिए सक्रिय रहने का उपदेश दिया गया है।

वर्तमान की समाज रचना के मूल आधार वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त में कुछ भ्रान्तियाँ आ गई हैं, कुछ दोष आ गए हैं। उन भ्रान्तियों को दूर कर दोषों का भी निराकरण होना चाहिए। जैसाकि मैं पहले भी कई बार बता चुका हूँ कि हमारी संस्कृति, सभ्यता, समाज और धर्म इन सभी की संरचना में ब्रह्मविद्या वा वैदिक विज्ञान ही मूल आधार है। ब्रह्मविद्या की यह घोषणा है कि एक ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है, जैसाकि मैंने आप लोगों को कई प्रकार के उदाहरणों द्वारा समझाया है। जैसे एक ही जीवाणु से मुख, हाथ, उदर, पाँव आदि अभिव्यक्त होते हैं उसी प्रकार से एक ही परमात्मा से विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों का आविर्भाव हुआ है। समाज के चारों वर्ग भी एक ही पिता की सन्तानें हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनमें कोई छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच नहीं।जैसे किसी पिता के चार पुत्र हों। उनमें से एक अध्यापक, दूसरा सैनिक, तीसरा व्यापारी, चौथा श्रमिक हो जाए तो अपनी योग्यता की दृष्टि से उनका समाज में अधिकार वैभिन्न्य तो होगा किन्तु पिता की दृष्टि में वे चारों ही उसकी सन्तानें हैं और समान हैं। पारिवारिक दृष्टि से भी उनकी समान स्थिति होगी। यही दृष्टिकोण हमारी सामाजिक संरचना के मूल में कार्य करती रही है; किन्तु दुर्भाग्य से वर्तमान में ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ होने के कारण अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनका निराकरण ब्रह्मविद्या-विज्ञान, के प्रकाश द्वारा ही सम्भव है, इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं।

ये बातें मैं आप लोगों को इसलिए समझा रहा हूँ कि वेदान्त-प्रतिपादित अद्वैत-सिद्धान्त केवल वाग्-विलास के लिए ही नहीं, उसको आधार बनाकर तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने हमारे वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन-विधान की संस्थापना की थी और

एक-दूसरे के सहयोग से जीवन में पूर्णता की अनुभूति एवं प्रतिष्ठा का विधान बनाया था। वह विधान आज भी उतना ही उपयोगी और सार्थक है जितना कि अतीत में कभी था। आवश्यकता है उसको सही रूप से जानकर, समझकर व्यवहार में उतारने की। वर्तमान के पश्चिमी विचारकों ने सृष्टि के मूल में संघर्ष को हेतु माना है। उनका कथन है कि इस संघर्ष में जो सबल है वही स्वयं को सुरक्षित रख पाता है। व्यक्ति के जीवन से लेकर विश्व की समस्त गतिविधियों में उन्हें संघर्ष ही दिखाई देता है। यहाँ तक कि वे समझदार लोग स्त्री-पुरुष के संयोग में भी संघर्ष का ही दर्शन करते हैं। संघर्ष ही जीवन है और संघर्ष में ही विकास है—ऐसी उनकी मान्यता है; किन्तु ब्रह्मविद्या-विज्ञान के अनुसन्धानकर्ता मनीषियों ने संघर्ष में नहीं, सहयोग में ही सृष्टि का दर्शन किया है। जीवन की अभिव्यक्ति, स्थिति और उत्थान में उन्होंने सहयोग को ही कारण माना है। तत्त्वद्रष्टा कहता है कि सहयोग सदैव समानधर्मा तत्त्वों में ही हुआ करता है। सृष्टि की अनेकता के मूल में एक ही परमसत्ता कारण है, इसलिए तत्त्वतः सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणी और पदार्थ में समानधर्मा वह परम तत्त्व ही विद्यमान है। उसी के द्वारा प्रेरित हो सहयोग से सभी अभिव्यक्ति, स्थिति और विकास को प्राप्त हो रहे हैं। विघटन और विनाश भी विकास में गति की एक अवस्थाविशेष का ही नाम है। गीता में भगवान् ने इस सहयोगात्मक क्रिया-कलाप को यज्ञ शब्द से वर्णित किया और बताया है कि परमात्मा ने यज्ञ के साथ ही प्रजा का सृजन किया है। यज्ञ के द्वारा ही व्यक्ति अपने अभीष्ट की पूर्ति करता हुआ परम श्रेयरूप पूर्णत्व को प्राप्त कर कृतकृत्य होगा; इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। इससे आप लोग समझ गए होंगे कि यज्ञ वा सहयोगात्मक क्रियाएँ ही जीवन की पूर्णता में मुख्य कारण हैं। सहयोग से ही सृष्टि और उसका विकास होता है। स्त्री-पुरुष का सहयोग, जिसमें वे एक-दूसरे में स्वयं के अहं का विलय करते हैं, उससे ही सन्तान की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, शरीर के समस्त कोशों के सामूहिक सहयोग से ही शरीर में शक्ति और उससे कर्म की पूर्ति होती है। इसी प्रकार से सृष्टि में जहाँ भी कहीं निर्माण और विकास है उसमें संघर्ष नहीं, सहयोग ही कारण है। अध्यात्मवादी सामाजिक संरचना इसी सहयोगात्मक दृष्टिकोण पर ही प्रतिष्ठित है। जैसाकि मैंने पहले भी आप लोगों को बताया है कि प्रकृति और पुरुष के सहयोग से ही सृष्टि और उसका विस्तार होता है। गीता के १३वें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।। (गीता १३।२६)

"हे भरतश्रेष्ठ! इस सृष्टि में जो कुछ भी स्थावर और जंगम, चर और अचर, प्राणी और पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उस सम्पूर्ण को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सहयोग से ही उत्पन्न हुआ जान।" क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जिसे मैंने पहले आप लोगों को ज्ञान और गुण रूप में

बताया है, ब्रह्म की ही दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं। गुण सदैव ज्ञान के ही आश्रित रहता है, किन्तु ज्ञान गुण के बिना अभिव्यक्त भी नहीं हो सकता। जब भी, जहाँ भी ज्ञान प्रकट होगा, वह गुण के माध्यम से ही होगा। जैसे कि इस समय आप लोग मेरे द्वारा उपनिषद् की व्याख्या सुन रहे हैं और इसके द्वारा ज्ञान प्रकट हो रहा है, किन्तु इस ज्ञान के प्राकट्य में प्रवचनरूपी गुण ही माध्यम है। बोलना एक गुण है, अन्तर् के भाव को प्रकट करना एक गुण है, बिना इस गुण के ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता। ज्ञानी यदि गुण का सहारा न ले तो वह ज्ञान को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। बोलने में वाक्-इन्द्रिय ही कारण होती है जो गुण का परिणाम है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुण के द्वारा ही ज्ञान प्रकट होता है तथा गुण सदैव ज्ञान के ही आश्रित रहता है। गुण और ज्ञान दोनों एक ही सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीलिए मानस में गोस्वामी जी ने इन दोनों रूपों में अपने प्रभु श्री राम का दर्शन करते हुए कहा है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुगपानि ।।

जिस अवस्था में यह अनुभव हो जाए कि गुण और ज्ञान, जड़ और चेतन सर्वरूप में एक ही परमतत्त्व अभिव्यक्त हुआ है, उस अवस्था में द्वैत का अत्यन्ताभाव हो जाता है और अद्वैत-द्रष्टा मोह और शोक से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है। जैसाकि पहले आप लोगों को बताया जा चुका है कि **''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे''** जो कुछ पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और यह सभी कुछ उस एक आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। इसलिए श्रुति का यह कथन है कि—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

मोह और शोकयुक्त जीवन में ही दुःख और सुख का साम्राज्य होता है; जो इनसे विमुक्त हो जाता है वह सदैव सर्वत्र आनन्द की अनुभूति करता है। तैत्तिरीय की श्रुति कहती है—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति ।।

(तैत्तिरीय० २।४)

आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानने वाला तत्त्वज्ञ विद्वान् कभी किसी से भयभीत नहीं होता। भय सदा द्वैत में होता है। जिस विद्वान् ने ब्रह्म को जान लिया और समझ लिया कि अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप इन पाँचों भेदों में ब्रह्म ही अभिव्यक्त हो रहा है, उस एकत्व-द्रष्टा के लिए द्वैत नहीं रह जाता और वह सदैव, शोक, मोह, भय आदि दोषों से विनिर्मुक्त रहता हुआ अक्षय सुख वा परमानन्द का भोक्ता हो जाता है; यही इस मन्त्र का अभिप्राय है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी मोह और शोक के सन्ताप से सदा के लिए मुक्त होना चाहता है, किन्तु जब तक जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहेगा

तब तक इनसे छुटकारा पाना सर्वथा असम्भव है। जन्म और मृत्यु ये दोनों ही दुःख के कारण हैं, इसीलिए प्राणी सदैव इनसे भयभीत रहता है। आप लोग ज़रा कल्पना कीजिए, एक दिन ऐसा आयेगा जबकि यह जीवात्मा इस शरीर को छोड़ कर न जाने कहाँ, किस अवस्था को प्राप्त होगा। वे कुटुम्बी, वे सम्बन्धी, वे प्रियजन जिनका स्वल्पकाल का भी वियोग असह्य हो जाता है, वे कभी भी फिर नहीं मिल पायेंगे। भला सोचिए, यह कितनी भयानक स्थिति है किन्तु है यह सर्वथा सत्य और अपरिहार्य। जिसकी कल्पना इतनी डरावनी है, वह जब घटित होगी तो क्या होगा? यह तो रही मृत्यु की बात, इससे भी दुःखद स्थिति है मृत्यु के पश्चात् जन्म की।

महाभारत में एक कथा आती है। एक दिन भगवान् व्यासदेव चले जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा—एक कीड़ा बड़ी तीव्र गति से दौड़ता जा रहा है। उन्होंने कीड़े को देखकर पूछा—भाई! तुम इतनी तीव्र गति से क्यों दौड़े जा रहे हो, क्या बात है? कीड़े ने उत्तर दिया—ऋषिवर! यहाँ से बहुत दूर एक बैलगाड़ी आ रही है, उससे बचने के लिए ही मैं भाग रहा हूँ। सोचता हूँ कि ऐसा न हो कहीं मैं उसके नीचे आ जाऊँ। व्यासदेव ने पूछा—तुम्हें इस कीड़े के शरीर से इतनी आसक्ति क्यों है? यदि तुम उस गाड़ी के नीचे आ भी जाओ तो तुम्हें इस शरीर से छुटकारा मिल जाएगा। कीड़े ने कहा—मुझे मृत्यु का भय नहीं और न शरीर से ही आसक्ति है, किन्तु इस शरीर के छूट जाने के पश्चात् जो पुनः गर्भवास का दुःख भोगना पड़ेगा, उस भयानक स्थिति को याद कर मैं भयभीत हो जाता हूँ और चाहता हूँ कि जब तक उससे बचा जा सके तब तक ही ठीक है, इसलिए इस शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। कीड़े की इस बात को सुनकर भगवान् व्यासदेव ने करुणा करके उसे सद्गति प्रदान की। इस कहानी से आप लोग समझ गए होंगे कि मृत्यु और जन्म दोनों की ही कल्पना कितनी दुःखद है, किन्तु इस दुःखद चक्र में अनन्तकाल से ही यह जीव भटकता आ रहा है। इससे विमुक्त होने के लिए केवल एक ही उपाय है—मोह का नाश क्योंकि मोह ही जन्म-मरण का मूल है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ।

इस मोह का विनाश केवल विवेक द्वारा ही सम्भव है।

होइ बिबेक मोह भ्रमभागा । तब रघुबीर चरन अनुरागा ।।

सखा परम परमारथ ऐहू । मन क्रम बचन राम पदनेहू ।।

गोस्वामी जी कहते हैं, विवेक उदय होने पर मोह और भ्रम नष्ट हो जाते हैं और करुणानिधान भगवान् के चरणारविन्द में अनन्य अनुराग का उदय होता है। सर्वरूप में सदैव प्रभु का दर्शन करते हुए स्वयं के अहं को उनमें विलीन कर उनमें अनन्य अनुरक्ति ही जीवन का चरम प्राप्तव्य है।

जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जीव और जगत् के कारणरूप में स्थित

प्रभु की शरणागति स्वीकार कर यह निश्चय कर लेना कि हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ **''तवास्मि''**। यहाँ से साधन का प्रारम्भ होता है। सम्पूर्ण प्राणी प्रभु में हैं, प्रभु से हैं, इस अवस्था की अनुभूति **''त्वदेवास्मि''** के रूप में होती है। यह **संप्रज्ञात** समाधि की अवस्था है। इस अवस्था की दृढ़ता के पश्चात् पूर्ण प्रज्ञता को प्राप्त कर साधक **''त्वमेवासि''** 'तू ही है' की स्थिति को अनुभव करता है। इस स्थिति को प्राप्त हुए विज्ञानवान् योगी के विषय में ईशोपनिषद् का सातवाँ मन्त्र कहता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

इस मन्त्र की व्याख्या में आज आप सबको बहुत-सी बातें समझाई गई हैं। मुझे विश्वास है कि उनका मनन और चिन्तन करने से आप सभी शाश्वत सनातन धर्म की आधारभूता ब्रह्मविद्या की महत्ता और उसकी उपयोगिता को कुछ अंशों में समझ पायेंगे। आगे इस विषय में कल पुनः विचार किया जाएगा।

□□

१८

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

प्रभु का मंगलमय विधान आप सबके कल्याण का सृजन करे, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। कई दिनों से आप लोग ईशोपनिषद् की व्याख्या सुन रहे हैं। उसके सातवें मन्त्र की व्याख्या कल की गई थी, जिसमें यह बताया गया था कि साधक जब यह अनुभव कर लेता है कि सर्वरूप में परमात्मा ही विराजित हैं, उस अवस्था में वह अद्वैत-द्रष्टा मोह और शोक से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिए सर्वप्रथम साधक को स्वीकार करना होता है, मानना होता है कि इस दृश्य संसार से परे अवश्य ही कोई अदृश्य शक्ति है, जिससे यह जीव और जगत् अस्तित्व में हो अनुप्राणित हो रहा है, प्रकाशित हो रहा है, संचालित हो रहा है। ऐसा स्वीकार कर उसको जानने, देखने तथा उस तक पहुँचने की दिशा में साधना में अनुरक्ति होती है। यहाँ एक बात और समझ लेनी है कि जब तक हमारे जीवन में संसार से सुख और शान्ति प्राप्त करने की सम्भावना रहती है, तब तक उस अज्ञात तथा अदृश्य परमात्मा की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। जब हम चारों तरफ से निराश हो जाते हैं, संसार के भय से, दुःख से बचने के लिए कहीं कोई उपाय दिखाई नहीं देता, उस अवस्था में हम सुने हुए प्रभु में आस्था करते हैं। जब तक देखा हुआ, जाना हुआ, भोगा हुआ जगत् हमारे लिए सुख और सुविधा का साधन बना रहता है, तब तक सुने हुए परमात्मा में आस्था नहीं होती। इसे आप लोग फिर से अच्छी प्रकार समझ लें।

संसार, शरीर व इसके सम्बन्धी आपके देखे हुए, जाने हुए हैं। जबतक इनसे रस मिलता रहेगा, इनसे सुख की सम्भावना बनी रहेगी, तब तक इनसे विरक्ति और केवलमात्र शास्त्र और सत्पुरुषों के द्वारा सुने हुए प्रभु में अनुरक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इस दृश्य जगत् में तथा जगत् के सम्बन्धियों में एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। क्षणिक ही क्यों न हो, उनके द्वारा मिलने वाले सुख से आप परिचित हैं, इसलिए वह बार-बार आपको उनकी तरफ ही खींचता है, ले जाता है। भुक्त-भोग की स्मृति आपके इस लगाव में कारण होती है। उसके साथ ही जिन पदार्थों को प्राप्त नहीं कर सके, जिन विषयों का आपने उपभोग नहीं किया किन्तु वे दूसरों के पास हैं, दूसरों को उनका भोग करते हुए देखा है, सुना है, उस अप्राप्त भोग की आकांक्षा भी आपको

उसकी प्राप्ति के लिए संसार की तरफ प्रवृत्त करती है। भुक्त भोग की स्मृति और अभुक्त भोग की आकांक्षा, ये दोनों ही मनुष्य के हृदय में जगत् के प्रति आकर्षण पैदा करते हैं और उस आकर्षण के कारण ही रातों-दिन दुनिया की दौड़ में वे लगे रहते हैं। जिस समय संसार की दौड़ से वह हार जाता है, थक जाता है, जब कहीं से, किसी भी प्रकार से, किसी के द्वारा उसे अभाव की पूर्ति और तृप्ति की सम्भावना नहीं रह जाती, तब वह दृश्य जगत् से निराश होकर अदृश्य प्रभु की शरण स्वीकार करने के लिए तत्पर होता है। यह बात याद रखें जब तक भुक्त भोग की स्मृति और अभुक्त भोग की आकांक्षा बनी हुई है तब तक कोई भी व्यक्ति परमात्मा को जानने, देखने और प्राप्त करने की साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

शास्त्र का कथन है कि जो लोग विषयासक्त हैं उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करना अनावश्यक है, क्योंकि उनमें उसे ग्रहण करने की पात्रता नहीं होती। विषयासक्त व्यक्ति इस प्रकार के कार्य में प्रवृत्त होने के लिए कभी भी तैयार नहीं हो सकता जिससे देखे हुए, जाने हुए भोगों की उपलब्धि की सम्भावना न हो। शास्त्र कहता है जब तक व्यक्ति में मुमुक्षा की जागृति न हो, जब तक वह उपरति, तितिक्षा आदि षड्सम्पत्ति-सम्पन्न न हो, तब तक उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देना व्यर्थ ही नहीं बल्कि अहितकर भी होता है। यदि कोई व्यक्ति संसार के दुःख से भयभीत है, उसे संसार में रक्षा का कोई उपाय दिखाई नहीं दे रहा, ऐसी अवस्था में यदि वह किसी संत वा विद्वान् के पास जाता है तो उसे अज्ञात ईश्वर की महिमा सुनाकर उसकी ओर प्रेरित कर उसके शरणापन्न हो उपासना करने की सीख देना अनुचित नहीं। इससे लाभ यह होगा कि वह भय से मुक्त होने के लिए ही सही, ईश्वर की आराधना में प्रवृत्त तो हो जाएगा। दुःखी और भयत्रस्त व्यक्ति को किसी सबल के आश्रय की आवश्यकता होती है। ईश्वर से अधिक सबल की कल्पना ही असम्भव है, अतः ऐसे व्यक्ति को ईश्वर की उपासना से बल और राहत दोनों ही प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनकी आकांक्षा बहुत बड़ी होती है, अपनी योग्यता और सामर्थ्य से उसकी पूर्ति में वे स्वयं को असमर्थ पाते हैं, ऐसी स्थिति में वे एक ऐसे सहायक की तलाश करते हैं जो दया करके उनकी आकांक्षा को पूर्ण करने में सहयोगी हो सके। ऐसे व्यक्तियों के लिए भी भगवान् के अतिरिक्त और कोई दूसरा सहायक नहीं है। उन लोगों को भी ईश्वर में आस्था और ईश्वर की उपासना में प्रवृत्त कर देना एक पुनीत कार्य है। पहली अवस्था वाले व्यक्ति को आर्त कहते हैं और दूसरी अवस्था वाले व्यक्ति को अर्थार्थी। एक भय और दुःख से मुक्त होना चाहता है और दूसरा इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। इन दोनों के जीवन का लक्ष्य परमात्मा नहीं, परमात्मा तो केवल उनके दुःख की निवृत्ति और इच्छा की पूर्ति का माध्यममात्र होता है। वे मोक्ष नहीं चाहते, तत्त्व-बोध नहीं चाहते, परमात्मा की अनुरक्ति वा प्राप्ति नहीं

चाहते; उनके जीवन का लक्ष्य होता है विपत्ति से मुक्त होना या अप्राप्त को प्राप्त करना। इन्हीं के लिए वे भगवान् की शरण लेते हैं और उसकी उपासना, आराधना और सुमिरन करते हैं। गीता में भगवान् ने ऐसे लोगों को भी सुकृति, उदार और अपना भक्त कहा है। प्रभु कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। (गीता ७।१६)

"हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकार के लोग मेरे को भजते हैं।" इनमें—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

"वे सब ही उदार हैं किन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मेरा मत है।" अभिप्राय यह कि दुःख-निर्वृत्ति तथा अर्थ की कामना से किसी भी प्रकार से भगवान् की आराधना, उपासना करने वाला व्यक्ति सुकृति और उदार है। भगवान् में दृढ़ आस्था होने से ही वे दुःख-निर्वृत्ति और कामना-पूर्ति के लिए उनकी शरणागति स्वीकार किए हैं। यदि कोई स्वार्थ-पूर्ति के लिए परमात्मा का आश्रय लेता है तो यह कोई घटिया बात नहीं है। वह इसी प्रकार से धीरे-धीरे भगवद् भाव से भावित होता हुआ उस परम रक्षक और दाता को तत्त्वतः जानने, समझने, देखने और उसे प्राप्त करने के लिए भी उत्कण्ठित हो प्रयत्नशील हो जाएगा। स्वार्थ-पूर्ति की आस्था उसे एक दिन परमार्थ की दिशा में अवश्य ही प्रेरित करेगी।

जैसाकि मैंने पहले भी बताया है **"तवास्मि"** की भावना ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास की प्रतीक है और दृढ़ विश्वास ही उस परमतत्त्व को प्राप्त करने का मूल आधार है। इसलिए आज यदि कोई दुःख और कामना से पीड़ित हो प्रभु की आराधना में निरत है तो कल वह उन प्राप्तव्य पदार्थों की निःसारता को समझकर उस परमतत्त्व को प्राप्त करने की साधना में भी अनुरक्त हो सकता है। यह आर्त और अर्थार्थी की अवस्था जगत् से हारे हुए और निराश लोगों की अवस्था है। किन्तु जो अभी इस स्थिति को प्राप्त नहीं हुए हैं, जिन्हें अभी ऐसी आशा है कि संसार के हितैषी, मित्र और सम्बन्धी उनकी दुःख-निवृति और अभाव की पूर्ति में सहायक होंगे, उन लोगों के जीवन में सुने हुए प्रभु के प्रति अडिग आस्था उत्पन्न नहीं होती और न ही वे उस अज्ञात परमात्मा का आश्रय ही स्वीकार करते हैं। भगवान् ने स्वयं इस सत्य का उद्घाटन किया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। (गीता ७।३)

"हज़ारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्धों में कोई एक मेरे को तत्त्वतः जान पाता है।" इससे यह बात स्पष्ट हो

जाती है कि उस परमतत्त्व को जानने, प्राप्त करने की दिशा में प्रवृत्त होना कोई सामान्य बात नहीं है। सब्ज़ी, कपड़े, मिठाई आदि के बाज़ार में आपको भीड़ मिल सकती है, किन्तु हीरे के बाज़ार मे आपको भीड़ नहीं मिलेगी। जंगल में, झुण्ड में, हिरण, खरगोश, गीदड़ आदि जानवर तो मिल जाएँगे, किन्तु सिंहों का झुण्ड नहीं मिलेगा। सन्त कबीरदास जी कहते हैं—

सिंहन की लेहड़ी नहीं, संत न चलहिं जमात ।

जिस प्रकार से शेरों का झुण्ड नहीं होता उसी प्रकार सन्तों की जमात भी नहीं होती। अभिप्राय यह कि अनेक जन्मों के सुकृत से ही परमातमा में आस्था होती है। गोस्वामी जी ने मानस में लिखा है—

अति हरि कृपा जाहि पर होई । पाउँ देइ एहिं मारग सोई ॥

जिस पर प्रभु की कृपा होती है वही इस रास्ते पर पाँव रखता है। संसार में बहुत-से ऐसे लोग मिलेंगे जो दीनता, दरिद्रता, शोक-संताप से संतप्त होते हुए भी संसार में ही निरत रहते हैं। ऐसे लोगों की अवस्था को देखकर उनकी दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी विनय-पत्रिका में कहते हैं—

महामोह-सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यो ।
श्री हरिचरन-कमल नौका तजि फिरि फिरि फेन गह्यो ॥
अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकर्‌यो ।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष धर्‌यो ॥

(वि० प० ९२)

महामोह रूपी अपार नदी में डूबते-उतराते हुए बहे जा रहे हैं, किन्तु उससे पार होने के लिए भगवान् के श्रीचरण-कमलरूपी नौका का त्याग कर बार-बार नदी के फेन को ही पकड़कर उससे पार होना चाहते हैं। अभिप्राय यह कि सम्बन्धियों के सहारे मोह-रूपी नदी को पार करने का प्रयत्न सर्वथा निरर्थक है। संसार के विषयों के प्रति अनुरक्ति और उसकी प्राप्ति में मिलने वाला सन्तोष ठीक उसी प्रकार का है जैसे कोई भूखा श्वान पुरानी हड्डी को चबाता हुआ अपने तालु से निकलने वाले रुधिर को पान कर मन ही मन सन्तुष्ट होता है। अनेक प्रकार की यातनाओं को सहते हुए भी मंनुष्य संसार से विरत हो परमात्मा में अनुरक्त होने की दिशा में प्रवृत्त नहीं हो पाता। इसीलिए प्रभु ने अपने आर्त और अर्थार्थी उपासक को सुकृति कहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि परम तत्त्व की प्राप्ति की दिशा में आस्थायुक्त हो प्रेरणा करने वाला हज़ारों में कोई एक होता है, किन्तु जो इस राह पर चल पड़ते हैं उनका प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में स्वयं इसकी घोषणा की है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। (गीता २।४०)

परमात्मा की अनुभूति की लालसा लेकर साधन में प्रवृत्त हुए साधकों के अभिक्रम का कभी नाश नहीं होता और न ही उसका उलटा परिणाम ही होता है। इस धर्म का थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भय से उद्धार कर देता है। आरम्भ का नाश न होने का अभिप्राय है कि यदि साधक प्रभु प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त हुआ और लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व ही उसका शरीर छूट गया और वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सका तो उसका यह साधन व्यर्थ नहीं जाएगा। दूसरा शरीर प्राप्त करते ही उसे पूर्व के संस्कारों से उसी प्रकार की पुनः सात्त्विक बुद्धि प्राप्त हो जाएगी और वह अपने साधना-पथ पर अग्रसर हो जाएगा। भगवान् का कथन है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। (गीता ६।४३)

इससे यह सिद्ध होता है कि साधक ने एक जन्म में जितना रास्ता तय किया है दूसरे जन्म में वह वहीं से उससे आगे बढ़ेगा और इसी प्रकार से एक नहीं, अनेक जन्मों में धीरे-धीरे प्रयत्न करता हुआ परमगतिरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेगा। प्रभु कहते हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। (गीता ६।४५)

अनेक जन्मों के प्रयत्न से सम्यक् प्रकार से चित्तशुद्धिरूपी सिद्धि को प्राप्त हुआ प्रयत्नशील, अभ्यास में निरत रहने वाला योगी सम्पूर्ण दोषों से, पापों से रहित होकर साधन के प्रभाव से परमगतिरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। नवें अध्याय में भगवान् ने कहा है—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति । (गीता ९।३१)

"हे अर्जुन! यह निश्चय तू जान ले कि मेरे भक्त का कभी नाश नही होगा।" क्योंकि इस परम भागवत धर्म का किंचित् मात्र भी अनुष्ठान उसे महान् भय से बचा लेगा।

इस विवेचन से यह बात समझ में आ गई होगी कि उस परमतत्त्व को जानने, समझने, देखने की साधना में प्रवृत्ति सभी के लिए सुगम नहीं; वह बहुत जन्मों के पुण्यों के परिणाम से ही मनुष्य में जागृत होती है। सत्संगति ही समस्त सुकृतों का फल है। दुनिया में जितने शुभकर्म, सत्कर्म हैं, उन सबका सार-सर्वस्व है सत्पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करना। गोस्वामी जी कहते हैं—

सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।।

मनुष्य स्वभावतः पापी वा पुण्यात्मा नहीं होता। जिस प्रकार का संग उसे प्राप्त होता है वैसी ही उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। सुसंगति से सत्कर्म में प्रवृत्ति और उसके परिणाम

में परमात्मा में अनुरक्ति जिसे प्राप्त हो गई है, वह सुने हुए प्रभु के प्रति दृढ़ आस्था रखते हुए उसके आश्रित हो, उसे जानने, देखने और प्राप्त करने की साधना में निरत हो जाता है और एक दिन परम सिद्धिरूप उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है जहाँ सर्वत्र सर्वरूप में उसे प्रभु की ही दिव्य झाँकी प्राप्त होती है। उस परम सिद्धि को प्राप्त हुए विज्ञानवान् तत्त्वद्रष्टा की स्थिति का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

श्रुति-प्रतिपादित इस अद्वैतात्मानुभूति की अवस्था को प्राप्त करने की पूर्ण विधि का विवेचन भगवान् ने गीता के १८वें अध्याय के ५१वें से लेकर ५५वें श्लोक तक पाँच श्लोकों में किया है जिसका विवेचन आप लोगों को मेरी 'गीतातत्त्व बोध' नामक पुस्तक में पढ़ने को मिलेगा। उस साधन-प्रक्रिया को भगवान् ने विशुद्ध बुद्धि का मुख्य आधार बताया है। विशुद्ध बुद्धि का अभिप्राय है सात्त्विक बुद्धि। गीता के १८वें अध्याय में तीन प्रकार की बुद्धि का विवेचन किया है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। तमोगुणी बुद्धि अनर्थ को ही अर्थ समझकर उसे प्राप्त करने में प्रवृत्त होती है; वह सम्पूर्ण अर्थों में विपरीत बोध ही रखती है। तामसिक बुद्धि ही योगशास्त्र में विपर्यय बुद्धि के नाम से कही गई है। आचार्य पतंजलि कहते हैं—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । (यो० सू० १।८)

विपर्यय वह बुद्धि-वृत्ति है जिसमें मिथ्या ज्ञान होता है। जो पदार्थ जिस रूप में है उसको बिल्कुल विपरीत रूप में देखती और जानती है। यही विपर्यय बुद्धि अविद्या के नाम से भी कही जाती है। आचार्य पतंजलि ने कहा है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।
(यो० सू० २।५)

जिससे अनित्य में नित्य की, अपवित्र में पवित्रता की, दुःखमय में सुख की और अनात्मा में आत्मा की ख्याति हो, बोध हो, उस बुद्धि-वृत्ति को ही अविद्या कहते हैं। इस प्रकार के विपरीत अर्थ वाली तामसिक बुद्धि से युक्त व्यक्ति परमात्मा की प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त नहीं होता। दूसरी रजोगुणी बुद्धि है जो कि सदैव सन्देहयुक्त हुआ करती है। वह किसी भी अर्थ को सही रूप में निश्चय नहीं कर पाती। इसकी व्याख्या करते हुए भगवान् कहते हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। (गीता १८।३१)

जिस बुद्धि द्वारा धर्म और अधर्म तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को मनुष्य यथावत् नहीं जान पाता, वह बुद्धि राजसी है। राजसिक बुद्धि वाला कभी भी आस्थावान् तथा दृढ़-

निश्चयी नहीं हो पाता। अस्थिर चित्त से कभी भी, किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती, इसलिए राजसिक बुद्धि वाला व्यक्ति भी परमतत्त्वानुभूति की साधना का अधिकारी नहीं। साधन में केवल सात्त्विक बुद्धि ही उपयोगी कही गई है, क्योंकि भगवान् कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।

(गीता १८।३०)

जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन और मोक्ष, इनके भेदों को अच्छी प्रकार यथार्थ रूप से जानती है, वही सात्त्विक बुद्धि है। सात्त्विक बुद्धि के लिए ही भगवान् ने—"**बुद्ध्या विशुद्धया युक्त**" कहकर साधक की साधना में प्रवृत्त होने की स्थिति का संकेत किया है। बुद्धि का हमारे जीवन में श्रेष्ठतम स्थान है। कठोपनिषद् में आत्मारूपी रथी को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने वाले सारथी के रूप में इसकी महत्ता का वर्णन किया गया है और बताया गया है—विज्ञानवान् बुद्धि ही कुशल सारथी के समान इन्द्रियरूपी घोड़ों को मनरूपी लगाम के द्वारा सही रास्ते पर ले-चलने में सक्षम होती है। गीता के १७वें अध्याय में भगवान् ने बुद्धि के अनुसार ही व्यक्ति की श्रद्धा का विवेचन किया है और बताया है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वही है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः । (गीता १७।३)

प्रश्न यह होता है कि यह सात्त्विक विशुद्ध बुद्धि किस प्रकार से प्राप्त की जाए? इसके उत्तर में छान्दोग्य की श्रुति कहती है—"**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि**" आहारशुद्धि से ही सत्त्व यानी बुद्धि की शुद्धि होती है। यह मैं पहले भी बता चुका हूँ कि हम अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सातों से जो कुछ भी ग्रहण करते हैं वह आहार है। जब तक सावधानी के साथ अपने आहार को शुद्ध नहीं बनाते, तब तक विशुद्ध बुद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती। आजकल ऐसे अनेक तथाकथित योगी मिलेंगे जो लोगों के आहार-विहार की शुद्धि की उपेक्षा करते हुए योग-साधन की सीख देते हैं। उनका कथन है—आहार-विहार चाहे जैसा भी हो, यदि मेरी बताई हुई विधि से साधना करो तो परमसिद्धि मिल जाएगी। खाओ-पीओ, संसार के समस्त भोगों को भोगते हुए तुम योगी बन सकते हो। वर्तमान के कुण्ठाग्रसित लोगों के लिए इससे सुगम और सुखद आश्वासन क्या हो सकता है! यही कारण है कि इस प्रकार के योगियों के पास बहुसंख्या में लोग एकत्रित हो जाते हैं और परमसिद्धि की भ्रान्त धारणा में समय, शक्ति, सम्पत्ति और अमूल्य जीवन भी खो देते हैं। ब्रह्मविद्या-विज्ञान के ज्ञाता तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने आहार-विहार की शुद्धि को परमार्थ की साधना में प्रथम स्थान दिया है। आचार्य पतंजलि के योगविज्ञान का मन्दिर यम-नियम की नींव पर ही खड़ा किया गया है। भगवान् ने गीता में भी योगाभिलाषी के लिए कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। (गीता ६।१७)

समस्त दुःखों को समूल नष्ट करने वाला योगयुक्त आहार और विहार करने वाले का, कार्य-कर्मों में युक्त चेष्टा करने वाले का, युक्त सोने वा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। समस्त त्रिकालज्ञ ऋषियों तथा स्वयं भगवान् के आदेश की अवहेलना करके परमार्थ के पथिक के लिए यथा-रुचि आहार-विहार के साथ सिद्धि को प्राप्त करने की सीख देने वाले तथाकथित योगियों, गुरुओं और शास्त्रबोध से अनभिज्ञ उनके अन्धे अनुयायियों की क्या गति होगी? ऐसे लोगों के लिए ही मुण्डक की श्रुति कहती है—

जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।(मु० १।२।८)

वे मूढ़ लोग बार-बार संसार के आघात सहन करते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के द्वारा चलाए जाने वाले अन्धे। मेरी राय है कि भले ही थोड़े लोग परमार्थ की दिशा में प्रवृत्त हों, किन्तु सीख उन्हें सही और शास्त्रसम्मत ही देनी चाहिए। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि सभी मनुष्य अभी इसी जन्म में परमसिद्धि के पात्र बन जाएँ। अपनी चित्त की स्थिति के अनुसार ही व्यक्ति में सत्य और साधन के प्रति जिज्ञासा जागृत होती है। गीता के १७वें अध्याय में त्रिविध श्रद्धा का विवेचन करते हुए यही समझाया है और तीन प्रकार की बुद्धियों के विवेचन का भी यही अभिप्राय है कि व्यक्ति स्वयं अपनी बौद्धिक अवस्था को समझकर तदनुसार अपने लिए प्राप्तव्य का निश्चय करे। परमतत्त्व के अभिलाषी के लिए आहार-विहार की शुद्धि अति आवश्यक है। इससे उसे सात्त्विक बुद्धि प्राप्त होगी और सात्त्विक बुद्धि के द्वारा ही वह जीवन के सर्वस्व को प्राप्त करने में कुशलता से निरत हो सकेगा।

यहाँ पर एक बात और समझ लें कि जब मैं साधक के लिए विशुद्ध बुद्धि की बात कहता हूँ तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि अशुद्ध आहार करने वाले के पास बुद्धि होती ही नहीं। क्या वह चोर, जो ताला तोड़ने में कुशल है, बुद्धि नहीं रखता? क्या वह जासूस, जो गुप्त भेदों का भी पता लगा लेता है, बुद्धि नहीं रखता? क्या वे ठग, चोरबाज़ारी करने वाले व्यापारी, दुनिया को वाग्जाल में फँसाकर अपने स्वार्थ सिद्ध करने वाले नेता, ये सभी बुद्धिमान् नहीं? अभिप्राय यह कि बुद्धि तो उन सभी के पास है। दुनिया के विनाश के लिए ज़िन्होंने न्यूटन बम्ब ऐसे घातक अस्त्रों का निर्माण किया है, पृथ्वी से लेकर चन्द्रलोक की दूरी जिन्होंने नाप ली है, वे सभी बुद्धि के धनी हैं; किन्तु उनकी बुद्धि सात्त्विक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। दूषित आहार-विहार के परिणाम में प्राप्त हुई दूषित बुद्धि का ही यह प्रभाव है कि वे लोग सही रूप में हित और अहित का विचार नहीं कर पाए। प्राप्त योग्यता का जीवन के विकास में नहीं, बल्कि विनाश में ही प्रयोग किए हैं; जनकल्याण में नहीं, सर्वनाश के साधनों में ही उनकी बुद्धि कारगर रही है। सांसारिक सुख-सुविधा को जीवन का

सर्वस्व मानकर उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न अयथार्थ बुद्धि का ही परिणाम है। यह विद्यामय बुद्धि नहीं, अविद्यायुक्त बुद्धि ही कही जाएगी। जो लोग सदैव करुणा से पूरित हो जनकल्याण के लिए प्राप्त सामर्थ्य का प्रयोग करते हैं, वे ही सात्त्विक बुद्धि के धनी हैं। जो जीवन के परम लक्ष्य-स्वरूप परमतत्त्व को जानने, देखने और पाने के लिए प्रतिपल साधना में निरत रहते हैं, उनकी बुद्धि सात्त्विक है। इस सम्बन्ध में गीता के दूसरे अध्याय में स्वयं भगवान् ने १८ श्लोकों में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षणों का वर्णन किया है जिसका वृहद् विवेचन स्थितप्रज्ञ दर्शन में किया गया है।

मैं समझता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य की अपेक्षा स्वयं के विषय में अधिक जानता है, इसलिए अपनी आन्तरिक स्थिति का उसे स्वयं निरीक्षण करना चाहिए। अपनी अवस्था के अनुसार ही साधन में प्रवृत्त होने से सफलता प्राप्त होती है। जैसांकि मैंने पहले बताया है—सामान्य अवस्था में रहने वाले व्यक्ति के लिए भगवत्-शरणागति का मार्ग सदैव प्रशस्त होता है। किसी भी प्रकार की चाह से प्रेरित हो प्रभु की शरण स्वीकार कर उनकी उपासना, आराधना करते हुए स्वयं में सात्त्विक संस्कारों की वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार से धीरे-धीरे उसमें सतोगुण की वृद्धि होने से सात्त्विक आहार-विहार तथा उनके परिणाम में सात्त्विक बुद्धि की उपलब्धि सुगमता से हो जाएगी, फिर वह परमतत्त्व को जानने की जिज्ञासा से उस ज्ञान की परानिष्ठा को प्राप्त करने के लिए साधन में प्रवृत्त हो जाएगा।

यदि अभी ऐसी चाह जागृत नहीं हुई है, सुने हुए प्रभु में आस्था का उदय नहीं हुआ तो घबराने की बात नहीं। जीवन में जो धर्मसंगत कर्त्तव्य जानता और समझता है, उसी में प्राप्त सामर्थ्य का प्रयोग करना चाहिए। जैसे अब तक अनेक जन्म बीत गए हैं, ऐसे ही दो-चार जन्म और भी सही। यदि अनास्था से किसी प्रकार की साधना में समय और शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो वह सर्वथा निरर्थक होता है। भगवान् का कथन है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। (गीता १७।२८)

बिना श्रद्धा के हवन, दान, तप और जो कुछ भी कर्म किया जाए वह 'असत्' ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार के कर्मों से, श्रद्धाहीन साधनों से न तो इस लोक में और न मृत्यु के पश्चात् ही कुछ प्राप्त होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य गर्भवास में प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! हमें इस यातना से आप मुक्त कर दें, अब बाहर जाकर आपकी भक्ति में ही सदैव निरत रहूँगा। परमात्मा की प्रार्थना से गर्भवास के दुःख से विमुक्त होकर बाहर आते ही वह मोह जाल में धीरे-धीरे इस प्रकार से उलझ जाता है कि प्रभु से की हुई प्रतिज्ञा उसे कभी याद ही नहीं आती। यदि कभी कहीं सत्संग में जाने पर

सद्भाव का उदय भी होता है तो शरीर के सम्बन्धी अपनी स्वार्थ-सिद्धि की कामना से उसे अनेक प्रकार की मधुर बातों के द्वारा कर्त्तव्य और धर्म की दुहाई देकर संसार में ही रत रहने को विवश कर देते हैं और वह एक के बाद दूसरे कर्त्तव्य की पूर्ति की कल्पना में सम्पूर्ण जीवन समाप्त कर देता है। परिणाम में पुनः उसी जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिजन्य दुःखों की यातना में जा गिरता है। सुख की घड़ियों में वह स्वयं को ही सब कुछ समझ लेता है, सुख में भागीदार होने वाले सगे सम्बन्धी-मित्र उसे घेरे रहते हैं। ऐसी स्थिति में उसे इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि यह सोच सके कि जब कभी दुःख की घड़ी आएगी तो उसके लिए वह कौन-सा साधन अपनाएगा। जिनके मोहजाल में पड़कर मनुष्य शोक-सन्ताप का भाजन बनता है, वे कोई भी उसके विपत्ति के समय में काम नहीं आते। नीति-शास्त्र का एक श्लोक है—

धनानिभूमौ पशवश्च गोष्ठे नारिगृहद्वारे सखाश्मशाने ।
देहश्चितायां परलोक मार्गे कर्मानुगो गच्छति जीवमेक ।।

सम्पूर्ण जीवन की कमाई, सुख-साधन और सम्पत्ति इस पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं और इसी पर रह जाएँगे। पशु आदि पशुशाला में बँधे होंगे, प्राणवत् प्रिय पत्नी घर के दरवाजे तक ही रह जाएगी, मित्रगण श्मशान तक साथ देंगे और यह शरीर, जिसके नाते संसार के मोहचक्र में भटकते रहे, वह चिता की अग्नि में भस्म हो जाएगा और इस जीव के साथ केवल उसके किए हुए शुभ और अशुभ कर्म ही अनुगामी होंगे। इसलिए जब, जिस समय, जिस स्थिति में जगत् की असारता का बोध हो जाए, तभी से भगवत्-शरणागति स्वीकार कर उनकी आराधना में निरत हो जाना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीव को इस संसार में कोई नया दुःख मिलने वाला नहीं है। यहाँ जितने दुःख हैं उनको वह एक नहीं, अनेक बार भोग चुका है। इसलिए वह इस प्रकार के दुःखों को भोगने का अभ्यस्त हो चुका है। यही कारण है कि अनेक प्रकार की यातनाओं को सहते हुए भी वह इस संसार-चक्र से मुक्त होने के लिए सही दिशा में प्रयत्नशील नहीं होता। वैष्णव-शिरोमणि श्री स्वामी यामुनाचार्य जी कहते हैं—

अभूतपूर्वं मम भाविकिं वा सर्वंसहेमे सहजं हि दुःखम् ।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तोऽनुरूपः ।।

"हे प्रभो! इस संसार में कोई ऐसा नया दुःख प्राप्त होने वाला नहीं है; जितने प्रकार के दुःख हैं उनको मैं अनेक बार सह चुका हूँ। गर्भ की यातना, मृत्यु की पीड़ा, रुग्णावस्था की दुर्गति और वृद्धावस्था का सन्ताप, ये सब-कुछ मैंने एक बार नहीं असंख्य बार सहे हैं, इसलिए ये सभी मेरे लिए अब सहज हो गये हैं। किन्तु प्रभो! जब मैंने आपकी शरणागति ग्रहण कर ली है, आपका हो गया हूँ, आपका हो जाने पर भी यदि मुझे ये नारकीय यातनाएँ सहनी पड़ें तो यह आपके अनुरूप नहीं होगा।"

इसी भाव को गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' में व्यक्त किया है—

जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी ।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अंतरजामी ।।
तैं उदार, मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत, श्रुति गावै ।
बहुत नात रघुनाथ! तोहि मोहि, अब न तजे बनि आवै ।। (११३)

एक अन्य पद में वे कहते हैं—

मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम, करहु प्रभाउ तुम्हारो ।
यह सामरथ अछत मोहिं त्यागहु, नाथ तहाँ कछु चारो ।।
नाहिन नरक परत मोकहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो ।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो ।। (९४)

अभिप्राय यह कि जो विविध-विध नारकीय यातनाएँ सहते रहे हैं, उनसे विमुक्त होने के लिए केवल भगवत्-शरणागति ही एकमात्र उपाय है। दुःख किसी को प्रिय नहीं, सह्य नहीं। दुःखद स्थिति में भी जीवन को सुरक्षित रखने की लालसा में कारण केवल भविष्य में सुखप्राप्ति की आशा की एक झीनी-सी किरण ही हुआ करती है। बुद्धिमत्ता इसमें नहीं कि उस आशा के सहारे सदैव अमित यातनाओं के शिकार होते रहें। विवेकशीलता इसी में है कि देखे हुए, जाने हुए, भोगे हुए संसार से विरत हो, सुने हुए प्रभु में दृढ़ आस्था करें और हृदय से स्वीकार करें कि हे प्रभो! मैं तेरा हूँ। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि सुने हुए परमात्मा को पाने के लिए आस्थायुक्त प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? ऐसे लोगों को यह विचार करना चाहिए कि जिन भोग-पदार्थों को, जिन सुख-साधनों को प्राप्त करने के लिए वे रात-दिन लगे हैं, वे भी तो अभी अज्ञात हैं, वे भी तो केवल सुने हुए ही हैं। यदि यह कहा जाए कि वे उसके लिए भले अज्ञात हों, भले सुने हुए हों, किन्तु उन्हें प्राप्त करने वाले, जानने और भोगने वाले अनेक लोग संसार में देखे जा सकते हैं, तो क्या उस सुने हुए ज्ञात परमात्मा को जानने वाले, देखने वाले, प्राप्त करने वाले महापुरुषों के जीवन, उसकी सत्ता में प्रमाण नहीं? ऐसे एक नहीं, अनेक महापुरुषों का जीवन हमारे लिए पर्याप्त प्रमाण है। भारत में ही अनेक ऋषि, आचार्य, सन्त, महापुरुष नहीं, अन्य देशों में भी मौसेस, ईसा, मुहम्मद, जरदुस्थ, शेख सादी, मंसूर, लावोत्से तुंग, कन्फ्युशियस, इमर्सन, शोपेनहार, हेगेल, कांट, थोरियो आदि ऐसे अनेक महापुरुषों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिनका जीवन उस परमतत्त्व की महिमा का गान करते हुए धन्य हो चुका है। वर्तमान के वैज्ञानिकों में भी आइन्सटाइन-ऐसे अनेक वैज्ञानिक हो गए हैं जो अज्ञात की महिमा का गान करते हुए स्वयं को कृतकृत्य बना चुके हैं। क्या ये असंख्य उदाहरण उस अज्ञात की उपस्थिति के प्रमाण में पर्याप्त नहीं हैं? कहने का अभिप्राय है कि जिस प्रकार से अप्राप्त संसार के सुख-साधनों को प्राप्त करने के लिए पूरी तत्परता के साथ

प्रयत्न में प्रवृत्त होते हैं और यह जानते हुए भी कि उनके प्राप्त हो जाने पर इस दुःखार्णव संसार-समुद्र से पार नहीं हो पाएँगे, फिर भी रात-दिन उसमें लगे रहते हैं, उसी प्रकार तत्परता और निष्ठा के साथ अप्राप्त परमात्मा की प्राप्ति के लिए सर्वभाव से सदैव साधन में प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसे प्राप्त करने के पश्चात् फिर कुछ प्राप्त करना, उसे जानने के पश्चात् कुछ जानना, उसे देखने के पश्चात् कुछ देखना शेष नहीं रह जाएगा, क्योंकि श्रुति कहती है कि सर्वत्र सर्वरूप में वही विद्यमान है। उस परमतत्त्व का ज्ञाता, द्रष्टा मोह और शोक से सदा के लिए मुक्त हो जाता है—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

आसक्ति ही बन्धन का कारण है, जो कि अविद्याजन्य अज्ञान से उत्पन्न होती है। तत्त्व- विज्ञान के प्रकाश में अविद्या का अवसान हो जाने पर मोहासक्ति तथा उससे उत्पन्न शोक का सदा के लिए अन्त हो जाता है, वही मनुष्य का ज्ञातव्य है, प्राप्तव्य है।

वेदान्त इस विराट् विश्व को आनन्दसिन्धु की उत्ताल तरंग के रूप में ही देखता है। उसकी दृष्टि में यह विश्व दुःखालय नहीं, सच्चिदानन्द की ही अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार से समुद्र में असंख्य तरंगें उठा करती हैं और समुद्र में स्थित रहते हुए उसी में विलीन हो जाती हैं—तत्त्वतः उन तरंगों में जल के सिवा और कुछ नहीं होता, उसी प्रकार से सच्चिदानन्द सिन्धु में जो तरंगें उठ रही हैं उन्हीं का नाम सृष्टि और जगत् है। इस सृष्टि में आनन्द के सिवा और कुछ नहीं है, क्योंकि आनन्द से ही इसका आविर्भाव होता है, आनन्द में स्थिति है और अन्त में आनन्द में ही इसका लय हो जाएगा। तैत्तिरीय की श्रुति कहती है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

(तैत्तिरीय० ३।६)

"आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा भृगु ने निश्चयपूर्वक जाना, क्योंकि निश्चय ही आनन्द से ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं और इस लोक से ही प्रयाण करते हुए आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।" श्रुति की यह घोषणा अर्थवाद नहीं, यथार्थ सत्य का उद्घाटन करती है। इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टि आनन्दमय है, आनन्द के सहारे ही टिकी है, आनन्द में ही इसका विलय होगा। यहाँ जो असत्, अचित् और दुःख की, मृत्यु, अज्ञान और व्यथा की प्रतीति होती है यह हमारी अल्पज्ञता का ही परिणाम है। जैसे एक अबोध बच्चा समुद्र की महत्ता को नहीं जानता, वह केवल लहरों को ही देखता रहता है, लहरें जब उठती हैं तो उनकी सुन्दरता को देखकर प्रसन्न हो जाता है और जब वे विलीन हो जाती हैं तो वह मायूस हो जाता है, उसी प्रकार से इस सृष्टि के यथार्थ को न जानने वाला इसके आविर्भाव में सुखी

और तिरोभाव में दु:खी होता है। इस रहस्य को समझाते हुए भगवान् ने कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। (गीता २।२८)

"यह सम्पूर्ण प्राणी-जगत् बीजरूप से अव्यक्त में स्थित है, उसी से इनका आविर्भाव हुआ है। अन्त में पुनः उस अव्यक्त में ही विलीन हो जायेंगे, इसलिए इनके लिए संतप्त क्या होना?" यह बात सत्य है कि जिस प्रकार लहरों की सुन्दरता में अनुरक्त व्यक्ति समुद्र की अगाधता को नहीं जान पाता, उसी प्रकार केवल नाम-रूप में अनुरक्त होने वाला व्यक्ति उसके कारणरूप में स्थित अस्ति, भाति, प्रिय वा सत्त्-चित्-आनन्द-रूप उस परमतत्त्व को नहीं जान पाता।

इससे आप लोग समझ गए होंगे कि ब्रह्मविद्या-विज्ञान जगत् को मिथ्या, भ्रान्ति वा दु:खमय नहीं, सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति बताता है और इस यथार्थ की अनुभूति कर लेने पर मनुष्य में शोक और मोह के लिए स्थान कहाँ? जैसा कि मैंने पहले भी आप लोगों को बताया है कि वैदिक साहित्य में हमें यह कहीं भी पढ़ने को नहीं मिला कि यह जगत् मिथ्या है, दु:खरूप है, नरक है; इस जगत् को वह प्रभु से प्रकट हुआ विराट् घोषित करता है और यह अनन्त ब्रह्माण्ड उस विराट् के ही अंग-प्रत्यंग हैं। यह हमारी पृथ्वी, हमारा सौर्यमण्डल भी उस विराट् के ही अंगरूप में स्थित है। वेदान्त ब्रह्म की इस विराट् रूप में अभिव्यक्ति को केवल लीलामात्र ही बताता है—"**लीलावत्तुकैवल्यम्**"। जैसे यह प्रश्न करना कि समुद्र में उत्ताल तरंगें क्यों उठती हैं, असंगत एवं निरर्थक है, उसी प्रकार से ब्रह्म से इस नामरूपात्मक जगत् का आविर्भाव क्यों होता है, यह प्रश्न सर्वथा असंगत और निरर्थक है। सच्चिदानन्द रूप परमात्मा का उल्लास ही यह नाम-रूपात्मक जगत् है। इसके प्रत्येक कण में कारण रूप से वही विद्यमान है—ऐसा जानते, समझते और अनुभव करते हुए सदैव के लिए शोक और मोह से विमुक्त हो जाओ, यही वेदान्त की सीख है। वेद की इस घोषणा को इस मन्त्र के द्वारा सदैव मनन और चिन्तन करते रहो—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

यह याद रखो—सुने हुए अज्ञात प्रभु में अडिग आस्था, श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय-संयम ही इस महानतम अनुभूति में मुख्य साधन है। यदि तुम्हें अपनी साधना पर विश्वास नहीं, अपनी योग्यता और सामर्थ्य पर भरोसा नहीं तो अधीर होकर उस प्रभु को पुकारो। वे अवश्य ही अपनी करुणा से तुम्हें बुद्धियोग प्रदान करेंगे जिससे तुम उन्हें यथार्थ रूप से जानकर उन्हीं में विलीन हो जाओगे। भगवान् ने स्वयं आश्वासन देते हुए कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। (गीता १०।१०)

गोस्वामी जी विनय-पत्रिका में प्रभु से प्रार्थना करते हुए उनकी इस प्रतिज्ञा को स्मरण कराते हुए कहते हैं—

सुक-सनकादि प्रहलाद-नारदादि कहैं,
रामकी भगति बड़ी बिरति-निरत ।
जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ! पगनि परत । (वि०प० २५१)

यही बात मानस में भी उन्होंने कही है—

सोइ जानइ जेहि देउ जनाई । जानत तुमहि तुमहि होइ जाई ।

प्रभु जिसे जना दें वह उनके यथार्थ स्वरूप को जान पाता है और उन्हें जानकर वही हो जाता है। श्रुति की घोषणा है—"**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**"। गीता में भगवान् ने भी इस सत्य की घोषणा की है—

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः । (गीता ५।२०)

स्थितप्रज्ञ, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में ही सदैव स्थित है। प्रभु का एक नाम भक्तवत्सल है जिसका अर्थ होता है वत्स के समान भक्त को प्यार करने वाला। वत्स का अर्थ होता है नवजात शिशु। जैसे गाय अपने बच्छे को चाटकर निर्मल बना देती है, उसी प्रकार से प्रभु अपनी शरण में आए हुए जीवों को अपनी करुणा से निर्मल बना देते हैं। जैसे गाय बच्छे की आवाज़ को सुनकर अधीर हो, उसकी सँभाल के लिए दौड़ पड़ती है, वैसे ही प्रभु अपने शरणागत की पुकार सुनकर अधीर हो, उसकी सँभाल के लिए दौड़ पड़ते हैं। करुणानिधान शरणागत-वत्सल भगवान् की अनन्य भाव से शरणागति स्वीकार कर अपनी दीनता, हीनता, लघुता, अल्पज्ञता और असमर्थता को ध्यान में रखते हुए अधीर हो प्रभु को पुकारो! विश्वास रखो, भक्तवत्सल प्रभु अपनी करुणा से तुम्हें निर्मल बनाकर विशुद्ध बुद्धि प्रदान करेंगे जिसके द्वारा तुम उनकी सत्ता और महत्ता को प्रत्येक प्राणी और पदार्थ में अनुभव कर, जानकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाओगे। भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। (गीता १४।२)

"इस ज्ञान को धारण कर, मेरे धर्म को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते।" अभिप्राय यह कि वे जन्म-मृत्यु के चक्कर से सदा के लिए विमुक्त हो जाते हैं। ईशोपनिषद् का सातवाँ मन्त्र इसी सत्य की घोषणा करते हुए कहता है—तत्त्वद्रष्टा विज्ञानवान् की दृष्टि में परमात्मा के सिवा अन्य कुछ भी नहीं होता। उस अद्वैत-द्रष्टा के लिए मोह कहाँ और शोक कहाँ? शोक-मोह से विमुक्त होने के लिए उपनिषद् के इस मन्त्र का सदैव मनन, चिन्तन

एवं अनुसन्धान करते रहना चाहिए, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता की सिद्धि है।

इन मन्त्रों से हमें यह प्रेरणा मिलती है कि जो प्रभु कण-कण में बसा हुआ है, सर्वव्यापी है, अचल है, एक है, सबका कारण, सबका ज्ञाता है, मन से भी अधिक वेगवान् है, सभी को परिव्याप्त कर सबसे आगे स्थित है, जो समस्त दौड़ने वालों को बैठा हुआ ही अतिक्रमण कर जाता है, जिसकी सत्ता से प्राणशक्ति, जीवनीशक्ति इस समस्त विश्व को प्राणन-क्रिया तथा जीवन प्रदान करती है, उस परब्रह्म परमात्मा की शरण होकर, उसकी उपासना, आराधना करते हुए, अपने समस्त क्रिया-कलाप को उसकी अर्चना के रूप में सम्पादित करते हुए, आत्मनिवेदन के साथ सर्वभाव से उसी में समर्पित हो जाएँ, लीन हो जाएँ, तन्मय हो जाएँ, यही ब्राह्मी स्थिति है, यही ब्रह्मानुभूति है। शरीरान्त के पश्चात् इसी से ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। यही ब्रह्मविद्या का विवेच्य विषय है, यही ब्रह्मविद्या का प्रयोज्य है, यही समस्त साधनों का साध्य है।

अपने सीमित अहं को, आधि-व्याधियुक्त इस जीवन को पूर्णरूपेण उसे समर्पित कर देने में ही जीवन की सार्थकता है, इसी में कृतकृत्यता है, यही वेद का आदेश है, यही शास्त्र का उपदेश है, यही सन्त पुरुषों का सन्देश है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

आज की व्याख्या अब यहीं विश्राम पाती है। इससे अगले मन्त्र की व्याख्या कल की जाएगी।

हरि ॐ तत्सत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

सम्पर्क सूत्र

1. ब्रह्मर्षि आश्रम
   विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
   फोनः 01733/65070
2. ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
   गऊशाला रोड, लुध्याना (पंजाब)
   फोन 0161/405565
3. ब्रह्मर्षि योगाश्रम
   28-बी, पंचशील गार्डन, शाहदरा
   दिल्ली-32
4. ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
   (अंग्रेजी मीडियम)
   बेअन्त पुरा, चण्डीगढ़ रोड,
   लुध्याना (पंजाब)
   फोन 0161/62406
5. ब्रह्मर्षि अनुसंधान पीठ
   ए-13, गृहनिर्माण मण्डल,
   शहडोल, (म.प्र.)
6. श्री गीता रामायण सेवा संघ
   अशोक नगर, मोक्ष मार्ग,
   उदयपुर (राजस्थान)
7. Brahmarishi Ashram
   114, Hammond Road
   Southall, Midd-x.U.K.
   Phone : 081-571-3879
8. Brahmrishi Ashram Hindu Temple
   448 Lancaster Street
   West Kitchener, Ontario
   CANADA-N2H4V9
   Ph. 519-579-1486
9. Brahamrishi Ashram
   717 Loosduinsweg
   2571 AM Denhaag
   NEDERLANDS
   Ph : 070-3620961
10. Brahamrishi Ashram
    1246, North Mantua Street,
    Kent, Ohio-44240, U.S.A.
    Ph: 216-678-3793
11. Metaphysical Science
    Research Institute
    Sector 19-A CHANDIGARH
    Ph: 0172/31111
12. St. Bawara Mission School
    Dev Van, Piplage
    Bhuntar, Kullu (H.P.)

हमारे प्रकाशन

1. मानस महाकाव्य में नारी
2. गीता तत्त्व बोध
3. मानस के मोती
4. जीवन विज्ञान
5. भारत की आत्मा
6. सहज समाधि भली
10. योग पथ
11. क्या वर्ण-व्यवस्था अभिशाप है ?
12. ब्रह्मविद्या विज्ञान-प्रथम
13. ब्रह्मविद्या विज्ञान-द्वितीय
14. तत्त्व चिन्तन
15. सन्त सन्देश
16. शिक्षा पद्धति
17. गीतोक्त बुद्धियोग
18. काव्य सुधा
19. श्री शिव शतक
20. Yoga for Life
21. The Hindu & its way of life
22. How to be a Yogi
23. Towards Divinity
24. Essence of the Gita
25. श्री चण्डिका शतक
26. श्री हनुमत हृदय
27. श्री हनुमत विनय पच्चिसी
28. गीता ज्ञान विज्ञान योग
29. आपकी अपनी बात
30. योगाकुँर
31. साधना सूत्र
32. गीता-कर्म विज्ञान
33. समाधान

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका 'दिव्यालोक'। अधिक से अधिक संख्या में इसकी सदस्यता ग्रहण करके संस्था के साथ सहयोग करें।

वार्षिक मूल्य 40.00 रुपये
आजीवन सदस्यता 500.00
सम्पर्क सूत्र—ब्रह्मविद्या योग शोध संस्थान
19-A, चण्डीगढ़
फोन 0172-31111

ॐ

।। श्रीपरमात्मने नमः।।

ईशावास्योपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

सच्चिदानंदघन परब्रह्म सब प्रकार से परिपूर्ण है। यह जगत् भी पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।१।।

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वर से परिव्याप्त है। ईश्वर द्वारा दिए हुए का त्याग पूर्वक भोग करो। गृध मत बनो, विचार करो, यह धन किसका है?

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।२।।

इस जगत् में शास्त्र निर्धारित कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार किये जाने वाले कर्म तुझ मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे भिन्न कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो सके।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।

असुरों की प्रसिद्ध विभिन्न प्रकार की योनियां तथा जो दुःख रूप लोक हैं, वे सभी अन्धकार से, अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्महत्यारे हैं, वे मरकर उन्हीं अन्धकारमय लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।

वह परमेश्वर अचल, एक और मन से अधिक तीव्र गतियुक्त है। सबके आदि ज्ञानस्वरूप परमेश्वर को देवता भी नहीं पा सके। वे दूसरे दौड़ने वालों को, स्थिर रहते हुए भी अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही मातरिश्वा जीवनी शक्ति का सम्पादन करने में समर्थ होता है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।

वह चलता है, वह नहीं चलता। वह दूर से भी दूर है, वह अत्यन्त समीप है, वह इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर परिपूर्ण है और बाहर भी।

यस्तु सर्वाणि भूतान्त्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेशु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।।

परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही निरन्तर देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखता है, उसके पश्चात् वह कभी किसी से घृणा नहीं करता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।।

जिस अवस्था में पूर्णप्रज्ञ, तत्त्वज्ञ विज्ञानी महापुरुष के लिए सम्पूर्ण प्राणी जगत् आत्मा ही हो गया है, उस अवस्था में एकत्व का निरन्तर साक्षात् करने वाले तत्त्वद्रष्टा के लिए कौन सा मोह और कौन सा शोक?

स पयगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो
ऽर्थान् व्यदधाच्छश्वतीभ्यः समाभ्यः।।८।।

वह सर्वव्यापक है, वह देहरहित, स्नायुरहित, व्रणरहित, शुद्ध, निश्पाप, तेजस्वी, द्रष्टा, ज्ञाता, मन का स्वामी, सर्वविजयी और स्वयंभू है। उसने योग्य रीति से अनादि काल से अर्थों की व्यवस्था की है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।।९।।

जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में रत हैं, वे तो उनसे भी अधिक अन्धकार में जाते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।१०।।

वह विद्या से अन्य कहा गया है, अविद्या से भी वह अन्य कहा गया है; ऐसा धीर पुरुषों से मैंने सुना है, जिन्होंने हमें उस परमतत्त्व का भलीभांति अवबोधन कराया है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।११।।

विद्या और अविद्या, इन दोनों के साथ जो उस परमात्म तत्त्व को जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा अमृतत्त्व का उपभोग करता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव तमो य उ सम्भूत्याँ रताः।।१२।।

जो मनुष्य असम्भूति की उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश पाते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।

इसे सम्भव से अन्य ही कहा है, असम्भव से अन्य कहा है, इस प्रकार धीर पुरुषों से सुने हैं, जिन्होंने हमें उसका विशेष रूप से साक्षात् अवबोधन कराया है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।१४।।

जो सम्भूति और विनाश, इन दोनों के सहित उसे जानता है, वह विनाश के द्वारा मृत्यु को पार कर सम्भूति के द्वारा अमृत को प्राप्त करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

सुवर्णमय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे विश्व का पोषण करने वाले प्रभु! मुझ सत्यधर्मा के लिए, सत्य के बोध की अभिलाषा वाले के लिए, उस आवरण को तू हटा ले।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजा-
पत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।।

हे पोषण करने वाले, हे ज्ञानस्वरूप द्रष्टा, हे सबके नियन्ता, हे परमप्रकाशक, ज्ञानियों के परम लक्ष्य, हे प्रजापति के प्रिय! आप इन रश्मियों को एकत्र कीजिए, इस तेज को समेट लीजिए। जो आप का अतिशय कल्याणमय रूप है, उस रूप को मैं देख रहा हूँ। जो वह पुरुष है, वही मैं हूँ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर।।१७।।

हे प्रभो ! अब यह प्राणवायु अविनाशी अमृत, अपार्थिव सच्चिदानंद में तथा यह शरीर अग्नि में भस्मरूप को प्राप्त हो जाए। हे सर्वरक्षक प्रभो! आप मुझे स्मरण करें, मेरे किये हुए को स्मरण करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम। ।१८।।

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! हमें परमानन्द रूप परमधन को प्राप्त करने के लिए सुन्दर मार्ग से ले चलिये। हे देव ! आप ही सम्पूर्ण कर्मों के ज्ञाता हैं, हमारे सम्पूर्ण कुटिल पापों को दूर कर दीजिए। आपको बार-बार नमस्कारमय वचन कहते हैं, बार-बार आपको नमन करते हैं।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः ॐ शान्ति ॐ शान्तिः
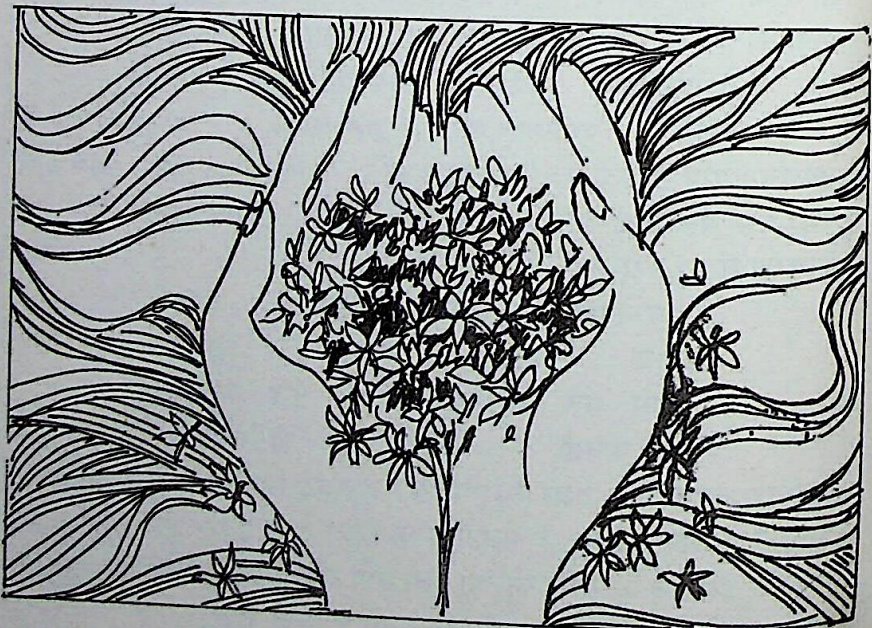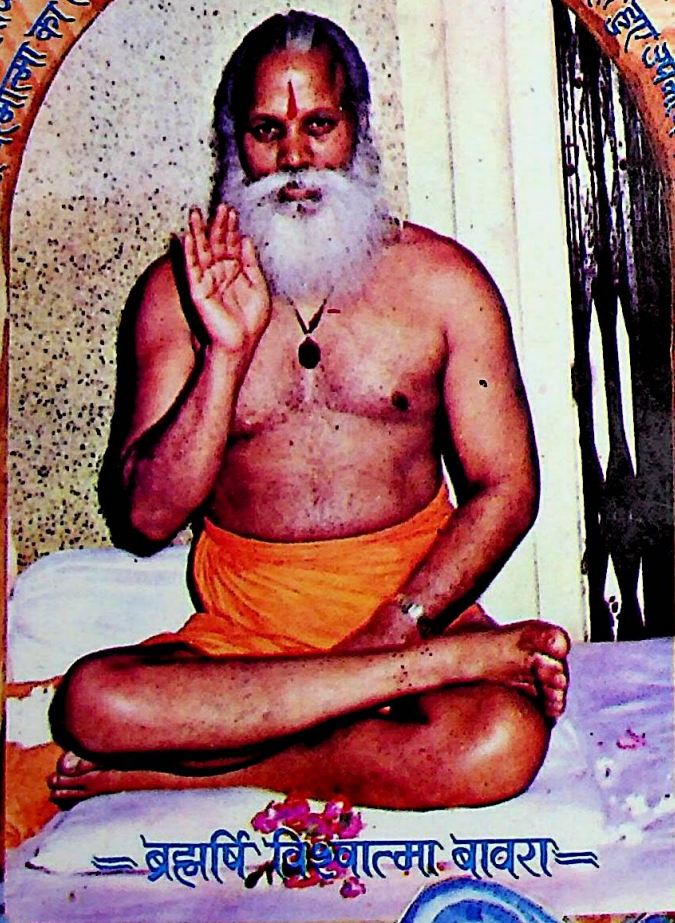
"..इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतनात्मक जगत है, यह समस्त ईश्वर से
उस परमात्मा का स्मरण करते हुए प्राप्त भोगों को उसको समर्पित करते हुए
ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा
दिव्यालोक प्रकाशन